सम्यक समाधि

आत्मिक सफर की कहानी

सर्वाधिकार सुरक्षित
मई 2006

डा0 हरिओम

राधास्वामी सत्संग ताराधाम
कुरूक्षेत्र (हरियाणा)

पुस्तक सूची

क्र.	पुस्तक	मूल्य (रूपये)
1.	सतगुरू ताराचन्द जी महाराज के 101 अनमोल रत्न	
2.	रूहानी पत्र व सतगुरू आदेश	
3.	आत्मिक सफर और रूहानी मंजिलें (प्रश्नोतरी)	
4.	संत अवतरण	
5.	ईसा मसीह कौन है?	
6.	पुरूष-प्रकृति	

सम्पर्क सूत्र:
नरेन्द्र सिंह सिन्धू पुत्र श्री देवेन्द्र सिंह सिन्धू
110/4, प्रेम नगर, खाण्डेवाला चौक, हिसार
मो.: 9896122220

विषय - वस्तु

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
	प्राकथन	1
1.	विभिन्न धर्म व दर्शनों में आन्तरिक ज्ञान का स्वरूप	5
2.	अभ्यास का अर्थ व लक्ष्य	68
3.	अभ्यास के अंग	73
4.	अभ्यास में आसन की स्थिरता	82
5.	अभ्यास के लिए उचित नियम	87
6.	अभ्यास में स्थान का महत्त्व	93
7.	अभ्यास की अट्ठारह मंजिलें	96
	(क) आज्ञा चक्र	117
	(ख) सहस्रार	140
	(ग) त्रिकुटी	160
	(घ) सुन्न मण्डल	175
	(ड़) महासुन्न	199
	(च) भंवर गुफा	207
	(छ) सतलोक	221
	(ज) अलख लोक	240
	(झ) अगम लोक व निज-स्वरूप की प्राप्ति	255
8.	अभ्यास करने के लाभ	285
9.	अभ्यास के लिए आवश्यकताएं	311
10.	अभ्यास में विघ्न	328
11.	अभ्यास में सतगुरू के साकार रूप का महत्त्व	343
12.	अभ्यास में प्रेम मार्ग व ज्ञान मार्ग का महत्त्व	369
	अनुक्रमणिका (Index)	391
	पुस्तक सूची	

राधास्वामी।

राधास्वामी दयाल की दया राधास्वामी सहाय।।

राधास्वामी।

समर्पित

राधास्वामी दयाल परम् संत

सद्गुरू ताराचन्द जी महाराज

के चरण कमलों में।

प्राकथन

प्रस्तुत संकलन कोई पुस्तक लिखने के लिए नहीं किया गया है बल्कि बिखरे हुए अनुभव को एक जगह एकत्रित करने के विचार से किया गया है। इसमें राधास्वामी योग, जिसे सुरत-शब्द योग भी कहा जाता है, में ध्यान-अभ्यास और अभ्यास के दौरान रास्ते में आने वाली मंजिलों के बारे में वर्णन किया गया है। राधास्वामी योग पूर्ण योग है और पूर्ण रास्ते का भेद खोलता है। जब किसी भी पुरूष के अन्दर परमात्मा की ताकत का उच्चतम अनुभव खुलता है तो वह अनुभव शताब्दियों तक सांसारिक जीवों के लिए जीवन शक्ति प्रदान करता रहता है। ऐसे पूर्ण योग में संसार के किसी न किसी कोने में एक के बाद दूसरे शरीर में परमात्मा की पूर्ण धार उतरती रहती है और धुरधाम की ताकत लम्बे समय तक हमारे बीच में सजीव स्रोत बनकर लगातार बहती रहती है। पूर्ण के पास ही पूर्ण आया करता है। साधारणतया अधूरे के पास पूर्ण की स्वीकृति नहीं होती है। यदि अधूरे के पास पूर्ण आ भी जाता है तो वह उसे संभाल नहीं पाता है क्योंकि पूर्ण पुरूष के अन्दर प्रेम की ऐसी धार बहती है जो किसी भी सीमा या बंधनों को तोड़कर बहने लगती है तथा अपने स्वभाव में आने लगती है। सीमा या बंधनों को तोड़ने का अर्थ यह नहीं है कि यह मर्यादाहीन हो जाती है बल्कि ऊंची मर्यादा व व्यवस्था को स्थापित करती है।

यह वह रास्ता नहीं है जहां यह कहा जाता है कि गुरू अपने अंत समय में किसी को भी यह पूंजी दे देता है और उसके साथ ही दूसरा मनुष्य जिसे यह पूंजी दी जाती है कुछ ही क्षणों में उसी आंतरिक ज्ञान का अधिकारी बन जाता है। सुरत-शब्द योग में सतगुरू अपने रहते हुए किसी अधिकारी जीव को आंतरिक मंजिलों की यात्रा पूरी करवाता है तभी जाकर वह इस पूंजी का अधिकारी बन पाता है। यह इतना आसान

कार्य नहीं है या एक पल में होने वाला कार्य नहीं है। इसे पूरा करने के लिए नियमबद्ध तरीके से अभ्यास करना पड़ता है। विरह की अग्नि में जलना पड़ता है। जिससे इस शारीरिक, प्राणिक और मानसिक चेतना में उपस्थित मैल जल कर राख हो जाता है तभी जाकर वह रूहानियत के खजाने की चाबी पाने का अधिकारी बन पाता है।

आत्मिक अनुभव के लिए ध्यान-अभ्यास एकमात्र सशक्त माध्यम है। अत: प्रस्तुत संकलन में पहले छ: अध्याय अभ्यास की साधारण जानकारी के लिए लिखे गये हैं ताकि अगले अध्याय सरलता से समझ में आ सकें। सातवें अध्याय में अभ्यास की 18 मंजिलों का वर्णन किया गया है। अगले अध्यायों में भी अभ्यास की बारीकियों को खोला गया है जिनके बारे में जानना अति आवश्यक है ताकि सम्यक समाधि की तरफ आत्मा (सुरत) की यात्रा सुगम हो सके। साथ-2 अभ्यास की किसी भी अवस्था से संबन्धित रचना के रहस्यों को भी खोलने की कोशिश की गई है। आज्ञाचक्र जिसे (तीसरी आंख, दिव्य चक्षु या रूद्र नेत्र) और सच्चखण्ड का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है क्योंकि आज्ञाचक्र पर सारे स्थूल जगत की गुत्थी उलझी हुई है, यही रिद्धि-सिद्धियों का केन्द्र है और सच्चखण्ड महाचैतन्य का मण्डल है जहां संतों के उच्चतम अनुभव का रहस्य छिपा हुआ है। मुख्य धार्मिक दर्शनों तथा राधास्वामी योग के आन्तरिक अनुभव का तुलनात्मक विश्लेषण ''अभ्यास की 18 मंजिलें'' अध्याय में किया गया है ताकि जिज्ञासु स्वयं अभ्यास की सच्चाई पर उतर कर इसे अनुभव कर सकें।

मैं कोई लेखक नहीं हूं और न ही किसी लेखन कला से परिचित हूं। हाँ इतना अवश्य है कि यह लेखन कार्य सतगुरू की अखण्ड यौगिक चेतना में रहते हुए किया गया है। जब अभ्यास की मंजिलों का वर्णन किया जा रहा था और पुस्तक समाप्ति की तरफ जा रही थी तब लेखन की दिशा आत्मा की असीम गहराइयों में उतर गई थी। आन्तरिक प्रकाश

और उच्चतम दर्जे का अनहद नाद अन्तर में एक चेतन माला के मणियों की तरह दिन-रात लगातार बहने लगा था जिससे शरीर प्रकाशवत हो गया था और मुझे ऐसा महसूस होने लगा था कि यह संकलन पैन की स्याही से नहीं बल्कि खून से लिखा जा रहा है। सतगुरू की अपार दया, मेहर और आशीर्वाद से यह कार्य पूरा हुआ। वास्तविकता यह है कि इस संकलन के लेखक वे स्वयं ही हैं क्योंकि उनकी प्रेरणा और उनके मार्ग-दर्शन में प्राप्त की गई व तराशी गई चेतना के कारण ही ये उंगलियां इस योग्य हो पाई हैं कि ध्यान के बारे में दो शब्द लिख सकें। यह मेरा सौभाग्य है कि इसके लिए उन्होंने मुझे एक यंत्र बनाकर प्रयोग किया। मैं यह विश्वास के साथ कह सकता हूं कि सतगुरू की सहायता के बिना ध्यान की केवल बाहरी झलक प्राप्त की जा सकती है उसकी अन्तरतम गहराइयों में झांकना संभव नहीं है क्योंकि व्यक्ति का सूक्ष्म अहंकार सतगुरू के सामने सिर झुकाने से ही टूट सकता है।

इस पुस्तक के पूरा करने में मेरी पत्नी और आध्यात्मिक सहयोगी बिमल का अवर्णनीय सहयोग रहा है। समय-2 पर उनके आध्यात्मिक अनुभव व विचार विमर्श से इस पुस्तक की सामग्री में गुणात्मक वृद्धि हुई है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाये तो ध्यान की जिस ऊंचाई को उन्होंने आत्मसात किया है वह मुझे नहीं प्राप्त हो सकी है। यहां पर सतगुरू दया की एक अद्‌भुत घटना घटी है जो सम्भवत: संसार की अद्वितीय और अपूर्व घटना प्रतीत होती है। मेरा और बिमल का ध्यान आरम्भ से ही एक लयबद्ध तरीके से आगे बढ़ा है। एक को यदि किसी अवस्था का कोई नया अनुभव सुबह से होने लगा तो दूसरे की शाम को या अगले दिन उसी अनुभव में रसाई हो गई। केवल एक बार ऐसा हुआ जब सहस्रार का ध्यान होने के बाद मेरे सामने अंधकार की लय अवस्था आ गई जो मेरे लिए बहुत ही असहनीय और दु:ख भरी थी। इससे पहले हम दोनों हर रोज छह से आठ घंटे का ध्यान करते थे। ध्यान का यह

ठहराव मुझे बेचैन कर रहा था। इसके बाद जब मैं सतगुरू के पास गया तो मेरे विरह के आंसू फूट गये। उन्होंने मुझे सीने से लगाया और इसका कारण पूछा तो मैं उनके सीने से लगकर खुब रोया जिसमें आंसुओं की धारा अविरल होकर बह निकली। मुझे अफसोस था कि बिमल का ध्यान अगली मंजिल पर चढ़ गया जबकि मैं पीछे रह गया। उन्होंने मुझे दो थप्पड़ मारे और आशीर्वाद देते हुए कहा कि मैं हमेशा तेरे साथ हूं, तू एक्सप्रैस गाड़ी में बैठा है, कभी भी पीछे मुड़कर नहीं देखना। ऐसा ही हुआ, उस दिन से लेकर आज 19 साल बाद तक मेरे सतगुरू का नूरी और नादी स्वरूप हम दोनों से एक पल के लिए भी जुदा नहीं हुआ है। इस घटना का यहां वर्णन करने का इतना मकसद है कि यदि शिष्य में तड़फ है, सतगुरू से प्यार है तो सतगुरू की धार भी दया सिन्धु से तुरन्त जारी हो जाती है।

हमें अहसास है कि ध्यान-भजन करने वाले व्यक्ति के अन्दर ध्यान से संबंधित सामग्री को ढूंढ़ने और पढ़ने के लिए कितनी तड़फ रहती है। यह पुस्तक ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति करेगी। इसलिए हम सतगुरू से प्रार्थना करते हैं कि जिस यौगिक चेतना की स्याही में डूबोकर उन्होंने यह लेखन कार्य किया है उससे जिज्ञासू पाठक और साधक भी लाभान्वित हों।

बिमल प्रकाश

अध्याय-1

विभिन्न धर्म व दर्शनों में आन्तरिक ज्ञान का स्वरूप

जब से मनुष्य पृथ्वी पर आया है तथा बुद्धि का विकास हुआ है तभी से वह अपने अन्तर में झांकने की कोशिश कर रहा है। यह इसलिए है कि मानव सब वस्तुओं व व्यवस्थाओं से अधिक अपने आप को ही अपने नजदीक पाता है क्योंकि वह अपने अन्दर उठ रहे भावों तथा हर हलचल में पूरी तरह से भागीदार होता है। फिर भी उसके कारण (Reason) तक पहुंच पाना उसके लिए सरल नहीं रहा है। अत: उसके लिए अपने आपको और इस रचना को समझना सदा ही रहस्य और उत्सुकता का विषय रहा है। कभी आस्तिकता का जोर आता है तो कभी-2 नास्तिकता का विचार भी अपने पांव जमाने की कोशिश में संघर्षशील रहता है। समय-समय पर महापुरूष आते हैं और अपने अनुभव के आधार पर दुनियां का रूख मोड़ने की कोशिश करते हैं तथा अपने सिद्धांतों को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। कुछ महापुरूष ऐसे भी आते हैं जो दूसरों के अनुभव को आधार बनाकर उसी के ऊपर नई इमारत का निर्माण करते हैं और हर अनुभव को अपने अनुभव का हिस्सा बनाकर एक सांझी व्यवस्था की स्थापना करते हैं। वह व्यवस्था कुछ समय तक काम करती है लेकिन परिवर्तनशीलता और विकास का नियम समय के साथ हर नई व्यवस्था को पुरानी व्यवस्था बना देता है या उस व्यवस्था और अनुभव के असली स्वरूप को समझने व समझाने वाला कोई व्यक्ति नहीं रहता है लेकिन फिर भी हर व्यवस्था के केन्द्र में एक नियम ऐसा भी है जो अपरिवर्तनशील है, पूर्ण है और सारे परिवर्तन का आधार है। यह नियम हर जगह समान रूप से कार्य करता रहता है। हम जाने-अनजाने उस सनातन नियम का पालन हर समय करते रहते हैं। उसी नियम की धड़कन के आधार पर सारे विश्व

और ब्रह्माण्ड का कार्य चल रहा है। इस नियम को हर कोई अपनी ही बुद्धि के अनुसार समझने की कोशिश करता रहता है और उसी के अनुसार इसे अपनी बुद्धि का यंत्र बनाकर इसमें कांट-छांट करके नयी व्यवस्था की स्थापना करके चला जाता है। इसी आधार पर वह एक नियम अनेक धर्म-सम्प्रदायों व मार्गों में बंट जाता है और उस नियम तक पहुंचने के रास्ते भी भिन्न-2 हो जाते हैं।

सृष्टि का विकास अनेकता का विकास है। भिन्नता और अनेकता प्रकृति की आवश्यकता है और नियामत भी। वही एक नियम हर वस्तु या व्यवस्था के केन्द्र में पूर्ण रूप से कार्य कर रहा है लेकिन प्रकृति की अनेकता तक आते-2 उसकी आत्मिक धार स्थूल से स्थूल होती चली गई और प्रकृति में रहते-2 उस एकता व अखण्डता की धार तक पहुंच पाना एक दुर्लभ कार्य बन कर रह गया है । ये तो हर कोई जानता है कि एकता में अनेकता का बीज समाया रहता है और अनेकता में एकता की अभिव्यक्ति पायी जाती है। समुन्द्र में बूंद-2 का अस्तित्व समाया रहता है और बूंद-2 में समुन्द्र का अनुभव। अनेकता के इस विशाल मैदान में हमें बूंद को पकड़कर समुन्द्र के गुणों तक पहुंचना है। आत्मा रूपी किरण को पकड़कर परमात्मा रूपी सूर्य का अनुभव प्राप्त करना है और उसके मध्य में व्याप्त चेतनघन को जानना है। सूर्य के ऊपरी हिस्से पर इतने भारी विस्फोट हो रहे हैं कि यदि पृथ्वी और सूर्य के बीच में एक शून्य मण्डल न हो तो हमारे कान उस विस्फोट को सुनकर फट जाएं।हर लहर या हलचल का आधार उसके अस्तित्व की गहराई में व्याप्त अगति या शान्ति की अवस्था होती है। समुन्द्र की ऊपरी या बाहरी हलचल जहां से पानी बादल बनकर उठता है वह पृथ्वी के जीवन में शक्ति का संचार करता है और मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताओं अर्थात् अन्न और जल की पूर्ति करता है। समुन्द्र की इसी बाहरी स्तह से तूफान और ज्वार-भाटे उठा करते हैं जो अभिशाप बनकर मानव जाति

को प्रलय की अग्नि में डूबो देते हैं। ऊर्जा का यही वह स्तर है जहां जीवन और मृत्यु या सुख और दु:ख का अनुभव छिपा रहता है लेकिन इस स्तह या बाहरी हलचल का आधार कहां है? समुन्द्र की गहराई या अन्तरतम शान्त अवस्था जो बाहर की ताकत अर्थात् बाहरी हलचल का आधार है और बाहरी हलचल का हिस्सा होकर भी उससे अलग है। इसी प्रकार हवा के शुद्ध स्वरूप का आधार ऊपर आकाश में है जहां पर इसकी गति में विराम आ जाता है लेकिन पृथ्वी के सम्पर्क स्थान पर आकर उसमें बाहरी हलचल बढ़ जाती है जिससे आंधी और तूफान आते हैं। इसी आधार पर सूर्य के बाहरी स्तर पर असंख्य नाभिकीय विस्फोट होते रहते हैं लेकिन इसके मध्य में या गहराई में एक असीम शान्ति का होना अनिवार्य है।

इस शरीर में वह स्थान आत्मा का है जो इसकी कोशिकाओं के केन्द्र में बहने वाली सामुहिक ताकत है जिसकी स्तह पर मन तरंगित होकर हिलोरें मारता रहता है और इन्द्रियों को आत्मिक धार द्वारा जीवित रखकर इन्हें जीवन का सुख प्रदान करता रहता है। हर वस्तु या कण के मध्य में एक ऐसी ताकत का होना आवश्यक है जो उसकी बाहरी हलचल को पैदा करती है, उसमें गति का संचार करती है तथा उसकी गति का नियम के अनुसार संचालन भी करती है। जहां भी गति है वहीं पर शब्द का होना, सुख-दु:ख का घटना-बढ़ना, अच्छाई-बुराई और मुक्ति-बंधन का विचार पैदा होना स्वाभाविक है। हलचल वहीं पैदा होती है जहां दो का भाव या द्वैतवाद रहता है। एकता के अन्दर कोई हलचल नहीं होती है, कोई विस्फोट नहीं होता है। एकता में आनन्द है। दूसरे का या दूसरी वस्तु का ख्याल आते ही जीवन का संघर्ष आरम्भ हो जाता है। यही होता है समुन्द्र की ऊपरी स्तह पर या हवा की निचली स्तह पर या सूर्य की ऊपरी स्तर पर जहां नाभिकीय विघटन-संघटन की प्रक्रिया लाखों-करोड़ों वर्षों से लगातार चल रही है। स्तह पर जितनी अधिक

हलचल होगी, मध्य में या गहराई में उतनी ही अधिक ताकत अपनी एकता के साथ विराजमान रहेगी और जहां एकता रहेगी वहां शान्ति और आनन्द का अनुभव भी अवश्य होगा। इसलिए हमें यह नियम स्वीकार करना होगा कि सूर्य के मध्य में भी अग्नि की एक ऐसी शक्ति है जो शांत है तथा विस्फोटक नहीं है बल्कि विस्फोट उसके कारण हैं। यह विज्ञान के लिए खोज का विषय हो सकता है। जिस तरह से समुन्द्र ऊपरी लहर नहीं है बल्कि लहर समुन्द्र की गहराई के कारण है, सूर्य किरण नहीं है बल्कि किरणें सूर्य के कारण हैं। इसी प्रकार आत्मा मन नहीं है बल्कि मन आत्मा के कारण है। यही है वह नियम जो हर वस्तु, अस्तित्व या व्यवस्था के मध्य में रहता हुआ अपरिवर्तनशील है, अनाशवान है और एक स्तर पर जाकर यही संतों का अलख, अगम और अनामी पुरूष है। इसी आधार पर अखण्ड अद्वैत में रहते हुए द्वैतवाद, त्रिपुटीवाद और सहस्रवाद की सत्यता को भी राधास्वामी पंथ निर्भीक होकर स्वीकार करता है और इस दृष्यमान जगत को एक स्वप्न या भ्रम का नाम नहीं देता है।

यह नियम एकता का नियम है जो अनेकता नहीं है बल्कि अनेकता पैदा करने का कारण है। इसी अनेकता से एकता की खोज परमात्मा तक पहुंचाती है। इसी एकता को ढूंढ़ने की प्रक्रिया ने विभिन्न धर्म व सम्प्रदाय खड़े कर दिए हैं। जो भी इस रास्ते पर चला और जहां तक का रास्ता तय किया वहीं तक का वर्णन किया और एक नयी व्यवस्था की नींव रख दी गई। इस अनेकता से एकता तक पहुंचने में अनेक ऊर्जा और शक्ति की दिवारें या मण्डल बीच में पड़ते हैं। वेदों से लेकर आज तक लगभग सभी धर्म व दर्शन जिन्हें आन्तरिक अवस्था का थोड़ा सा भी अनुभव है यह स्वीकार करते हैं कि इस स्थूल शरीर या स्थूल रचना के छ: स्थूल चक्र हैं जिन पर चेतना की विशेष शक्ति मण्डल बना कर काम करती है। इन्हीं छ: चक्रों के आधार पर शरीर की छ: प्रणालियां

कार्य कर रही हैं। जिनके नाम नाड़ी प्रणाली या नाड़ी मण्डल (Nervous System), श्वास प्रणाली (Respiratory System), रक्तवहनी प्रणाली (Circulatory System), पाचन प्रणाली (Digestive System), प्रजनन प्रणाली (Reproductive) और मल-निष्कासन प्रणाली (Excretory System) हैं। सबसे ऊपर नाड़ी प्रणाली मस्तिष्क से निकलती है इसलिए धर्म ग्रन्थों ने दोनों आंखों के बीच में आत्मा व मन का स्थान आज्ञा चक्र कहा है। विज्ञान की भाषा में इस केन्द्र को हाइपोथैलेमस कहा जाता है। पीनिअल ग्रन्थि जो एक रहस्यमयी ग्रन्थी है वह भी इसी स्थान पर स्थित है। सबसे नीचे मल-निष्कासन प्रणाली है जो मैल को शरीर से बाहर निकलने का काम करती है जिसे धार्मिक जगत में मूलाधार चक्र या गुदा चक्र कहा जाता है। बाकि चार चक्र बीच की चार प्रणालियों का कार्य संचालित करते हैं। इस प्रकार ये छः चक्र स्थूल ताकत के छः मण्डल हैं जिन्हें पार करके ही आज्ञा चक्र पर जाकर आत्मा का विश्व स्वरूप और सृष्टि का विराट स्वरूप दृष्टिगोचर हो सकता है।

छः स्थूल (पिण्ड) चक्रों का वर्णन तो हर कोई करता है, यह भी स्वीकार किया जाता है कि स्थूल रचना अपने सूक्ष्म और कारण रूप में भी मौजूद है लेकिन इन स्थूल चक्रों के छः सूक्ष्म और छः ही कारण चक्रों का वर्णन कही नहीं मिलता है। मोटे तौर पर यदि ताकत के छः स्तर स्थूल हैं तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि स्थूल ताकत को पैदा करने वाली सूक्ष्म व कारण ताकत के भी छः-छः स्तर अवश्य ही होने चाहिए। लगभग सभी दर्शन व धर्म केवल आज्ञा चक्र के प्रकाश मण्डल और उससे ऊपर अंधकार से व्याप्त शून्य मण्डल पर आकर आत्मा तथा परमात्मा की उच्चतम अवस्था की घोषणा कर देते हैं। सुरत-शब्द योग के अलावा केवल श्री अरविन्द का मार्ग ओंकार पुरूष का वर्णन करता है जो इस योग के अनुसार नीचे से नौंवा मण्डल

अर्थात् सूक्ष्म ताकत या ब्रह्मण्ड का तीसरा मण्डल है। सुरत-शब्द योग या राधास्वामी योग के मार्ग की सभी 18 मंजिलों या मण्डलों का वर्णन इस पुस्तक में खोलकर किया गया है। इन्हीं 18 मण्डलों में सुरत (आत्मा) और रचना की विभिन्न अवस्थाओं का भेद छिपा हुआ है।

मनुष्य का शरीर परमात्मा की सबसे उत्तम और सुन्दर सजीव पुस्तक है। इस पुस्तक को पढ़ने से सारे भ्रम व रहस्य अपने आप ही खुलते जाते हैं। कोई भी अस्तित्व अपना कारण अपने अन्दर समेटे रहता है। यही सत्य इस शरीर पर भी लागू होता है। स्पष्ट है कि इस रचना की सर्वोत्तम आकृति होने के कारण मनुष्य के शरीर में इस रचना की सार्वभौम व सर्वोच्च सत्ता की झलक भी अवश्य ही होनी चाहिए। हर वस्तु या अस्तित्व अपना भेद तभी खोलता है जब उसकी गहराईयों को बेपर्दा किया जाए। उसकी अन्तरतम गहराई में बैठी उस अस्तित्व को संचालित करने वाली ताकत के साथ एकमएक होकर उसकी कार्य प्रणाली में शामिल होकर उसका निरीक्षण किया जाए। इस कार्य के लिए सबसे पहले इस शरीर, प्राण और बुद्धि को बनाने वाली और संचालित करने वाली ताकत या ऊर्जा के साथ एकता स्थापित करनी पड़ेगी। इन तीनों में बुद्धि सबसे सूक्ष्म है इसलिए बुद्धि का स्थान ही इनके कारण तक पहुंचने के लिए उपयुक्त भूमि है। इसी स्थान पर ठहरकर बुद्धि की गति को भी रोककर विचार शून्य करना पड़ेगा। जिस तरह से बुद्धि की विवेकशक्ति और ज्ञानशक्ति को जानने व बढ़ाने के लिए शरीर, इन्द्रियों व जीवन की गति पर नियंत्रण करना आवश्यक है इसी तरह आत्मिक ताकत का साक्षात्कार करने के लिए बुद्धि की विचार करने की शक्ति को भी गतिहीन करना होगा। एक का संकल्प टूटेगा तो यह आवश्यक है कि दूसरे स्तर के संकल्प को पैदा करने वाली शक्ति को उस खाली स्थान को भरने के लिए आना पड़ेगा। यदि ऊपर की आत्मिक ताकत को अपने अन्दर उतारने का

संकल्प है तो नीचे की शरीर, मन आदि की सारी व्यवस्था को भूलना पड़ता है और यदि नीचे की ताकत (इन्द्रियादि) को भोगने का संकल्प है तो ऊपर की निश्चयात्मक बुद्धि, विवेक व आत्मा की व्यवस्था को भूलना आवश्यक है। यह एक साधारण सी बात है। इसलिए आत्मिक अनुभव के लिए बौद्धिक चेतना को भी संकल्पहीन करना पड़ेगा तभी आत्मिक सुख व आनन्द की तरफ कदम रखा जा सकता है। आत्मा ताकत की एकाग्रता का नाम है और इन्द्रियां उसी ताकत का बिखराव हैं। अतः एक का अनुभव करने के लिए दूसरे का संकल्प छोड़ना आवश्यक है। ऐसा करते हुए हमें हर स्तर या व्यवस्था का अनुभव संचित करते हुए आगे बढ़ना है और श्रेष्ठ अनुभव को अपने अन्दर उतारने के लिए वर्तमान अनुभव को आधार बनाना है। इसीलिए पतञ्जली मुनी ने अष्टांग योग में धारणा, ध्यान और समाधि का प्रावधान किया है जिससे इन्द्रियों में बिखरी हुई वृति को एकाग्र किया जाता है और प्रकृति के मूल स्वरूप तक पहुंचकर पुरूष (आत्मा) के असली स्वरूप का निश्चय करके कैवल्यपद की प्राप्ति होती है। इसी आत्मिक अवस्था का अनुभव करते हुए भिन्न-2 धर्म व सम्प्रदाय बनते चले गए। जिसने जो देखा और अनुभव किया उसी का अपनी समझ के अनुसार वर्णन किया। अतः ध्यान-अभ्यास पर लिखी गई इस पुस्तक के आरम्भ में विभिन्न धर्म व दर्शनों में आन्तरिक अनुभव की उच्चतम अवस्था का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

1. वैदिक दर्शन :

वेदों में देवताओं की महिमा और उपासना का काफी वर्णन किया गया है जैसे इन्द्र, सूर्य, वरूण, अग्नि, यम, प्रजापति आदि। इनसे जगह-2 सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति की प्रार्थना की गई है लेकिन इनसे अलग एक सर्वोच्च पूर्ण स्वामी का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है जो इन सभी में एक आत्मा के रूप में व्याप्त है। उसी एक सत्ता

के ये अलग-2 नाम हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश में इन सभी देवों को एक ईश्वर के ही गुण कहकर वर्णन किया है। अलग-2 वेदों में उस एक कर्ता को हिरण्यगर्भ, पुरूष या विराट कहकर पुकारा गया है जो पृथ्वी लोक, द्युलोक और अंतरिक्ष को धारण कर रहा है। वह प्रकाशवान है। उसे ही अग्निदेव, इन्द्रदेव या सूर्य आदि कह कर पुकारा गया है। जिस देवता का वर्णन किया गया है उसी के अन्दर सभी गुणों की कल्पना की गई है। यजुर्वेद में कहा गया है :

तद् एव अग्निः तद् आदित्यः तद् वायुः तद् उ चन्द्रमा।
तद् एव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् आपः स प्रजापतिः।।

अर्थात् वही एक अग्नि के रूप में विद्यमान है, वही सूर्य है, वही वायु और वही चन्द्रमा है, वही शुक्र, वही हर जगह व्याप्त ब्रह्म है, वही प्रजा का स्वामी प्रजापति है।

ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ सुक्त में उस एक परम्सत्ता को हिरण्यगर्भ अर्थात् सोने की तरह चमकने वाला सुनहरी अण्डा कहा गया है।

हिरण्यगर्भः समवर्तत्त अग्रे भूतस्य जातः पतिः एकः आसीत।
सः दाधार पृथिवीं उतद्यां कस्मै देवाय हविषा विद्येम्।।

जब सृष्टि प्रारम्भ हुई तब सब भूत जात का एक स्वामी हिरण्यगर्भ था। उसी के सहारे द्युलोक और पृथ्वीलोक टिके हुए थे। ऐसी शक्तिशाली दैवीय सत्ता को हम समर्पित हैं। आन्तरिक चक्रों का वर्णन करते हुए अथर्ववेद में एक मंत्र में कहा गया है कि ''आठ चक्रों और नौ द्वारों से युक्त हमारी यह देहपुरी एक अपराजेय देवनगरी है। इसमें एक हिरण्मय कोष है जो ज्योति और आनन्द से परिपूर्ण है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।

सामवेद में कहा गया है:

अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः इन्द्रोज्योतिः ज्योतिरिन्द्रः।

सूर्योज्योतिः ज्योतिः सूर्य।।

अर्थात् अग्नि ज्योतिस्वरूप प्रभु है, ज्योतिस्वरूप प्रभु ही अग्नि है। इन्द्र भी ज्योतिस्वरूप है, ज्योतिस्वरूप प्रभु ही इन्द्र है। सूर्य ज्योतिस्वरूप प्रभु है, ज्योतिस्वरूप प्रभु ही सूर्य है।

यजुर्वेद के पुरूष-सुक्त में कहा गया है:

तस्मात् विराट अजायत, विराजः अधिः पुरूषः।

सः जातः अति अरिच्यत, पश्चात् भूमि अथो पुरः।।

इससे पहले श्लोक में कहा गया है कि परम् पुरूष का एक चौथाई हिस्सा सृष्टि बनाने में लगा। इस श्लोक में कहा गया है कि उस एक चौथाई सामर्थ्य से विराट उत्पन्न हुआ, उसके ऊपर वही पुरूष (तीन-चौथाई में) विराजमान था। फिर वह अलग-2 स्वरूपों में बंट गया और बाद में पृथ्वी उन्पन्न हुई। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि कर्ता पहले (पुरः) था।

कहने का अभिप्राय यही है कि आदि में एक परम्सत्ता थी जिसे ब्रह्म, विराट, पुरूष, हिरण्यगर्भ आदि नामों से पुकारा गया है। उसे ही ज्योतिस्वरूप परमात्मा तथा नेति-नेति कह कर वर्णन किया गया है। वेदों को श्रुति भी कहा गया है अर्थात् घट के अन्दर गूंज रही रूहानी आवाज को सुनकर वेदों का निर्माण हुआ है, इसी कारण वेदों को ईश्वर की कृति या अपौरूषेय कहा गया है। वेदों में फल भोगने वाली जीवात्मा और निष्क्रिय दृष्टा आत्मा में भेद दर्शाया गया है लेकिन सर्वोच्च अवस्था में आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। जब वामवेद ऋषि को आन्तरिक ज्ञान की प्राप्ति हुई तो उसे हर तरफ अपनी ही आत्मा की विशालता का अनुभव हुआ और वह चिल्लाने लगा-अहम् मनुरभवं सूर्यश्चाहम् अर्थात् मैं मनू हूं और मैं ही सूर्य हूं।

2. उपनिषद् दर्शनः

उपनिषदों में वेदों से ऊंची व स्पष्ट अवस्था का वर्णन

मिलता है। ब्रह्म को मन व बुद्धि से ऊपर का विषय कहा गया है। उपनिषद् का अर्थ है निकट बैठना। आध्यात्मिक विद्या गुप्त विद्या समझी जाती थी जिसे केवल गुरू के निकट बैठकर ही प्राप्त किया जा सकता था। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि जब नारद सनत्कुमार के पास आत्मविद्या सीखने के लिए गया तो सनत्कुमार ने नारद से पूछा वह क्या-2 जानता है? नारद ने कहा-मैं वेद, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष, नक्षत्र आदि समस्त विद्याएं जानता हूं लेकिन मुझे आत्मज्ञान नहीं है जिससे मैं भवसागर से पार जा सकूं। परा और अपराविद्या का वर्णन भी उपनिष्दों में किया गया है। उपनिषद् में ब्रह्म और आत्मा की एकता सिद्ध की गई है।

तद् ब्रह्म स आत्मा (तैतिरीय उपनिषद्), अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उपनिषद्), तत्वमसि (छान्दोग्य उपनिषद्), अंह ब्रह्मास्मि (बृहदारण्यक उपनिषद्), प्रज्ञानं ब्रह्म आदि वाक्यों से आत्मा और ब्रह्म की एकरूपता स्थापित की गई है।

माण्डूक्य उपनिषद् में चेतना की चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है - जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। उपनिषद् ने आन्तरिक ज्ञान के लिए अन्तर्मुखी दृष्टि का अत्यधिक महत्त्व बताया है। आत्मज्ञान व ब्रह्मज्ञान को ही केन्द्र में रखा गया है। इनमें ब्रह्म व आत्मा के प्रकाशवान स्वरूप के साथ नाद् या शब्द की महत्ता को भी स्वीकार किया गया है। परमात्मा को अक्षर आत्मा, अक्षर ब्रह्म, शब्द ब्रह्म, ब्रह्म प्रणव, नाद्, उद्गीत आदि नामों से संबोधित किया गया है। इतना होने के बावजूद रास्ते के अनुभव को काफी हद तक गुप्त रखा गया है। ब्रह्म, आत्मा व मुक्ति की बड़ाई की गई है लेकिन अभ्यास का क्रमवार विवरण बहुत कम किया गया है। आन्तरिक अनुभव की कुछ झलक श्वेताश्वतर उपनिषद् में दिखाई गई है और कहा गया है- आत्मिक ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व योगी के सामने सूर्य, अग्नि, वायु, विद्युत, स्फटिक, चन्द्रमा ,

कुहरा, धुंआ, जुगनु आदि दिखाई पड़ते हैं, ये सब साधना की सफलता के लक्षण हैं। फिर कहा गया है-देह का हल्का होना, आरोग्य, रंग की उज्जवलता, स्वरमीठा, श्रेष्ठ गंध, मल-मूत्र की कमी आदि अनुभव होते हैं। उपनिषद् यहां के प्रकाश का वर्णन करते हुए कहता है कि जैसे सोना मिट्टी लिपटाने से मैला हो जाता है (मृदयोलिप्तम् सुधांतम्) और अभ्यास की रगड़ से फिर दमकने लगता है वैसे ही आत्मा दीपक के समान प्रकाशमय मुक्त तत्व के दर्शन करती है और सब बन्धनों से मुक्त हो जाती है।

उपनिषदों में शब्द या अक्षर आत्मा के स्वरूप का वर्णन भी किया गया है। कठोपनिषद में कहा गया है- यह शब्द ब्रह्म है। इस शब्द का अभिप्राय सबसे ऊंचा है। जो इस शब्द को जानता है अपने मन की कामनाओं को पूरी करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय 4 खण्ड 3- इसको जानकर ज्ञानी ब्रह्म का विचार करते हैं। वह बहुत से शब्दों का ध्यान न करें क्योंकि शब्द परेशान करते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय 4 खण्ड 3 - वह जो इसको जानता है, इस (ओ३म्) अक्षर की स्तुति करता है और अमृत होकर अक्षर को प्राप्त होकर देवता हो जाता है।

नादबिन्दू उपनिषद्-ऋगवेदी में कहा गया है:

(1) योगी सिद्ध आसन पर बैठकर वैष्णवी मुद्रा का अभ्यास करता हुआ दाहिने कान से अन्तरीय शब्द सुने। (29)

(2) इस प्रकार शब्द का अभ्यास करने से वह बाह्य शब्दों से बहरा बन जाएगा। इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर वह केवल 15 दिन में तुरिय अवस्था को प्राप्त करेगा। (30)

3. पहले उसको समुंद्र, बादल, बाढ़ और भेरी के शब्द सुनाई देंगे। बीच में घंटा और शंख सुनेगा। (32)

4. जब तक शब्द है तब तक आकाशी ध्यान है। अशब्द के पश्चात् ब्रह्म है। (44-45)

5. जब तक शब्द है तब तक मन है। शब्द के बंद होते ही उन्मुनि अवस्था आएगी। (45-46)

6. वह अक्षर में समाएगा। यह अशब्द की शब्द अन्तिम अवस्था है।

7. इसके बाद वह शंख या ढ़ोल का शब्द नहीं सुनता। (50-51)

8. नाद और बिन्दू बहुत हैं। वह ब्रह्म प्रणव में लय हो जाता है। (48-49)

9. जैसे मक्खी शहद चूसती है वैसे ही वह शब्द में लीन हो जाता है और इसका चित्त निश्चल बन जाता है।

हठयोग शास्त्र 'हठयोगप्रदीपिका' के चौथे अध्याय (4/68-80) में शब्द और ध्वनियों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है- ''सबसे पहले समुन्द्र या मेघ जैसी क्वणक ध्वनि सुनाई देती है। उसके बाद जब विष्णु ग्रन्थी खुलती है तो घंटी और फिर भेरी की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इसके बाद महाशुन्य आ जाता है और वहां मृदल व ढ़ोल की ध्वनि सुनाई देती है और जब रूद्रग्रन्थि का भेदन होता है तो मिश्रित शब्दों वाली वीणा व भ्रमर गीत का नि:स्पन (बिना ध्वनि का) शब्द सुनाई देता है।''

अत: शब्द और ज्योति की महिमा का वर्णन उपनिषदों के साथ-2 हठयोग और तांत्रिक शास्त्रों में भी किया गया है।

3. सांख्य दर्शन :

सांख्य दर्शन जो कपिल मुनि द्वारा दिया गया है, पुरूष की अनेकता को स्वीकार करता है। इनके एक श्लोक के आधार पर इन्हें नास्तिक की संज्ञा दी गई है जो इस प्रकार है: ईश्वरसिद्धे:। (साख्यसूत्र 1/92), इसका अर्थ है ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध है अर्थात् सिद्ध नहीं

होता लेकिन दूसरे विद्वानों ने इसकी व्याख्या दूसरी तरह से की है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के सातवें समुल्लास में इसका इस तरह से वर्णन किया है।

ईश्वरसिद्धेः ।।1।। (सा0 सू0 1/92), प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ।। 2।। (सा0 सू0 5/10) सम्बन्धाभाषान्नानुमानस ।। 3।। (सा0 सू0 5/11) अर्थात् ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ।।1।। दूसरे सूत्र में कहा है - क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं तो अनुमान आदि प्रमाण नहीं घट सकते ।।2।। तीसरे में कहा है- और व्याप्ति संबंध न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता। पुनः प्रत्यक्षानुमान के न होने से शब्द प्रमाण आदि भी नहीं घट सकते। इस कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ।।3।।

कहने का अभिप्राय यह है कि सांख्य के अनुसार हम ईश्वर को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है, इन्द्रियातीत है। ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं जिसके आधार पर ईश्वर को सिद्ध किया जा सके। बुद्धि या योग के आधार पर हम केवल प्रकृति के विकारों का साक्षात्कार कर सकते हैं, मूल प्रकृति का भी नहीं, फिर ईश्वर का तो इस रचना से कोई संबंध ही नहीं है। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द किसी भी प्रमाण से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। मूल प्रकृति सदैव अव्यक्त अवस्था में रहती है जहां सत्त्व, रजस् और तमस् समान अवस्था में रहते हैं जिसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। सांख्यसूत्र में कहा गया है:

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

अर्थात् सत्त्व, रजस् और तसम् गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। यही प्रकृति रचना का कारण है और विवेक ज्ञान जागृत होने पर कारण का अभाव होने से कार्य भी समाप्त हो जाता है और प्रकृति की विकास क्रिया अपने आप ही रूक जाती है। बुद्धि में ज्ञान भाव आ

जाता है जिसका परिणाम विवेकख्यातिप्राप्ति है। इसके लगातार अभ्यास से पुरूष को 25 प्रकृति का ज्ञान हो जाता है और वह अपने विशुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है तथा प्रकृति भी पुरूष को उसके बंधन का ज्ञान कराकर अपने ही स्वरूप में समा जाती है। यही पुरूष की मुक्ति है। सांख्य दर्शन में पुरूष और प्रकृति को अनादि कहा गया है। प्रकृति जड़ है, पुरूष की समीपता से वह चेतन लगती है। प्रकृति पुरूष की मुक्ति में सहायता करती है और प्रकृति में लिप्त पुरूषों को उनके स्वरूप में स्थित कराकर अपने रूप में विलीन हो जाती है और फिर दूसरे पुरूषों की मुक्ति के लिए कार्य करने लगती है। ऐसा ज्ञान होने पर पुरूष आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध दुःखों से निवृत हो जाता है तथा कारण का अभाव होने से कर्म बीज जल जाते हैं लेकिन प्रारब्ध के संस्कारों की वजह से यह शरीर रहता है। अंत में यह शरीर भी छूट जाता है तब पुरूष सदा के लिए कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। सांख्य दर्शन के तीसरे अध्याय में सृष्टि के एक ही कर्ता का वर्णन किया गया है- स हि सर्ववित् सर्वकर्ता (13/561) अर्थात् वही सर्वज्ञ और सबका कर्ता है लेकिन पहले श्लोक के आधार पर कुछ लोगों ने कपिल मुनि पर अनिश्वरवादी होने का दोष लगाया।

फिर भी कुछ अध्यात्मवेता कपिल आचार्य के सांख्य दर्शन में एक ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करते हैं। वे कहते हैं कि सांख्य अनेक पुरूषों के अस्तित्व को स्वीकार करता है, सृष्टि के एक कर्ता ईश्वर का इसमें कोई प्रावधान नहीं हैं क्योंकि यदि इस सृष्टि को बनाने में कोई ईश्वर या एक पुरूष लगा हुआ है तो वह स्वार्थी है तथा वह भी बंधन व मुक्ति में होना चाहिए और इच्छायुक्त होने के कारण उसकी पूर्णता पर प्रश्नचिन्ह लगता है। इसलिए सांख्यदर्शन में ईश्वर के प्रावधान की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वामी विवेकानन्द के प्रवचनों पर आधारित पुस्तक,'' The Complete works of Swami Vivekananda''

भाग एक अध्याय 'The Vedanta Philosophy' में सांख्यदर्शन के पुरूष के बारे में कहा गया है - Sankhya believes that there are many souls whereas Vedanta believes that there in One soul, which appears as many. According to Sankhya, this universe does not require any explanation from outside.

अर्थात् सांख्य कहता है कि बहुत सारी आत्माएं होती हैं जबकि वेदान्त केवल एक आत्मा को मानता है जो हमें अनेक आत्माओं के रूप में भासती है (जिस तरह एक ही सूर्य लाखों ओस की बूंदो में नजर आता है।) सांख्य के अनुसार इस ब्रह्माण्ड को चलाने के लिए किसी बाहरी व्यवस्था या व्याख्या की जरूरत नहीं है।

4. योग दर्शन :

योग दर्शन का आधार पतंजली मुनि कृत योग सूत्र है। योग दर्शन सांख्य दर्शन को अपने अन्दर समाहित कर एक कदम आगे तक जाता है। सांख्य यदि योग का आधार है तो योग दर्शन उसकी उन्नत अवस्था है। सांख्य दर्शन प्रकृति के विकारों का बौद्धिक स्तर पर निश्चय करता है जबकि योग दर्शन इनका साक्षात्कार करने के लिए चित्तभूमि का प्रयोग करता है जहां मन व इन्द्रियों की सारी वृतियां लहरों के रूप में तरंगित होती रहती हैं और पुरूष उनके वास्तविक स्वरूप को देखकर प्रकृति व पुरूष के संबंध को जान लेता है। इसके लिए अष्टांगिक मार्ग का प्रावधान किया गया है जिसमें अंतिम तीन आंतरिक अंग हैं, बाकी सभी बाहरी हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग हैं तथा धारणा, ध्यान और समाधि अंतरिय अंग हैं। धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा जब मन की बिखरी हुई वृति एकाग्र होने लगती है तो वही चित्त के सत्व गुण के प्रकाश में उसके ऊपर बहने लग जाती है। चित्त भी सांख्य की बुद्धि की तरह जड़ माना

गया है लेकिन पुरूष की निकटता के कारण वह प्रकाशित हो उठता है और पुरूष चित्त भूमि पर प्रकृति के रहस्य को प्रत्यक्ष कर लेता है लेकिन इसमें भावी जीवन के बीज विद्यमान रहते हैं। ऐसा ज्ञान उदय होने से योगी विवेकख्याति प्राप्त कर लेता है। यही सबीज या सम्प्रज्ञात समाधि है। इस समाधि में चित्त का साक्षात्कार हो जाता है लेकिन इस ज्ञान को भी योग दर्शन में बुद्धि का सत्वगुण माना गया है। जब वैराग्य की सर्वोच्च अवस्था आ जाती है तो योगी के अन्दर विवेकख्याति से भी विरक्ति आ जाती है और निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति हो जाती है। लगातार अभ्यास से जब यह अवस्था स्थिर हो जाती है तो कैवल्य पद की प्राप्ति होती है।

कुछ शास्त्रों में इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है- पुरूष के प्रकाश से चित्त प्रकाशित होता है, उस प्रकाश में मन या चित्त की वृति प्रकाशित होकर बहने लगती है अर्थात् प्रकाश का प्रकट होना सबीज या सम्प्रज्ञात समाधि है लेकिन जब चित्त के ऊपर कोई भी वृति नहीं रहती (सर्ववृतिनिरोध), तब प्रकृति की अंधकारमय मूल अवस्था का अनुमान द्वारा ज्ञान होता है क्योंकि प्रकृति की मूल अवस्था में प्रकाश नहीं है। सत्व, रजस्, व तमस् साम्य अवस्था में होने के कारण यहां प्रकाश नहीं है। योगी की लय अवस्था आ जाती है, यही निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति है। इसमें विवेक ज्ञान भी समाप्त होकर निर्विचार अवस्था आ जाती है और पुरूष अपने ही शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव में स्थित हो जाता है तथा प्रकृति अपने स्वरूप में विलीन हो जाती है। योग-दर्शन में पुरूष के साथ ईश्वर को विशेष पुरूष के नाम से संबोधित किया गया है। क्लेशकर्म विपाकाशयैश्परामृष्टः पुरूषविशेषःईश्वरः।। (पा.योग सूत्र 24)।। अर्थात् क्लेश, कर्मों के फल और वासनाओं से असंबंध, अन्य पुरूषों से विशेष चेतन ईश्वर है।

5. स्वामी दयानन्द कृत आर्य समाज:

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा चलाया गया आर्य मत त्रैतवाद के सिद्धांत को मानता है। यह सब वैदिक दर्शनों के समन्वय के साथ सांख्य-योग पर आधारित है। स्वामी जी पतंजली योग सूत्र को योग का मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थ मानते थे और इसी को परमात्मा की प्राप्ति का साधन बतलाते थे। इस मत के अनुसार ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि व नित्य हैं। ईश्वर और जीव का संबंध व्यापक और व्याप्य कहकर दर्शया गया है। जीव तथा ईश्वर के गुणों के बारे में सप्तम समुल्लास में कहा गया है - दोनों चेतनस्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सबको नियम में रखना, जीवों को पाप-पुन्य का फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन आदि अच्छे-बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्यज्ञान, आनन्द, अनन्त बल आदि गुण हैं और जीव के इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु:ख, ज्ञान, मन अन्तरविकार आदि। ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं। जीव कर्म करने में स्वतंत्र है लेकिन ईश्वर के विधान के अनुसार कर्मफल पाने व भोगने में परतंत्र है। ईश्वर स्वतंत्र है और सक्रिय है। उसने जीवों के कल्याणार्थ इस जगत की रचना की है।

अष्टम् समुल्लास में कहा गया है कि प्रकृति जगत का उपादान कारण है। प्रकृति, परमाणु जिसको सब संसार बनाने की सामग्री कहते हैं, वह जड़ होने से अपने आप न बन और न बिगड़ सकती है किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है। कहीं-2 जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है। परन्तु इनका नियमपूर्वक बनना व बिगड़ना परमेश्वर और जीव के आधीन है। सांख्य और योग की तरह ही स्वामी जी भी ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं, उसके स्वरूप का ज्ञान केवल अनुमान से ही किया जा सकता है। जीव ईश्वर का रूप

धारण नहीं कर सकता है। जीव सीमित है और ईश्वर असीमित गुणों का स्वामी है।

6. न्याय-वैशेषिक दर्शन :

वैशेषिक दर्शन कणाद ऋषि का दिया हुआ है जब कि गौतम मुनि का न्याय दर्शन वैशेषिक दर्शन की ही विस्तृत व्याख्या है। इनके अनुसार मन और समस्त विषय आदि अणु व परमाणुओं के संयोग से बने हैं इसलिए किसी भी समय किसी एक विषय का ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। एक ही समय में आत्मा एक से अधिक विषयों के साथ संयोग नहीं कर सकती है। प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों और इन्द्रियों का वस्तु से संयोग होना आवश्यक है। जो वस्तु इस समय विराजमान नहीं है, उसके साथ संयोग नहीं किया जा सकता। अत: उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होना संभव नहीं है लेकिन योगी एक ही समय में योगाभ्यास द्वारा कई पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रत्यक्ष कर सकता है। आन्तरिक द्रव्यों का प्रत्यक्ष केवल मन के द्वारा ही सम्भव है जैसे सुख-दु:ख आदि का। लौकिक पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय का ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) के साथ जो संबंध स्थापित होता है उसे सन्निकर्ष कहा जाता है। अलौकिक प्रत्यक्ष लौकिक सन्निकर्ष से नहीं होता है, यह अलौकिक सन्निकर्ष से ही उत्पन्न होता है। योगियों के अन्दर योगाभ्यास से एक विशेष शक्ति पैदा होती है जिसके द्वारा वे भूत, भविष्यत, दूरस्थ, सूक्ष्म या परोक्ष पदार्थों का साक्षात ज्ञान कर सकते हैं।

योगीप्रत्यक्ष को सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि दो भागों में बांटा गया है। जब मन और इच्छायुक्त आत्मा का योग होता है तो उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि में किसी विशेष प्रयत्न से यह योग नहीं किया जाता बल्कि स्वत: ही हो जाता है जिससे संस्कार सहित अविद्या का नाश हो जाता है। इस दर्शन में जो ज्ञान तर्क

की कसौटी पर खरा उतरता है वही सत्य होता है। न्याय शास्त्र का उद्देश्य हर विषय की तर्क बुद्धि द्वारा आलोचना और छानबीन अर्थात् न्याय करना है। अत: यह दर्शन आत्मा के व्यावहारिक ज्ञान से वंचित रह जाता है और ईश्वर को केवल तर्क युक्ति पर खरा उतरने वाली शाश्वत सत्ता का नाम दिया गया है। मोह और अज्ञान को आत्मा के बंधन का कारण माना जाता है। निवृति अलौकिक ज्ञान प्राप्ति का मुख्य साधन है। यह ज्ञान पुस्तकों या वेदों के अध्ययन से प्राप्त नहीं हो सकता है, यद्यपि आरम्भ में इनका सहारा लिया जा सकता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए केवल ध्यान और योगाभ्यास ही सार्थक साधन माने गए हैं। सांख्य और योग दर्शन न्याय-वैशेषिक से अधिक क्रियात्मक दर्शन हैं।

7. मीमांसा (पूर्व मीमांसा) दर्शन :

मीमांसक कहते हैं कि ऐसा कोई ज्ञान संभव नहीं है जो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष न किया जा सके। उसी पदार्थ के विषय में मनुष्य जान सकता है जो इन्द्रियों के सम्पर्क में आता है, इन्द्रियाँ मन के सम्पर्क में और मन आत्मा के सम्पर्क में आता है और इस तरह पुरूष को पदार्थ या विषय का ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान न्याय-वैशेषिक की तरह का ही है। कोई भी मनुष्य किसी ऐसे विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता जो भूत, भविष्य या दुरस्थ पदार्थों से संबंध रखता हो अर्थात् जो हमारी इन्द्रियों के सम्पर्क में नही आता है। इन्द्रियों से परे का ज्ञान या आत्मिक या अलौकिक ज्ञान शब्दों का विषय नही हो सकता, न ही उसे शब्दों में बांधा जा सकता है। यहां पर मीमांसक कई प्रश्न उठाते हैं। वे कहते हैं कि जो ज्ञान शब्दों का विषय ही नहीं है तो फिर उसके बारे में कुछ भी कहना या अनुभव होना या तो भ्रम का विषय है या दूसरों को ठगने के लिए दुष्प्रचार है और न ही ऐसा ज्ञान किसी शास्त्र में लिखा जा सकता है। इसलिए ऐसा पुरूष ही नहीं हो

सकता जो भूत, भविष्य या आत्मा का ज्ञान रखता हो जो इन्द्रियों का विषय ही नही है। इसकी पुष्टि के लिए मीमांसक कहता है कि कूदने का कितना भी अभ्यास किया जाए, हम लोक को नहीं लांघ सकते, इसलिए लगातार योगाभ्यास से भी ऐसा अलौकिक ज्ञान संभव नहीं है। फिर प्रश्न उठाते हैं कि सभी लोग अपने-2 धर्म आचार्यों को सर्वज्ञ मानते हैं फिर भी सभी के बीच मतभेद क्यों रहता है? क्योंकि सर्वज्ञ के अन्दर मतभेद नहीं होना चाहिए। कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति अपने बालों या शरीर के परमाणुओं की संख्या नहीं जान सकता है। इसलिए भी ऐसे ज्ञान का कोई आधार नहीं है।

अन्त में मीमांसक कहता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान या इन्द्रियों से परे का ज्ञान संभव है लेकिन उस साधन या शास्त्र से नहीं जो किसी व्यक्ति के बनाए हुए हैं। ऐसे ज्ञान का एकमात्र साधन वेद हैं। वेद नित्य और अपौरूषेय हैं, उन्हें किसी पुरूष ने नहीं रचा है इसलिए वेदवाक्यों से ही धर्म आदि विषयों का ज्ञान व आचरण किया जा सकता है। वेदों को इसलिए नित्य मानते हैं कि जिन अक्षरों या शब्दों से वेद लिखे गए हैं वे सदा से विद्यमान रहे हैं और सदा रहेंगे भी। हमारी जिह्वा या कण्ठ तो उन्हें उच्चारण करने का केवल माध्यम हैं।

मीमांसक और न्याय-वैशेषिकों के प्रश्नों के जवाब सांख्य और योग दर्शन में अपने आप ही आ जाते हैं। सांख्य-योग कहता है कि प्रकृति अनादि है और हमेशा स्थूल या सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है, कभी व्यक्त अवस्था में तो कभी अव्यक्त अवस्था में। यही आधुनिक विज्ञान का नियम 'शक्ति संरक्षण का सिद्धांत' भी कहता है। इसलिए कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो अपने स्थूल या सूक्ष्म रूप में कभी विद्यमान न रहा हो या नहीं रहेगा। अत: जो पदार्थ या वस्तु इन्द्रियों के सम्पर्क में आते हैं उनका भूत व भविष्य में भी किसी न किसी रूप में अस्तित्व बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि योगी संयम या ध्यान द्वारा किसी वस्तु

के भूत या भविष्य के बारे में जान सकता है। इसकी स्वीकृति बौद्ध व जैन धर्म में भी की गई है। जहां तक लौकिक वस्तु जैसे शरीर में परमाणुओं की संख्या या बालों की संख्या के जानने का प्रश्न है, ऐसे प्रश्नों का जवाब पतंजली मुनी के योग दर्शन में दिया गया है। उन्होंने अपने योग में किसी भी वस्तु, चांद, सूर्य या नक्षत्र आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अलग-2 जगह संयम करने की विधि बतायी है लेकिन उन्होंने और दूसरे धर्मों ने भी इस तरह के ज्ञान का निषेध किया है क्योंकि ये रिद्धि-सिद्धियां है और रिद्धि-सिद्धियां मुक्ति के रास्ते में रूकावटें हैं। योग दर्शन कहता है कि पुरूष और ईश्वर अनादि और अनन्त हैं इसलिए सर्वज्ञता का ज्ञान होना संभव है। जहां तक आपसी मतभेद का प्रश्न है इसका जवाब इसी अध्याय के आरम्भ में दे दिया गया है कि उस एक सर्वोच्च सत्ता की खोज में जो जहां तक पहुंचा वहीं तक का वर्णन करके चला गया।

8. चार्वाक दर्शन :

चार्वाक दर्शन किसी आत्मा, परमात्मा, मुक्ति या पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करता है। जो सामने है और इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जा सकता है वही सत्य है। ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन आधार भूतों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और इनके संयोग से ही चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं। किसी शाश्वत ज्ञान या ईश्वरीय ज्ञान के लिए इस मत में कोई स्थान नहीं है।

9. अद्वैत वेदान्त दर्शन :

अद्वैत सिद्धांत आदि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उनके समय में वैदिक धर्म विनाश की तरफ जा रहा था। बुद्ध व जैन धर्म का प्रचार व प्रसार बढ़ रहा था। तभी शंकर का आगमन हुआ और एक राजा के माध्यम से उन्होंने जैन आचार्यों के साथ शास्त्रार्थ किया।उस शास्त्रार्थ में उन्होंने सभी को परास्त किया। उसके बाद राजा

ने उनका सम्मान किया और उन्हें प्रचार की विशेष सुविधांए प्रदान की। शंकर का अद्वैत सिद्धांत आत्मा और ब्रह्म की एकता स्थापित करता है। असल में आत्मा और ब्रह्म दो नहीं हैं, केवल अज्ञानवश ही दो नजर आते हैं। जब इस अविद्या का नाश हो जाता है तो इनमें अभिन्नता और अभेदता महसूस होने लगती है। आत्मा परम् शुद्ध चैतन्य स्वरूप में ब्रह्म से अभिन्न है। हमें जो चेतनता का भाव महसूस होता है वह हमारे अन्त:करण के कारण है। अन्त:करण में भासने वाला चैतन्य ही जीवात्मा है। संसार के अस्तित्व के बारे में यह दर्शन कहता है कि संसार वास्तव में है नहीं, केवल अविद्या के कारण यह हमें भासता है। जिस तरह से सूर्य के असली स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण हर ओस की बूंद में दिखाई देने वाले सूर्य को ही हम असली सूर्य समझ लेते हैं और जब ओस का अस्तित्व समाप्त हो जाता है तो उसमें भासने वाला सूर्य भी अस्तित्वहीन हो जाता है, केवल आकाश में चमकने वाला सूर्य ही रह जाता है। इसी प्रकार अंधेरे में रज्जु को सांप समझ लेते है लेकिन जब भ्रम दूर हो जाता है तो रहस्य समझ में आ जाता है। ऐसा ज्ञान होने पर हम इस आत्मा को विशाल ब्रह्म चेतना में व्याप्त पाते हैं। तभी जाकर अहम् ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म आदि महावाक्यों की सिद्धि होती है तथा जगत जिसे हम सत्य व नित्य मानते थे यह भ्रम दूर हो जाता है और कह उठते हैं: ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर: अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ही ब्रह्म है, इससे अलग कुछ नहीं है। अपराविद्या निम्न ज्ञान है और पराविद्या ब्रह्म का ज्ञान है। अपराविद्या का कारण अपर ब्रह्म या सगुण ब्रह्म है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर का भाव केवल व्यावहारिक दृष्टि से है। जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने वाला चैतन्य, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी आदि गुणों का स्वामी होने के कारण उसे ईश्वर या सबल ब्रह्म कहा जाता है लेकिन जब अविद्या की गांठ कट जाती है तो अपर ब्रह्म का विचार भी समाप्त हो जाता है क्योंकि यह

रूप ब्रह्म का छाया रूप है जो आरम्भ से ब्रह्म के साथ है और जब इस छाया का रहस्य समझ में आ जाता है तो आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्मरूप बन जाती है। माया के संबंध से ब्रह्म को ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहते हैं और अविद्या के संबंध से जीव। आत्मा की ब्रह्म के साथ एकता इस बात से भी सिद्ध होती है कि प्रलय होने पर सभी आकृतियां और भासने वाली अनेकता केवल ब्रह्मरूप होकर उसी में समा जाती है। इसलिए अज्ञान रूपी छाया का नाश होने पर जीवात्मा का भ्रम टूट जाता है और आत्मा की ब्रह्म में स्थिति हो जाती है।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप तीन शरीरों, पांच कोषों और तीन अवस्थाओं जागृत, स्वप्न व सुषुप्ति से भिन्न है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति से ऊपर केवल तुरीय अवस्था ही ज्ञान देने वाली अवस्था है। इस अवस्था में परब्रह्म का निर्विकल्प रूप ज्ञानधारा बनकर प्रकट हो जाता है और योगी समाधिस्थ हो जाता है समाधि या संराधन की दो अवस्थाएं वर्णन की गई हैं: सम्प्रज्ञात या सविकल्प समाधि और असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि। योग की तरह सम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृति विद्यमान रहती है तथा ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय का भाव बना रहता है। लेकिन असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि में चित्तवृति की चेतना नहीं रहती है। केवल परब्रह्म की चेतना रहती है। चेतना की यह अवस्था सुषुप्ति की अवस्था से मिलती जुलती है। अन्तर इतना है कि सुषुप्ति में चित्तवृति का विलय अज्ञान में हो जाता है और असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृति रहती तो है लेकिन उसका भान नहीं होता है अर्थात् चेतनायुक्त अंधकार जैसी अवस्था ही है। यही समाधि की उच्चतम अवस्था है जहां अतीत का कोई संस्कार प्रकाशित नहीं होता। असम्प्रज्ञात समाधि की इसी अवस्था को योग में प्रकृति की मूल अवस्था कहा है जहां सत्, रजस् व तमस् साम्यवस्था में होने के कारण अंधकार है जिसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। पतंजली योग में इसी अवस्था को असम्प्रज्ञात

समाधि और सांख्य में विवेकख्याति प्राप्ति कहा गया है। श्री अरविन्द भी निर्विकल्प समाधि को चेतना की ऐसी अवस्था कहकर वर्णन करते हैं जहां पर किसी भी विचार या चेतना की आन्तरिक या बाहरी गति नहीं है। वे कहते हैं कि अतिमानसिक चेतना भी अंधकार जैसी अवस्था है जिसके प्रकाश को देखा नहीं जा सकता है। अपनी पुस्तक Letters on yoga (योगा पर पत्र) में लिखते हैं :

"Nirvikalpa Samadhi" properly means a complete trance in which there in no thought or movement of consciousness or awareness of either inward or outward things-all is drawn up into a supracosmic Beyond.

फिर कहते हैं :

The past darkness they (i.e. Purusha and Prakriti) have come out of is that of ignorance, the future darkness that is felt above is superconscience. But, of course, the superconscience is really luminous-only its light is not seen.

लेकिन राधास्वामी योग में इस अवस्था को योग की उच्चतम अवस्था नहीं माना गया है। यह आज्ञा चक्र (शिव नेत्र) और सहस्रार के ऊपर आने वाली शून्यावस्था है जहां अंधकार ही अंधकार है और हर दिन के बाद आने वाली रात्रि है। यहां का अंधकार अभ्यासी को जकड़ लेता है तथा ऊपर के मण्डलों में नहीं जाने देता है। राधास्वामी योग में इस अंधकार को माया का दुर्ग कहा गया है जहां अभ्यासी को छल-बल द्वारा सुनहरे स्वप्न दिखाकर सदा के लिए कैद कर लिया जाता है। इस अंधकार से केवल शब्द स्वरूपी सतगुरू ही निकाल सकता है जिसे रास्ते की 18 मंजिलों और दस प्रकार के शब्दों का ज्ञान है।

10. विशिष्ट अद्वैत सिद्धांत :

शंकराचार्य के लगभग 250 वर्ष बाद रामानुज आचार्य ने विशिष्ट अद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार यह चित्त अर्थात् जीव, अचित्त अर्थात् भौतिक जगत और ब्रह्म ये तीनों एक ही ब्रह्म का शरीर हैं। यह सारा भौतिक जगत, शरीर इत्यादि और जीवात्मा ब्रह्म का शरीर है और वह इनका अन्तर्यामी आत्मा है। इसलिए विशिष्ट रूप से ब्रह्म को एक मानने से यह सिद्धांत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इसके अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के बाद जीवात्मा ब्रह्म के समान हो जाता है, ब्रह्मरूप नहीं। स्पष्ट है कि यह सिद्धांत अपने उत्तम रूप में सबल ब्रह्म की सम्प्रज्ञात समाधि को प्रत्यक्ष करता है।

11. बौद्ध दर्शन :

बौद्ध धर्म भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इस दर्शन के अनुसार सत्यों पर गहरा चिंतन किया जाता है और वह चिंतन जब चरम सीमा तक पहुंच कर शून्य में मिल जाता है तो धर्म नैरात्मय या अनात्मदर्शन की अवस्था प्राप्त होती है जो योगी की निर्वाण प्राप्ति के लिए आवश्यक है। योगी स्वयं की अनुभूति को भूलकर सांसारिक चेतना अर्थात् व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है और उसे ''दिव्य-चक्षु'' प्राप्त हो जाते हैं लेकिन दिव्य-चक्षु की प्राप्ति परम लक्ष्य नहीं है, केवल चेतना के विकास के लिए साधन मात्र है। लक्ष्य की प्राप्ति होने पर इसे भी छोड़ देना पड़ता है ताकि साधक के अन्दर इसके प्रति कोई राग पैदा ना हो जाए। बौद्ध धर्म का मुख्य लक्ष्य मनुष्य को वासना रहित करना है, लाभ व दोष को समाप्त करना है जिससे उसके सारे क्लेशावरण और ज्ञेयावरण नष्ट हो जाते हैं और योगी मुक्ति प्राप्त करता है। मोक्ष की प्राप्ति शून्य में स्थित होने से होती है। उस समय न तो कोई भाव स्वयं प्रकट होता है और न ही दूसरों द्वारा प्रकट किया जा सकता है। सब भावों की शून्यता ही सर्वोच्च ज्ञान है।

बुद्ध ने आत्मा या परमात्मा की किसी सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। धम्मपद के शब्दों में :

आत्मा हि आत्मनो नाथः को हिनाथः परः स्यात्।
आत्मानैव सुदान्तेन नाथं लभते दुर्लभम।।

अर्थात् आत्मा ही अपना नाथ-स्वामी है। अपने को छोड़कर अपना स्वामी दूसरा नहीं है। स्वयं को दमन करने से दुलर्भ नाथ अर्थात् निवार्ण की प्राप्ति होती है। इस दर्शन में आत्मा या परमात्मा के प्रकाशवान या शाश्वत सत्त-स्वरूप की स्वीकृति नहीं की गई है। इसका मुख्य लक्ष्य मानव को दुःख-सुख की सीमा से ऊपर उठाना है। राग-द्वेष या कर्म-क्लेश से छुटकारा पाना है। अपने प्रति मोह को समाप्त करना है और दूसरों के प्रति अपने आपको समर्पित करना है। इस मार्ग में रिद्धि-सिद्धियों का वर्णन किया गया है। महात्मा बुद्ध ने इन रिद्धियों का प्रयोग साधक के लिए बहुत खतरनाक बताया है और इसके लिए बहुत कड़ाई से मना किया है। ये साधक के लिए रूकावट का कारण बनती हैं।

बौद्ध दर्शन में चार आर्यसत्य हैं जिनके ऊपर गहन चिंतन किया जाता है जो इस प्रकार हैं:

1. दुःखम् - इस संसार का जीवन दुःख से परिपूर्ण है।
2. दुःख समुदयः- इस दुःख का कारण तृष्णा है।
3. दुःख निरोधः- दुःख का सर्वथा नाश करना है अर्थात् तृष्णा से सम्पूर्ण वैराग्य कर दुःख निरोध करना है। यही निर्वाण प्राप्ति है।
4. दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदः - दुःख निरोध का मार्ग क्या है अर्थात् निर्वाण प्राप्ति ही दुःखों का अन्त है। निर्वाण में व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है। उस तक पहुंचाने वाले मार्ग का नाम अष्टांगिक मार्ग है जो इस प्रकार है: (1) सम्यक् दृष्टि (2) सम्यक् संकल्प (3)

सम्यक् वचन (4) सम्यक् कर्मान्त (5) सम्यक् आजीविका (6) सम्यक् व्यायाम (7) सम्यक् स्मृति (8) सम्यक् समाधि। चार आर्य-सत्य बौद्ध धर्म की धर्म-संहिता हैं। चार आर्य सत्य के अतिरक्ति दश शील (दस सत्कर्म) का पालन भी आवश्यक है। अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य का पालन और सुरा आदि मादक पदार्थों का असेवन। ये पाचं सभी के लिए मान्य हैं लेकिन भिक्षुओं के लिए नीचे लिखे पांच शील भी आवश्यक हैं: अपराह्व भोजन, मालाधारण और संगीत, स्वर्ण तथा अमुल्य शय्या का त्याग।

बौद्ध दर्शन के अनुसार मनुष्य का शरीर पांच स्कन्धों के मेल से बना हुआ है, ये स्कंध हैं - रूप (Corporeality or physical forms), वेदना (Feelings or sensations), संज्ञा (Ideations), संस्कार (Mental formations or dispositions) और विज्ञान (Consciousness), इन पांचों में से काई भी स्कंध आत्मा नहीं है। जब ये पांचों स्कंध या धर्म अपने-2 धर्म में विलीन हो जाते हैं तो बाकी कुछ नहीं बचता, केवल शून्य बच जाता है। यही अनात्मदर्शन या नैरात्मयता का बोध है। इसके अनुसार सब भावों की शून्यता ही परमार्थ ज्ञान (प्रज्ञा) है।

प्रज्ञा की प्राप्ति पर बौद्ध धर्म में विशेष बल दिया जाता है। इसकी प्राप्ति होने पर ज्ञान, दर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, दिव्य श्रोत्र, त्रद्धियां, दूसरे के चित्त का ज्ञान आदि शक्तियां उपलब्ध होती हैं। बौद्ध मतानुसार अनात्मदर्शन या क्षणिकत्व का ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। जो उसे जान लेता है वही शून्य में अवस्थित हो सकता है। जिसे यह अनुभूति हो जाती है कि संसार क्षणिक है, स्वप्नवत है तब वह अपने अन्दर स्थित हो जाता है। अप दीपो भव अर्थात् स्वयं का दीपक बन जाता है। उसे पराश्रय की आवश्यकता नहीं रहती है। नैरात्मयता का प्रत्यक्ष हो जाने पर दोषों की स्थिति नहीं रहती जिस प्रकार दीपक के

जलने पर अंधकार का अभाव हो जाता है। बौद्ध साधक जो शुद्ध आध्यात्मिक जीवन जीना चाहता है उसके लिए कोई ईश्वरीय सत्ता नहीं है जिसके साथ वह अपनी आत्मा का मेल कर सके। जब सांसारिक चेतना से ऊपर उठता है तो साधक को दिव्य-चक्षु की प्राप्ति होती है लेकिन दिव्य-चक्षु प्राप्त करना कोई लक्ष्य नहीं है बल्कि रास्ते का एक पड़ाव है। मन की एकाग्रता भी इसलिए आवश्यक है ताकि वह भटकने वाले मन को नियंत्रित करने का साधन बन सके। संबोधि प्राप्ति के लिए मुख्य लक्ष्य यह है कि किसी भी प्रकार के लोभ, राग व दोष की अग्नि पूर्ण रूप से बुझ जाए और बुद्धत्व की प्राप्ति हो सके। इसीलिए बुद्धत्व प्राप्त योगी को 'इन्लाइटंड' कहा जाता है अर्थात् जिसकी सभी वासनाएं जलकर बुझ चुकी हैं।

महायान दर्शन में बुद्ध के तीन शरीरों का वर्णन किया गया है 'धर्मकाया, संभोगकाया और निर्मनकाया। धर्मकाया (The body of the law) परम् शून्य अवस्था है जहां सभी धर्मो की शून्यता है, यह वह निराकार अस्तित्व है जो सभी लोकों व विचारों से परे है। संभोगकाया (The cosmic body) आनन्द शरीर है जो शून्य और निरपेक्ष अस्तित्व है जहां पर वे बुद्ध विश्राम करते हैं जिन्होंने दूसरे लोगों की मुक्ति के लिए कार्य किया है। तीसरा शरीर निर्मनकाया (The body of transformations) है। यह बुद्धत्व की वह अवस्था है जिसमें बुद्ध की चेतना मनुष्य शरीर को धारण करती है, संसार में विचरण करती हुई दु:खी लोगों के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है और उनकी सहायता करती है।

बौद्धिसत्व का सिद्धांत भी महायान के दर्शन की देन है। इससे पहले व्यक्तिगत मुक्ति को मुख्य माना जाता था। महायान (The greater vehicle) का अर्थ है बड़ा यान अर्थात् जो दूसरों की मुक्ति के लिए समर्पित है। जिसने दूसरे लोगों की मुक्ति के लिए स्वयं की

मुक्ति को स्थगित कर दिया है।

12. जैन दर्शन :

जैन दर्शन में पांच तरह के ज्ञान का वर्णन किया गया है:

1. मतिज्ञान - साक्षात पदार्थ का ज्ञान जो विषय या इन्द्रि या मन के साथ संयोग होने से होता है।
2. श्रुतज्ञान - साक्षात पदार्थ का ज्ञान जो लक्षण, प्रतीक आदि देखकर शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से होता है।
3. अवधि ज्ञान - जब दूर के पदार्थों का ज्ञान क्षेत्र, काल, भाव की अवधि या सीमा के साथ होने लगता है। यह ज्ञान बिना इन्द्रियों या मन की सहायता के होता है।
4. मन: पर्यव ज्ञान - जब अपने या दूसरे के मन में छिपे भावों या विचारों का ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान भी बिना इन्द्रियों और मन की सहायता से होता है।
5. केवलज्ञान - जैन दर्शन में केवलज्ञान ज्ञान की उच्चतम अवस्था है। इसमें केवली को सब द्रव्यों या विषयों की प्रकृति या परिवर्तनशीलता का आन्तरिक व बाहरी ज्ञान हो जाता है। यहां ज्ञान आवरण कर्म के सारे भेद मिट जाते हैं और सारा ज्ञान एक (केवल) हो जाता है। केवलज्ञानी केवलज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है।

ज्ञान आत्मा में ही विद्यमान रहता है, केवल आत्मा से होता है। ज्ञान शुद्ध होता है। जब आत्मा के सारे आवरण हट जाते हैं तो आत्मा का उज्जवल रूप प्रकट हो जाता है, वही ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का ही स्वरूप है। आत्मा सर्वज्ञ है। जैन दर्शन में ईश्वर या परमात्मा की किसी सार्वभौम सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है केवल जीव या आत्मा की सर्वज्ञता स्वीकार की गई है। आत्मा के प्रकाश स्वरूप को भी अधिक नहीं खोला गया है। केवल अपने या दूसरे या प्रकृति की

अवस्था या परिवर्तनशीलता के बारे में जानने पर अधिक बल दिया गया है। बौद्ध दर्शन और योग दर्शन में इन्हीं उपलब्धियों को ऋद्धियां कहा गया है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव (Soul) व अजीव (Non-soul) या चित्त और अचित्त ये दो परमत्तत्व हैं। राग आदि दोष के कारण हम चित्त-अचित्त में भेद नहीं कर पाते हैं। परम् ज्योति के द्वारा ही चित्त-अचित्त का ज्ञान होना संभव है। परम् ज्योति का एक गुण 'उपयोग' (Consciousness) है, जिसके द्वारा यह ज्ञान होता है। परम् ज्योति के दो भेद हैं - उपयोग और लब्धि। जीव में अवस्थित चेतना का नाम लब्धि (Dormant consciousness) है किन्तु जब यही चेतना कार्य रूप में आती है तब उपयोग (Active consciousness) कहलाती है। साकार उपयोग को ज्ञान और निराकार उपयोग को दर्शन कहते हैं।

जीव और कर्म के आपसी प्रदेशों (अवयवों) का मिश्रण हो गया है। उनमें बंधन (प्रदेशबंध) हो गया है जिसके कारण जीव का छुटकारा नहीं हो पा रहा है । जीव के प्रदेशों में जो मिथ्या संयोग है वह कभी दृढ़ रहता है तो कभी इसकी गांठ ढ़ीली हो जाती है। कभी-कभी फल देने वाले कर्म के अवयव जीव के अवयवों से संयोग कर उनके अंदर घुस जाते हैं और जीव को शिथिल कर देते हैं। इस प्रकार कर्म और जीव के प्रदेशों का मिश्रण होता है इसे ही प्रदेशबंध कहते हैं। जीव तब तक मुक्ति नहीं पा सकता है जब तक कर्म के अवयव इससे अलग न हो जाएं। किसी साधारण उपाय से इन्हें अलग करना अति कठिन है, उपाय है तो 'उपयोग'। उसी से जीवात्मा अपने में मिले हुए कर्म के परमाणुओं (पुद्गलों) से पृथक ज्ञात होता है क्योंकि उपयोग (ज्योति) के द्वारा जीवात्मा चैतन्य रूप में तबदील हो जाएगा और कर्म के पुद्गल चैतन्य रूप में परिणत नहीं हो सकेंगे। इस प्रकार 'उपयोग' साधक के लिए मोक्ष का मार्ग तैयार करता है। बौद्ध दर्शन में इसे ही दिव्य-चक्षु

और हिन्दू शास्त्रों में शिव-नेत्र या दिव्य-दृष्टि कहा गया है। मोक्ष में जीव कर्मों का पूर्ण विनाश करके प्रवेश करता है।

जैन मत में आत्मा के जिस गुण को उपयोग व लब्धि कहा गया है, उसे ही वेदान्त और योग में सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात या सविकल्प व निर्विकल्प समाधि कहा गया है। चेतना की उसी अवस्था को सबीज व निर्बीज समाधि कहकर वर्णन किया गया है। बौद्ध दर्शन में चेतना की इसी अवस्था को प्रवृतिविज्ञान व आलयविज्ञान कहकर पुकारा गया है। विज्ञानवादी बौद्ध अवस्था के भेद से चित्त (विज्ञान) के दो भेद कहते हैं - आलयविज्ञान और प्रवृतिविज्ञान। आलयविज्ञान (House consciousness) धर्मो के बीजों का स्थान है अर्थात् जहां समस्त ब्रह्माण्ड बीजरूप में मौजूद रहता है। धर्म बीज के रूप में यहां समाए रहते हैं और विज्ञान के रूप में वासना की अग्नि लेकर प्रकट हो जाते हैं और जगत में व्यवहार करते हैं। यही जैन धर्म में लब्धि और उपयोग हैं। एक सुषुप्त चेतना है तो दूसरी उसका कार्यरूप अर्थात् एक्टिव चेतना है, उसका प्रकाशित रूप है। सांख्य-येाग व वेदान्त की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि भी व्यवहारिक दृष्टि में इसी अर्थ को गर्भित करती है। ईसाई धर्म में डोगमा और क्रिग्मा भी चेतना की इसी अवस्था को दर्शाता है।

लंकावतार सूत्र (2/99-100) में आलयविज्ञान को समुंद्र के समान कहा है। जिस प्रकार समुंद्र में वायु-प्रेरित तरंगें उठती रहती हैं, कभी विराम नहीं लेती, उसी प्रकार आलयविज्ञान में भी स्तह पर विज्ञान रूपी तरंगें उठती रहती हैं। आलयविज्ञान समुंद्र है, विषय पवन है तथा विज्ञान (प्रवृतिविज्ञान) तरंगें हैं। दूसरी ओर प्रवृतिविज्ञान क्रियाशील चित्त है जिसमें विषयों का भान होता है। यह आत्मा के समान नहीं है लेकिन आलयविज्ञान से ही उत्पन्न होता है और उसी में विलीन हो जाता है। इसके सात भेद हैं - 1. चक्षुर्विज्ञान, 2. श्रोत्रविज्ञान, 3. घ्राणविज्ञान,

4. जिह्वाविज्ञान, 5. कायविज्ञान, 6. मनोविज्ञान, 7. क्लिष्टविज्ञान।

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष के लिए दो साधन आवश्यक बताए गए हैं-संवर और निर्जरा।संवर के द्वारा नए कर्मों (आश्रव) का निरोध हो जाता है। कर्म पुद्गलों का जीवात्मा के प्रदेश में प्रवेश होना बंद हो जाता है। संवर से आश्रव (कर्मोदय) रूकता है और नए कर्म उत्पन्न नहीं होते। निर्जरा से अर्जित कर्मों का भण्डार भस्म कर दिया जाता है। जो कर्म अर्जित हो गए हैं उन्हें तपस्या (जप-ध्यान) के द्वारा नष्ट कर देना निर्जरा कहलाता है। केशों को उखाड़ना आदि कर्म तप कहलाता है। जीव-जन्तुओं की हत्या से बचना, सत्य वचन, मित भाषण वचन का संयम, ईर्ष्या - द्वेष न करना आदि कर्म संवर कहलाते हैं। इस प्रकार संवर और निर्जरा का पालन करते हुए कर्मों के बंधन से बिल्कुल निकल जाना मोक्ष है।

स्याद्वाद का सिद्धांत मानने वाले जैनों के मत से सभी वस्तुओं या विषयों में अनेकान्तात्मकता है जिसे अनेकान्तवाद का सिद्धांत भी कहा जाता है। इसका अर्थ है कि किसी वस्तु का कोई रूप निश्चित नहीं है, सभी वस्तुएं अनिश्चित हैं, सत्ता-असत्ता दोनों हैं। इसे जैनी सप्तभंगीनय के द्वारा व्यक्त करते हैं। अनेकान्तवाद के कारण वे सभी तरह के सिद्धांतों का सम्मान करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी वस्तु में सात रूप समाहित होते हैं जो इस प्रकार हैं: 1. स्यादस्ति (किसी प्रकार है) 2. स्यान्नास्ति (किसी प्रकार नहीं है) 3. स्यादस्ति च नास्ति च (किसी प्रकार है और नहीं है) 4. स्यादवक्तव्य: (किसी प्रकार अवर्णनीय है) 5. स्यादस्ति चावक्तवय: (किसी प्रकार है और अवर्णनीय है) 6. स्यान्नास्ति चावक्तव्य: (किसी प्रकार नहीं है और अवर्णनीय हैं) 7.स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य: (किसी प्रकार है, नहीं है और अवर्णनीय है)। इस सिद्धांत में किसी भी वस्तु के अस्तित्व (Positive entity), नास्तित्व (Negative entity) आदि का एक साथ ही समुच्चय होता है

जो सप्तभंगीनय या न्याय कहलाता है।

किसी वस्तु का ज्ञान पूरा नहीं है। किसी वस्तु के सात पहलू हैं। उन सब का एक साथ ज्ञान प्राप्त करना 'केवलज्ञान' से ही संभव है साधारण ज्ञान से नहीं। जैनी सभी निर्णयों को सापेक्ष मानने के पक्षधर हैं। कोई ज्ञान स्वतंत्र नहीं है इसलिए अपने सभी निणयों से पहले स्यात् अर्थात् शायद शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी कारण इसे स्याद्वाद भी कहा जाता है। स्यात् शब्द सापेक्षता और अनेकान्तता का सूचक है।

कर्मों का क्षय और केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए त्रिरत्न का अभ्यास किया जाता है जो मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है। ये त्रिरत्न इस प्रकार हैं - सम्यक् दर्शन (Right faith), सम्यक् ज्ञान (Right knowledge) और सम्यक् चरित्र (Right conduct)। आत्मा में आस्था सम्यक् दर्शन है। आत्मिक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है तथा आत्मा में स्थित रहना सम्यक् चरित्र है। जब आत्मा के आवरण उतर जाते हैं तो आत्मा अपने स्वरूप अर्थात् अनन्त ज्ञान और आनन्द को प्राप्त करती है। इसके लिए पांच महाव्रतों का पालन करना आवश्यक है। यह पांच महाव्रत धर्म अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं।

13. ईसाई धर्म:

ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह थे। आरम्भ में इस धर्म में तत्वदर्शन को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। बाइबिल में कहा गया है कि आरम्भ में शब्द (वर्ड) था, शब्द ईश्वर के साथ था, शब्द ही ईश्वर था और इसी शब्द ने सृष्टि की रचना की। इसी शब्द को उपनिषदों में अनाहत नाद, नाद ब्रह्म, अक्षर ब्रह्म या उद्गीत कहकर पुकारा गया है। सूफी संतों ने इसे कलमा इलाही कहा है।

आरम्भ में ईसाई धर्म और रोमन साम्राज्य के बीच में संघर्ष था। इसका कारण यह था कि ईसाई धर्म के लोग साम्राज्य तथा सम्राट की सत्ता को मान्यता नहीं देते थे। धार्मिक जगत के कुछ लोगों का ईसा

मसीह को मसीहा मानने पर भी एतराज था। सम्राट कौंस्टेंटाइन ने ईसाई धर्म को राजधर्म बनाने की प्रक्रिया शुरू की। उसने सन् 325 ई0 में अलेक्जेंड्रिया के धर्मगुरू एरियस के इस धर्म उपदेश पर विचार करने के लिए एक परिषद (नीसा की परिषद) की घोषणा की कि ईसा मसीह ईश्वर नहीं बल्कि एक साधारण व्यक्ति थे। नीसा परिषद ईसाइयों के लिए विजय की घोषणा थी। इस परिषद में तत्वदर्शियों ने बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसमें यह फैसला किया गया कि ईसाई धर्म आदि धर्म है। जबसे सृष्टि का आरम्भ हुआ है यह धर्म तब से ही विद्यमान है। ईसा मसीह परमात्मा के पुत्र (वर्ड) हैं जिन्होंने मनुष्य रूप में जन्म लिया। परिषद ने कहा कि जो तत्व पिता में होते हैं, वही उसके पुत्र ईसा मसीह में भी होंगे। इस प्रकार ईसा मसीह की अलौकिकता सिद्ध की गई।

ईसाई धर्म के आरम्भ में आत्म-विद्या या गूढ़ रहस्य (मिस्टीकल ज्ञान) से संबंधित ज्ञान अपनी चरम सीमा पर था। इसकी झलक संत पाल के पत्रों में और संत जोहन के चौथे उपदेश (फोरथ गोस्पल) में प्रचुरता के साथ मौजूद है। यद्यपि इन संतों की इच्छा ईसा मसीह के साथ पूर्ण एकता और गूढ़ ज्ञान प्राप्त करने की थी लेकिन देह में आए जीसस के साथ नहीं बल्कि उनके विशाल और आलोकित रूप के साथ जो आत्मा के साथ एक हैं, स्पीरिट के साथ अभिन्न हैं। संत जोहन कहते हैं कि जो आत्माएं ईसा मसीह के साथ एकता स्थापित कर लेती हैं वे ईश्वर (पिता) के साथ भी अभिन्न रूप से एक हो जाती हैं।

तीसरी, चौथी और पांचवी शताब्दी में मरूस्थल के संतों की एक जमात आई जिन्होंने ईश्वर के साथ एकता स्थापित करने पर बल दिया। ये संत-महात्मा मरूस्थलों के कठिन जीवन में रहकर तपस्या करते थे ताकि शैतान की ताकतों पर विजय प्राप्त की जा सके। इन संतों में पांचवी शताब्दी के संत जोहन कैशिअन मुख्य थे। वे कहते थे-

'' लगातार ध्यान और ईश्वर चिंतन करने से आत्मा ईश्वर के साथ एक हो जाती है और अवर्णनीय आनंद प्राप्त करती है। उसके बाद जो कुछ हम सांस लेते हैं या सोचते हैं या बोलते हैं वह सभी परमेश्वर है।''

पांचवी और छटी शताब्दी के मुख्य तत्वदर्शी संत आगस्टीन और डायोनिशियस थे। आगस्टीन कहते हैं कि उसने अपने अंतरतम अनुभव में उतरने के बाद ईश्वर को अखण्ड प्रकाश के रूप में अनुभव किया जो उसकी आत्मा की रूपान्तरण शक्ति है, अर्थात् ट्रांस्फोर्मिंग पावर है। छटी और सातवीं शताब्दी के पोप ग्रेगरी महान कहते हैं कि परमात्मा एक अनन्त प्रकाश है और उस प्रकाश पुंज के मध्य में अपनी आंखों को स्थिर करने का अभ्यास परमात्मा का ध्यान है।

सातवीं से दशवीं शताब्दी का समय ईसाई धर्म के लिए अंधकार युग (डार्क एज) का समय था जिसमें किसी विशेष आध्यात्मिक विकास का वर्णन नहीं मिलता है। इसके बाद पूर्वी ईसाईयत के संत सिमिअन और पश्चिमी कैथोलिक चर्च के संत बरनार्ड ने ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में आत्मिक तत्व का दर्शन और अनुभव किया। इस अनुभव में आत्मा के अन्दर अपार सुख प्रदान करने वाले ईश्वर के प्रकाश का अवतरण हुआ जिसने आत्मा को ईश्वरमय बना दिया। संत बिंजन ने ईश्वर को जीवित प्रकाश (लीविंग लाईट) कहकर पुकारा। तेरहवीं शताब्दी के संत फ्रांसिस ने आत्मा और परमात्मा की एकता पर बल दिया। संत बोनावेंचर, दान्ते और फोलिग्नो (इटली) ने भी तत्व ज्ञान को अपने तरीके से लिपिबद्ध किया।

तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में तत्वविद्या के महान ज्ञाता मीस्टर इकहर्ट हुए जिन्होंने रीनलैंड स्कूल की स्थापना की। इकहर्ट को इस अनुभव के बदले ईसाईयत के अनेक कष्ट सहने पड़े। एक समय ऐसा था जब ईसाई धर्म को चर्च की नींव मजबूत करने के लिए इन तत्वज्ञानियों की आवश्यकता थी और इन तत्वविद्या के ज्ञाताओं ने उसमें भरपूर

सहयोग दिया लेकिन अब ऐसा समय आ चुका था जब ऐसे आत्म-ज्ञानियों को धर्मविरोधी करार दिया गया, उन्हें काफिर कहा गया और तरह-तरह के कष्ट दिए गए क्योंकि अब चर्च की चूलें अत्यधिक मजबूती प्राप्त कर चुकी थी। चर्च धन और बल की एक विशाल संस्था बन चुका था। इसके हर आदेश को स्वीकार करने वाला व्यक्ति ही सच्चा ईसाई माना जाने लगा। जीसस को अपनी आत्मा में देखने वाला व्यक्ति और लिपिबद्ध पुस्तकीय ज्ञान से अलग बोलने वाला व्यक्ति सच्चा ईसाई नहीं हो सकता था। जीसस को एक सीमित दायरे में कैद कर दिया गया था जो दूर आकाश में ईश्वर के साथ स्वर्ग में रहता है, तेरहवीं शताब्दी के बाद तत्वदर्शियों और चर्चतंत्र के बीच एक संघर्ष आरम्भ हो गया तथा सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी तक आते-आते चर्च ने आत्मिक गूढ़ रहस्य के ज्ञान को पूरी तरह से नकार दिया। यही कारण है कि अब ईसाई धर्म गूढ़ आध्यात्मिक संदेश से वंचित हो गया है। शब्द (वर्ड, लोगोस) के ज्ञान का लोप हो गया है। यह धर्म अब प्रार्थना तक ही सिमटकर रह गया है। किसी भी प्रकार के रहस्यात्मक ज्ञान की मनाही कर दी गई है। कहा जाता है कि मनुष्य का जन्म आदम और इव के द्वारा किए गए पाप का परिणाम है फिर इसके अन्दर परमात्मा या जीसस का कोई भी अंश कैसे हो सकता है? मनुष्य जन्म से ही पापी है, अत: उसकी आत्मा के अन्दर जीसस या परमात्मा के प्रकट होने की संभावना कैसे हो सकती है? अन्तर्ज्ञान और ध्यान कपोलकल्पित बातें हैं जो शैतान के बहकाने और पथभ्रष्ट करने का परिणाम हैं। अत: इस धर्म में आत्मा की पूर्णता और पूर्ण मुक्ति पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया गया है।

ईसा मसीह कहते हैं कि परमात्मा का साम्राज्य मनुष्य के अन्दर ही है (The kingdom of God is within you), जो हर समय अपने प्रिय के लिए दरवाजा खोलने के लिए तैयार है, केवल जिज्ञासू बनकर

दिल का दरवाजा खटखटाने की जरूरत है (Ask and it shall given you; seek and ye shall find; knock and it shall be opended unto you (Matthew, 7:7)। अपने सतगुरू जोन द बापटिस्ट से दीक्षा लेने के बाद ईसा मसीह उनके बारे में कहते हैं कि वह एक जलता हुआ और एक चमकता हुआ प्रकाश का स्रोत है जिसके प्रकाश में स्नान करने का मन करता है (जोन, 5:35)। फिर कहते हैं कि यदि तुम अपनी आंख को एक कर लो तो तुम्हारा सारा शरीर प्रकाश से भर जाएगा (if therefore thine eye be single, thy whole body shall be full of light (Matthew, 6:22) अर्थात् यदि मनुष्य अपनी दोनों आंखों जिनसे वह बाहरी संसार को देखता है बंद कर ले और तीसरी आंख को खोल ले तो उसका सारा शरीर प्रकाश से भर जाएगा। वे स्वयं के बारे में कहते हैं- मैं संसार का प्रकाश (नूर) हूं (I am the light of the world (John, 9:5))। ऊपर के पूरे विवरण से स्पष्ट है कि ईसाई धर्म योग और वेदांत की सम्प्रज्ञात या सविकल्प समाधि, बौद्ध धर्म के दिव्य-चक्षु और जैन धर्म के उपयोग (परम् ज्योति) के अनुभव को पूरी तरह से आत्मसात करता है। यूनान और ईसाई धर्म के आत्मदर्शी महात्माओं ने इस अनुभव को इनर्जिया (Energeiai) या क्रिग्मा (Kerygma) कहा है।

एसीन्स का स्कूल (School of Essenes) ईसाई धर्म का सबसे पुराना धार्मिक विद्यालय रहा है और यहीं पर ईसा मसीह के अतिरिक्त दूसरे रहस्यवादियों ने भी ज्ञान का शिक्षण लिया। इस विद्यालय की शिक्षा शुद्ध वेदांत से मेल खाती थी। इसके अनुसार कहा जाता है कि परमात्मा गहन रहस्यमयी अंधकार है (God is the dark mystery), इस अनुभव को आत्मा की काली रात्री (Dark night of soul) कहा गया है। डायोनिशियस कहते हैं कि परम तत्व अंधकारयुक्त सत्य है जिसे प्रकाश ने ढ़क रखा है (Superessential darkness is hidden

by light)। परमात्मा का यही अनुभव हजरत मोसिस को हुआ था। जब हजरत मोसिस सिनाई के पहाड़ पर गए तो उन्हें एक रहस्यमयी अंधकार के बादल ने घेर लिया जिसके रहस्य को समझ पाना बुद्धि की पहुंच से बाहर था। आत्मा का यही अनुभव सांख्य-योग और वेदांत की भाषा में मूल प्रकृति या असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि का अनुभव है। इसे जैन धर्म में लब्धि (Dormant consciousness), बौद्धधर्म में निर्वाण (लाईट या जीवन का बुझ जाना) और इस्लाम धर्म में 'फनाह होना' कहा गया हैं। यूनान और ईसाई धर्म के रहस्यदर्शियों ने अनुभव की इस अवस्था को ओसिया (Ousia) या डोगमा (Dogma) कहकर पुकारा है।

अत: स्पष्ट है कि ईसाई धर्म में जितने भी आत्मदृष्टा महात्मा हुए हैं उन सभी ने ईश्वर की सत्ता को शब्द (वर्ड या नाद) और प्रकाश के अनुभव से ओतप्रोत पाया है। यहुदी धर्म के रबीज और कबाला सम्प्रदाय भी आत्मा के इसी अनुभव की पुष्टि करते हैं।

14. इस्लाम धर्म :

इस्लाम धर्म में प्रत्येक मुसलमान के लिए निम्नलिखित पांच बातें (रूकन) अति आवश्यक बतायी गई हैं और उनका पालन करने के आदेश भी दिए गए हैं :

1. उसे ईश्वर की अखण्डता और मुहम्मद साहब के पैगम्बर होने की घोषणा करनी चाहिए। इसी को 'कलमा' पढ़ना कहते हैं। इसमें कहा जाता है कि अल्लाह के अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं है और मुहम्मद उसी के पैगम्बर हैं।
2. उसे प्रतिदिन पांच बार नमाज अदा करनी चाहिए और प्रत्येक शुक्रवार को दोपहर के बाद मस्जिद में नमाज पढ़नी चाहिए।
3. उसे निर्धन व्यक्तियों को यह समझ कर दान (जकात) देना चाहिए कि वह अल्लाह के प्रति कुछ अर्पित कर रहा है।

4. उसे अपने जीवनकाल में कम से कम एक बार 'हज' के लिए जाना चाहिए।

5. इस्लाम के पवित्र महीने रमजान में उसे रोजा (उपवास) रखना चाहिए।

ईसाई धर्म की तरह इस्लाम धर्म के आरम्भिक विकास में भी तत्वदर्शी संत और फकीरों ने विशेष योगदान दिया। दोनों ही धर्म के संतों ने खुदा और रसूल के प्रति प्यार और मोहब्बत को विशेष स्थान दिया। दोनों धर्मो में कुछ रहस्यवादी ऐसे आए जिन्होंने अपनी आत्मा को सीधे खुदा के जुहूर में विलीन करने पर बल दिया लेकिन कुछ महात्माओं ने पहले स्वयं को रसूल या पैगम्बर या मसीहा के वजूद में फनाह करने के मार्ग को उत्तम समझा। उन्होंने कहा कि पैगम्बर के माध्यम से ही अल्लाह या ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।

रहस्यवाद के ज्ञाता ये फकीर सूफीवाद से संबंधित थे। सूफी फकीरों ने मुस्लिम समाज को आकार प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यद्यपि आरम्भ में सूफी संतों के द्वारा आत्मा और खुदा की एकता पर अधिक बल दिया जाता था लेकिन नौवीं शताब्दी के बाद एक प्रबल मुहम्मद-रहस्यवाद का विकास हुआ। सूफी संतों के लिए अल्लाह का यह आदेश महत्वपूर्ण हो गया जिसमें उसने पैगम्बर को कहा था, ''यदि तुम न होते तो मैं सृष्टि की रचना न करता।'' हजरत के बारे में कहा जाता है कि मुहम्मद तब भी पैगम्बर थे जब आदम का जन्म नहीं हुआ था। इस्लाम धर्म में खुदा को नूर (प्रकाश) कहा गया है और इसी नूर से हजरत का जन्म हुआ। एतिहासिक मुहम्मद के शरीर से इस नूर की बारिश होती रहती है जिससे मुहम्मद की सन्तति और सभी पीर-फकीरों को जन्म व जीवन मिलता है। सूफी परम्परा में सुहरावर्दी सम्प्रदाय का पूरा दर्शन खुदा के नूर पर आधारित है जिसे इसराकी दर्शन कहा जाता है। इसराक का अर्थ है सबसे पहला प्रकाश (नूर) जो

खुदा के नूर से सृष्टि की रचना करने के लिए अवतरित हुआ और इसी नूर से सारी सृष्टि की रचना हुई। इस सम्प्रदाय में गुरू को शेख-अल-इसराक अर्थात् प्रकाश से भरपूर गुरू (Master of illumination) कहा जाता है।

अल्लाह का मार्ग अर्थात् तरीकत पश्चाताप से आरम्भ होता है। इस रास्ते पर चलने वाले व्यक्ति को किसी शेख या पीर का मुरीद (शिष्य) बनना पड़ता है जो उसे कष्टमय और एकान्त का जीवन जीने का आदेश देता है तथा उसे इबादत के कुछ गुर सिखाता है। मुरीद का अर्थ है मरा हुआ अर्थात् एक मुर्दे की तरह से शिष्य को गुरू के आदेश का कड़ाई से पालन करना होता है। मुर्शिद (गुरू) उसे जेहाद (पवित्र युद्ध) करने का तरीका सिखाता है ताकि वह अपनी बुरी आत्मा, जिसे काले कुत्ते के रूप में दर्शाया गया है, के खिलाफ संघर्ष कर सके और उसे अपना गुलाम बना सके। इस पवित्र जेहाद में उसे शैतान की बातें मानने वाली बुरी आत्मा को मारना नहीं है बल्कि उसे आज्ञाकारी बनाना है ताकि खुदा के मार्ग में उसकी ताकत का सदुपयोग किया जा सके।

मुरीद को पश्चाताप करने के बाद संयम, त्याग और गरीबी का जीवन बसर करने की शिक्षा दी जाती है क्योंकि मुहम्मद ने कहा है कि गरीबी मेरी सबसे बड़ी नियामत है। इसीलिए इस्लाम धर्म में फकीर या दरवेश को गरीब के नाम से जाना जाता है। इसके बाद मुरीद को सहनशीलता और कृतज्ञता का पाठ पढ़ाया जाता है। इस प्रकार शिष्य मुकाम-दर-मुकाम आगे बढ़ता जाता है। इन बदलती हुई आध्यात्मिक अवस्थाओं को 'हाल' जैसे कब्द और बस्त कहा जाता है जिसमें मुरीद की अल्लाह के साथ नजदीकी बढ़ती जाती है और मुरीद आध्यात्मिक विरासत का मालिक बनता चला जाता है। इस तरह से तरीकत (मार्ग) मारिफत (अन्तर्ज्ञान) या मोहब्बत में तबदील हो जाता है। अन्तिम मंजिल पर पहुंचकर मुरीद अल्लाह में 'फनाह' हो जाता है अर्थात् उसके सभी

गुण अल्लाह के गुणों में तबदील हो जाते हैं जिसमें शिष्य का व्यक्तिगत रूप पूरी तरह से जल कर खाक हो जाता है। अब खुदा के गुणों को धारण करके वह वापिस संसार में लौट आता है ताकि खुदाई वजूद का चश्मदीन गवाह बनकर इस संसार में ठहर सके और खुदा के बंदों की खिदमत कर सके। रूहानी यात्रा के इस पड़ाव को 'बका' कहा जाता है। पहले शिष्य फनाह-फि-शेख (शेख में फनाह) के दर्जे को उपलब्ध होता है फिर फनाह-फि-रसूल और अंत में वह फनाह-फि-अल्लाह हो जाता है। अब उसका अपना कोई वजूद बाकी नहीं रहता है।

इस्लाम किसी जीवित या मृत संत या फकीर की पूजा स्वीकार नहीं करता है। इसलिये मार्ग में चलते हुए शिष्य को 'धिकर' का साधन अपनाना आवश्यक होता है। धिकर का अर्थ है यादगार अर्थात् हमेशा यह याद रखना कि अल्लाह के अलावा कोई ईश्वर नहीं है और उसके एकमात्र मसीहा हजरत मुहम्मद हैं। बार-बार यह कलमा पढ़ना अत्यंत जरूरी है ताकि बीच का कोई मार्गदर्शक अल्लाह या पैगम्बर का दर्जा अखतियार न कर सके। इसलिये इस्लाम में शेख, रसूल या अल्लाह में फनाह होना विशेष महत्व रखता है।

इस्लाम धर्म में रहस्यवादियों ने जुबान द्वारा बोलने वाले कलमें को बाहरी कलमा कहा है। हकीकत (पूर्णता) की प्राप्ति आन्तरिक कलमा (कलमाइलाही) सुनने से होती है जिसे नदाय आसमानी या आवाजे मुस्तकीन भी कहा गया है। मौलवी रूम कहते हैं कि हे मालिक! मुझे वह मुकाम बता जहां तेरा कलाम (कलमा) बगैर अक्षरों के अपने आप हो रहा है -

ऐ खुदा बनुमा तू जां रा आं मकाम,
कान्दरू बे हर्फ में रोयद कलाम।

शम्स तबरेज फरमाते हैं कि यह सारा आलम इसी शब्द (कलाम, सौत) द्वारा अस्तित्व में आया, इससे ही सब नूर प्रकट हुआ :

आलम अज सौत जहूर गरिफ्त,
अज हजूरश बसाते नूर गरिफ्त।

हजरत बाहू फरमाते हैं कि उस कलमें को कहने की जिह्वा में शक्ति नहीं है, वह उसका बयान नहीं कर सकती:

जबानी कलमा हर कोई आखे, दिल दा पढ़दा कोई हू।।
जित्थे कलमा दिल दा पढ़िए, उत्थे जीभा मिले ना ढोई हू।।

फिर कहते हैं कि मुर्शिद ने हमें वह सबक पढ़ाया है जो बगैर पढ़े पढ़ा जाता है और जो कानों में उंगलियाँ दिए बगैर सुनाई देता है:

मीम मुरशद हादी सबक पढ़ाइया उह बिन पढ़िऔ पिआ पढ़िवे हू।
उंगलां कनां बिच दित्तीयां बिन सुणियां पिआ सुनीवे हू।।

हाफिज साहब फरमाते हैं कि कोई नहीं जानता कि मेरे प्रीतम की मंजिल कहां है, इतना जरूर है कि वहां से घंटे की आवाज आ रही है:

कस नदानिस्त कि मंजल गहे, माशूक कुजास्त।
ई कदर हस्त कि बांगे-जरसे, मे आयद।

खसरूदीन दस प्रकार के बाजों का वर्णन करने के बाद कहते हैं :

अनहद बाजे बाजन लागे। चोर नगरिया तज तज भागे।।
गुरू निजाम की दई दुहाई। खुसरो ने अंतर लिव लाई।।

नियाज साहब फरमाते हैं कि तू अपने कानों को खोल ताकि उस कलाम को सुन सके जो प्रलय की सीमा से परे है :

बशनवी यक कलामें ला मक्तू।
अज हदूसो फना बवद मरफू।

इस्लाम धर्म के दूसरे भी अनेक महात्माओं ने अन्तर के कलमे और खुदाई नूर को अधिक महत्व दिया है। इन्हीं रहस्यवादियों की बदौलत इस्लाम धर्म की समय-समय पर मजबूत नींव होती चली गई और संसार में इसका प्रचार और प्रसार बढ़ता चला गया।

15. श्रीमद्भगवद् गीता दर्शन :

हिन्दू धर्म में गीता दर्शन आज तक के सभी दर्शनों में उत्तम और श्रेष्ठ माना गया है। गीता का संदेश बहुत ऊंचा है। इसमें एकता में अनेकता और अनेकता में एकता का रहस्य छिपा हुआ है। गीता उस विशाल नियम को प्रतिपादित करती है जो सृष्टि की जान है। यहां पर गीता के केवल उसी स्वरूप का वर्णन किया जाएगा जो आन्तरिक अवस्था का वर्णन करता है। गीता का पुरूष तीन स्तरों पर अभिव्यक्त है। पहला क्षर पुरूष अर्थात् जीवात्मा जो आवागमन के चक्र में फंसा हुआ है जो हर पुरूष या भूत के हृदय में स्थित रहकर चराचर जगत में व्याप्त रहता है। इसके बारे में श्री कृष्ण बार-बार स्मरण कराते हैं।

श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं - जीव लोक में यह जीव मेरा ही सनातन् अंश है और प्रकृति से मिलकर पांचों इन्द्रियों और छटे मन को अपनी और खिंचता है। जब यह आत्मा (जीव) शरीर धारण करता है अथवा उसे छोड़ता है तब प्रथम देह के मन और इन्द्रियों को लेकर दूसरे शरीर में उसी तरह जाता है जिस तरह वायु अपने गंधस्थान से गंधों को उड़ाकर ले जाता है। कान, आंख, चर्म, रसना, गंध और मन से भी वह (जीव) इस शक्ति से इन्द्रियों के भोग को भोगता है (अध्याय 15/7,8,9) अर्थात् आवागमन में फंसा हुआ जीव पुरूषोतम का क्षर रूप है जो नाशवान जगत और प्रकृति के तीन गुणों में भ्रमित रहता हुआ जन्म-जन्म घूमता रहता है। फिर कहते हैं:-इस संसार में दो प्रकार के पुरूष हैं एक नाशवान दूसरे अविनाशी। सम्पूर्ण भूत प्राणी नाशवान हैं। (15/16)। जिस ज्ञान से अविनाशी (आत्मा) सब भूतों में देखा जाता है वह पृथक-पृथक भूत में भी स्थित है। तू उस ज्ञान को सतोगुणी समझ (18/20)। यज्ञ, तप और दान में जो स्थित है वह भी सत् है और जो कर्म ब्रह्म के विचार से किया जाता है वह भी सत् (ब्रह्म) कहलाता है

(17/27)। मैं ही यज्ञ करने वाला हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही पितरों का पिण्ड हूँ, मैं ही हवन की वनस्पति हूँ, मैं ही यंत्र हूँ, मैं ही घी हूँ, मैं ही अग्नि भी हूँ, (9/16)। यह सब भूत मेरी निचली प्रकृति में कल्प के अन्त में लय होते हैं और कल्प के आदि में फिर उनको रचता हूँ, (9/7)। कहने का अभिप्राय यही है कि सभी कर्म व परिर्वतनशील गुणों में व्याप्त पुरूष यही नाशवान या क्षर पुरूष है। इसका साक्षात्कार तब किया जाता है जब हृदय चेतना की ग्रन्थी जिसे रूद्रग्रन्थि भी कहा जाता है खुलती है और तीसरी आंख या रूद्र नेत्र या आज्ञा चक्र पर इसका सतोगुणी प्रकाश प्रकट होता है, यही क्षर पुरूष का जागृति में स्थिति का स्थान है। सुषुप्ति में इसका स्थान हृदय गुफा है। यही पुरूष इस स्थूल जगत में कर्मों का स्वामी है। अत: इसका साक्षात करने से कर्म योग पूर्ण हो जाता है।

गीता में वर्णन किया गया दूसरा पुरूष अविनाशी पुरूष है जिसे आत्मा, विराट, ब्रह्म या अक्षर पुरूष कहा गया है। इसका वर्णन करते हुए श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं- हे पार्थ ! चित् और किसी वस्तु में बहकने न पावे। निरंतर साधन से ध्यान में एकाग्र चित से लगे तो वह परम प्रकाश स्वरूप को प्राप्त करता है (8/8)। तत्वों का ज्ञान मेरे अविनाशी स्वरूप और गुणों से सम्बन्धित है (8/4)। जो पुरूष पुरातन, अनादि और नियन्ता परमात्मा का स्मरण करता रहता है जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, जिसका स्वरूप अचिन्तय है और अंधकार से परे है वह अन्तकाल में योग बल से एकाग्रचित से ईश्वर में ध्यान लगाए हुए प्राणों को भृकुटि के मध्य में स्थापन किए हुए रहता है। वह परमात्मा को प्राप्त होता है (8/9,10)। श्री कृष्ण के विराट स्वरूप का दर्शन करते हुए संजय कहता है - अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक अद्भुत दृष्य, अनेक शस्त्रों को उठाए हुए, आकाश में हजार सूर्य एक साथ प्रकाशित हो जाएं, उस महात्मा (परमात्मा) का प्रकाश उस (प्रकाश) के शायद समान

हो। पाण्डव पुत्र ने देखा कि सम्पूर्ण जगत अनेक भागों में पृथक-पृथक हुए उस देवों के देव के एक शरीर में स्थित था। (11/10,12,13)। श्री कृष्ण कहते हैं - हे अर्जुन ! मैं सब भूतों का आत्मा हूँ। सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त हूँ (10/20)। वास्तविक रूप से जो पुरूष उस परमात्मा को समान रूप से सब में स्थित हुआ देखता है वह आत्मा को नष्ट नहीं करता और उच्च मार्ग पर चलता है (13/29)। वह (ब्रह्म) जिससे सर्व भूतों की उत्पति हुई और जो सर्वव्याप्त है उसी की पूजा से अपने स्वाभाविक धर्म पर लगे रहने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है (18/46)। हे कुन्ती पुत्र! जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली है वही ब्रह्म को प्राप्त होता है, वह ज्ञान की सबसे ऊंची निष्ठा है। इसको मुझसे संक्षेप में जान ले (18/50) इत्यादि अनेक श्लोकों में पुरूषोतम के आत्मा स्वरूप या अक्षर पुरूष का वर्णन किया गया है जो ज्ञान की उच्चतम सीमा का परिणाम है। इस विश्व स्वरूप का दर्शन करने के बाद अर्जुन को हर तरफ वासूदेव ही वासुदेव दिखाई देने लगते हैं। यही ज्ञान की पराकाष्ठा है। इस ज्ञान की प्राप्ति कर अर्जुन श्री कृष्ण के चरणों में गिर जाता है और अपनी गल्तियों के लिए उनसे क्षमा याचना करता है कि उसने श्री कृष्ण को सखा माना और मित्र जैसा व्यवहार किया। यहां से अर्जुन का भक्ति योग शुरू होता है। इससे ऊंचा स्वरूप केवल भक्ति का विषय कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि शास्त्रों में कहा गया सहस्रार या सहस्रदल कमल का अविनाशी पुरूष जो हजारों ज्योति के प्रकाश के समान है वह यही अक्षर पुरूष है। क्षर पुरूष (जीवात्मा) कर्म योग की उच्चतम अवस्था है और अक्षर पुरूष (आत्मा) ज्ञान की उच्चतम निष्ठा कह कर वर्णन किया गया है।

गीता का तीसरा और सर्वोतम पुरूष पुरूषोतम है जिसे परमात्मा, परम् ब्रह्म या परम अक्षर कहकर भी वर्णन किया गया है। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं - परम अक्षर वह है जिसका कभी नाश नहीं होता वह

परमब्रह्म परमात्मा है (8/3)। इसलिए उस अव्यक्त ब्रह्म से परे जो लय-प्रलय में आता रहता है, दूसरा सनातन, स्थित अव्यक्त है वह सब को नाश कर देता है लेकिन स्वयं नष्ट नहीं होता। इस मार्ग को परम गति कहा जाता है जो इस अन्तिम गति में पहुंचते हैं वह पीछे नहीं आते। यही मेरा धाम है। हे पार्थ! इस परमात्मा स्वरूप को केवल दृढ़ भक्ति से प्राप्त किया जाता है, उसी में सब जगत रहता है और वही सब में व्यापक है। इसमें जाकर योगी वापिस नहीं आते (8/20-23)। जिसकी बुद्धि सर्वत्र आसक्ति रहित है, स्पृहा रहित है, कामनाएं मरी हुई हैं, वह त्याग से परब्रह्म को प्राप्त होता है। जो समस्त बंधनों से पूर्णतया रहित है वह भक्ति के द्वारा मेरे तत्व को समझता है कि मैं कैसा हूँ, मुझे इस तरह तत्व से जानकर वह ब्रह्म में प्रवेश हो जाता है। मेरी शरण लेकर कृपा से कर्म करता हुआ वह सनातन अविनाशी परम् पद को प्राप्त हो जाता है। जिसने तप नहीं किया, जिसमें भक्ति नहीं है, जिसे उसे सुनने की इच्छा नहीं है, जो मेरी निंदा करता है उससे यह रहस्य कभी न कहना चाहिए (18/49,55,56,67)। अत: पुरूषोतम का यह स्वरूप ओंकार या प्रणव पुरूष या प्रणव शब्द का वर्णन है जो ब्रह्म की उच्चतम परब्रह्म अवस्था है और स्पष्ट कहा गया है कि इसकी प्राप्ति केवल भक्ति योग से ही की जा सकती है क्योंकि भक्ति में ही सर्वोच्च सत्ता के अन्दर पूर्णतया समाने का गुण होता है। कर्म या ज्ञान योग से इस स्वरूप की प्राप्ति नहीं की जा सकती है।

गीता में एक महत्वपूर्ण संदेश और भी दिया गया है। श्री कृष्ण कहते हैं - जिनका ज्ञान कामनाओं वश भ्रष्ट हो गया है वह देवताओं को पूजते हैं, यह अपनी प्रकृति के अनुसार बाहरी नियमों में आस्था रखते हैं। जो सकामी भक्त जिस देवता को श्रृद्धा से पूजता है मैं उसके विश्वास के अनुसार उसकी कामना को पूरी करता हूँ। उन अल्प बुद्धि वालों के (कर्मों के) फल सीमित होते हैं, देवताओं को पूजने वाले देवताओं को

प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं (7/20, 21, 23)।

श्री कृष्ण अपने साकार और निराकार स्वरूप की महत्ता का वर्णन करते हुए कहते हैं - जो मुझमें (साकार रूप में) मन लगाकर और निरंतर मेरे में लगे हुए अतिशय श्रद्धा से मुझे पूजते हैं वह लोग मेरी राय में उत्तम योगी हैं। जो निराकार का ध्यान करते हैं उनको कठिनता अधिक होती है क्योंकि निराकार का मार्ग साकार से कठिन है, उसमें कठिनता से पहुंच होती है। जो लोग एकाग्रचित होकर मुझे भजते हैं, मैं उनको मृत्यु रूप संसार सागर में शीघ्र ऊंचा उठा लेता हूँ, उनका चित् मुझमें लगा रहता है। (12/2, 5, 6, 7)।

16. श्री अरविन्द कृत समग्र योग या सम्पूर्ण योग :

श्री अरविन्द का सम्पूर्ण योग गीता योग की ही विस्तृत व्याख्या है जिसे वे अपनी पुस्तक 'एसेस आन द गीता' में विस्तार के साथ करते हैं। उन्होंने गीता योग को एक कदम आगे बढ़ाया है जिसे वे रूपान्तरण (Transformation) की संज्ञा देते हैं। इस रूपान्तरण में पुरूषोतम अर्थात् अतिमानसिक चेतना (Supramentalisation) के उच्चतम अनुभव को भौतिक, प्राणिक, मानसिक, अन्तर्मानसिक और आध्यात्मिक चेतना अर्थात् शरीर (पदार्थ), प्राण, मन, जीवात्मा और आत्मा में उतारना है। यह अतिमानसीकरण गीता के पुरूषोतम का अनुभव है। रूपान्तरण का कार्य एक लम्बी प्रक्रिया है जो थोड़े समय में सम्भव नहीं है क्योंकि अभी तो मानव पाशविक और दानवी चेतना के संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाया है। इससे आगे उसे बहुत लम्बा रास्ता तय करना है तभी अतिमन (Supermind) की चेतना इस पार्थिव जगत को अपने प्रकाश व आनन्द से तृप्त कर पाएगी। हृदय पुरूष अर्थात् अन्तर्मन (Psychic being) की चेतना ही इस कार्य को सुन्दरता के साथ पूर्ण कर सकती है क्योंकि यही वह पुरूष है जो विश्वकर्मा बनकर इस रचना के एक-एक

व्यक्तित्व को तराश रहा है लेकिन दु:ख की बात यह है कि यह हृदय चेतना या चैत्य पुरूष (Psychic being) भी अभी तक स्थापित नहीं हो पाया है। मनुष्य इच्छा-पुरूष (Desire-soul) के अधीन हुआ जा रहा है और प्रकृति की काली ताकतों के हाथों बेरहमी से लूटा जा रहा है। जब इच्छा-पुरूष (Ego-soul) का रूपान्तरण होगा; आत्मशुद्धि आएगी, समर्पण की मजबूती होगी तभी जाकर इस हृदय पुरूष का उदय होगा। यह हृदय पुरूष (जीवात्मा) अपने शुद्ध स्वभाव में अतिमन का सनातन अंश है, प्रेम है, आनन्द है। जब इस पुरूष की स्थापना हो जाएगी तभी भौतिक सत्ता के अचेतन और अवचेतन का रूपान्तरण संभव है। रूपान्तरण का यह कार्य आध्यात्मिक (आत्मिक) चेतना या उर्ध्वमन (Universal mind) के स्तर से सम्भव नहीं हो सकता है क्योंकि यहां से हजारों धाराएं निकलती हैं जो अपने आप को स्थापित करने के लिए, अपने सुख को भोगने के लिए संघर्ष करती रहती हैं और एक दूसरे की सत्ता को अपने स्वार्थ के लिए दबाती रहती हैं, उनका शोषण या प्रयोग करती रहती हैं। आध्यात्मिक स्तर का रूपान्तरण शान्तिमय नहीं होगा बल्कि क्लेशयुक्त और भंयकर होगा जो एक बार मानवी चेतना को हिला कर रख सकता है क्योंकि ब्रह्मण्डी मन (Universal Mind) अपने नियम से कार्य करता है। सामान्य चेतना जो हर व्यक्ति और कण-कण में व्याप्त है उसका नियम अतिमानसिक चेतना से भिन्न है। अत: इसके लिए अन्तर्मन ही अतिमन का यंत्र बन सकता है क्योंकि सारी भौतिक चेतना के साथ इसका साक्षात संबंध है। यही मानसिक चेतना और बुद्धि की अन्त: प्रेरणा (Inspiration) बनकर कार्य करना है। इसलिए रूपान्तरण के कार्य के लिए अन्तर्मन का चयन उचित बताया गया है। श्री अरविन्द का विश्वास है कि एक दिन अवश्य आएगा जब अतिमन (Supermind) का महाप्रकाशवान व प्रज्ञावान स्वरूप भौतिक जगत के अचेतन और निश्चेतन को भी

प्रकाशित करेगा। पशु जो मानव से पहले पृथ्वी पर आए थे, उसी चेतना के विकास क्रम में स्वयं की क्या मानवीय सम्भावना के बारे में अनुमान लगा सकते थे? इसी विकास क्रम में एक समय आएगा जब इस पृथ्वी पर अतिमानसिक मनुष्य आएगा। आज इस बात पर विश्वास करना आसान नहीं है लेकिन विकास की इस प्रक्रिया में उच्चतम सत्ता का प्रकट होना समय की अनिवार्यता है। रूपान्तरण का यह कार्य अतिमन अपने समय पर अपनी ही तरह से करेगा।

शंकराचार्य का अद्वैत सिद्धांत जो बौद्धिक स्तर से उदय हुआ था श्री अरविन्द ने उसे क्रियात्मक स्तर पर उतार दिया है। उन्होंने सांख्य-योग के द्वैत सिद्धांत को भी स्वीकारा है, रामानुज आचार्य के विशिष्ट अद्वैत व शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत को भी और गीता के अवतारवाद को भी। अनेकता को एकता में बड़ी सुन्दरता के साथ पिरो दिया है। अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का अनुपम दर्शन इस योग की विशेष बात है।

श्री अरविन्द के समग्रयोग का वर्णन गीता की तरह तीन चरण में पूरा होता है जो इसका आन्तरिक स्वरूप है। यह योग तीन स्तर पर परमात्मा के अनुभव को उतारता है। पहले स्तर पर कर्म योग, दूसरे पर ज्ञान योग और तीसरे स्तर पर भक्ति योग की मुख्यता है। यद्यपि कर्म व ज्ञान योग अन्तिम स्तर तक भी अपने उत्तम स्वरूप में बने रहते हैं। पहला स्तर है मनुष्य के हृदय के अन्दर (In us), दूसरा उसके चारों तरफ व कण-कण में (Around us) और तीसरा स्तर मनुष्य के ऊपर ब्रह्मण्डी चेतना (Above us all cosmic consciosusness) जिसके साथ ज्ञान की उच्चतम अवस्था में भी योग नहीं हो पाता है। पहले स्तर पर जब साधक कर्म के सिद्धांत को समझ जाता है तो अपने सभी कर्म व उसके फल परमात्मा को समर्पित करने लगता है, यहां तक कि कर्म करने में भी कोई आसक्ति नहीं रहती है। केवल पूर्ण सत्ता का

यंत्र बनकर उसकी इच्छा में ही रहता है और उसी की इच्छा को व्यवहारिक स्तर पर उतारता है, तब धीरे-2 उसकी आत्म शुद्धि होती जाती है और समर्पण की भावना मजबूत होती जाती है लेकिन फिर भी मनुष्य द्वैतवाद के घेरे में आता जाता रहता है क्योंकि उसे अभी तक परमात्मा की सत्ता की कोई झलक नहीं मिली है जिसके आधार पर उसका विश्वास कायम हो सके और भगवद्प्राप्ति की तरफ अपना कदम बढ़ा सके। जब निराशा बढ़ने लगती है तो उसके अन्दर हृदय गुफा में छिपा आलोकित पुरूष दृश्यमान हो जाता है लेकिन अपने प्रकाश की एक झलक देकर फिर छिप जाता है। समय-2 पर उसके विश्वास व श्रद्धा में मजबूती प्रदान करने के लिए उसकी आत्मशुद्धि के अनुसार प्रकट होने लगता है। ज्यों-2 अभ्यास बढ़ता जाता है वही पुरूष अपने लगातार प्रवाह में प्रकट हो जाता है और अपनी ताकत से साधक की शारीरिक, प्राणिक और मानसिक चेतना का रूपान्तरण करना आरम्भ कर देता है। इस रूपान्तरण के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए साधक की ईमानदारी और गहरी इच्छा का होना जरूरी है क्योंकि इस पुरूष के अन्दर से अन्तः प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान का स्रोत निकलता है। यदि साधक की प्रकृति इसकी स्वीकृति के लिए तैयार नहीं है तो उसकी आगे की उन्नति रूक जाती है। श्री अरविन्द ने इसे अन्तर्मन या चैत्य पुरूष (Psychic being) कहा है जो इस क्षर या नाशवान संसार का कर्म पुरूष है इसलिए इसे क्षर-पुरूष भी कहा गया है। यहां पर आकर कर्म योग की पूर्णता हो जाती है। यह पहले स्तर की चेतना अर्थात् अन्तर्मन का अनुभव है जो हमारे अन्दर (In us) का पुरूष जीवात्मा है।

इसके बाद साधक की दूसरे चरण की यात्रा आरम्भ होती है लेकिन पहले स्तर की चेतना और दूसरे स्तर की चेतना के बीच गहरे अंधकार की रात्रि आती है जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक सावित्री में रात्रि (Night) कहकर वर्णन किया है जो विराधी ताकतों का स्थान है। दूसरे

स्तर की चेतना का साक्षात्कार करने पर साधक को अपने चारों ओर (Around us) ब्रह्मण्डी मन की चेतना का अनुभव होता है। इस पुरूष को श्री अरविन्द ने उर्ध्वमन (Overmind) कहा है, इसे आध्यात्मिक चेतना, आत्मा, अक्षर पुरूष, सच्चिदानन्द् या निर्वाण का अनुभव कहा है। यह पुरूष ज्ञान का देवता है और ज्ञान की उच्चतम सीमा ही इसका स्वरूप है। यह पुरूष सहस्रार (Thousand petalled lotus) के स्थान पर विराजमान रहता है। इसका स्वरूप अत्यंत प्रकाशवान है जो हमारे रोम-रोम में प्रकाश और आनन्द का संचार कर देता है। यही इस ब्रह्माण्ड का सर्वशक्तिमान तथा कण-2 में व्याप्त अविनाशी आत्मा है जो अपरिवर्तनशील और अवर्णनीय है। इस स्थान पर मंदिर या चर्च के घंटे (Temple gong) का शब्द सुनाई देता है। श्री अरविन्द के अनुसार यह शब्द ब्रह्मण्डी चेतना के खुलने का प्रतीक है। उन्होंने सावित्री पुस्तक के अंतिम पृष्ठ पर लिखा है (नए प्रकाशन में लुप्त है) कि सावित्री शब्द (Word) है जो सृष्टि के विकास के लिए नीचे अवतरित हुआ है अर्थात् यही परमात्मा की शक्ति (Godhead) है। उन्होंने सावित्री को सूर्य-शब्द, अतिमानसिक शब्द, अतिमानसिक लोगोस, शरीरधारी शब्द, आदि नामों से पुकारा है। यही पुरूष काल (Time the Destroyer) बनकर सृष्टि की रचना करता है और अपने समय पर उसे निगल जाता है।

अंतिम स्तर की चेतना का साक्षात्कार बहुत की दुर्लभ माना गया है क्योंकि यह कर्म और ज्ञान का विषय नहीं है यद्यपि इन्हें भी साथ लेकर चलना पड़ता है। श्री अरविन्द भी गीता के पुरूषोतम की तरह कहते हैं कि प्रेम-भक्ति ही इस पुरूष का साक्षात्कार कर सकती है क्योंकि यह आनन्द पुरूष है और सारी रचना इसी प्रेम की अभिव्यक्ति है। इस पुरूष को उन्होंने अतिमन (Supermind), पुरूषोतम और इसे ही आनन्द-स्वरूप ब्रह्म कहकर वर्णन किया है। अतिमन के इस स्वरूप के दर्शन करने के लिए सावित्री को सहस्रार से ऊपर पड़ने वाले महाअंधकार में

से जाना पड़ता है जिसे उन्होंने अनन्त रात्रि (The Eternal Night) कहा है। यहां पर सावित्री गहन अंधकार की तामसिक शक्तियों के साथ संघर्ष करती है और मृत्यु के देवता का सामना करती हुई आगे बढ़ती है। ये काली ताकतें उसे पग-पग पर रोकने की कोशिश करती हैं लेकिन सावित्री अपने लक्ष्य पर अडिग रहती है। इस महाअंधकार को पार करने के पश्चात् ही उसे सम्पूर्ण आनन्द पुरूष उपलब्ध होते हैं। यहां सदा-प्रकाशवान दिवस है जिसे उन्होंने सावित्री की 11वीं पुस्तक (The Book of Everlasting Day) में कभी न समाप्त होने वाला दिवस (The Eternal Day) कहा है। यही सतपुरूष का धाम है जहां पर वीणा (Lyric sound), तुरही (Trumpet), शहनाई (Nuptial Hymn) के संगीत की धुन हमेशा बजती रहती हैं। अपनी पुस्तक 'द सिंथेसिस आफ योगा' में वे इसे सुपरामेंटल वर्ड, सुपरामेंटल लोगोस अर्थात् अतिमानसिक शब्द व अतिमानसिक लोगोस कहकर पुकारते हैं। श्री अरविन्द के विचारों से यहां का पुरूष भी अति सक्रिय मालूम पड़ता है क्योंकि वह भी सावित्री की परीक्षा लिए बगैर नहीं रहता है और कहता है कि यह स्थान बड़ा रमणीक है, यहां की रचना आनन्द से परिपूर्ण है। तुझे अपने स्वरूप सत्यवान की पूर्ण प्राप्ति हो गई है इसलिए अब इस स्थान पर रहकर इस आनन्द का भोग कर और सुख से रहते हुए नीचे की भौतिक सत्ता के दु:खों को इसके सुख में भूल जा। यही तेरा लक्ष्य है और भाग्य भी, आदि अनेक प्रलोभन सावित्री के समक्ष प्रस्तुत करता है लेकिन सावित्री इन सब को ठुकरा देती है और कहती है कि मुझे अपने स्वार्थ की पूर्ति नहीं करनी है और न ही मैं इस लक्ष्य को लेकर यहां तक आई हूं। जिस आनन्द का स्रोत मुझे प्राप्त हुआ है उस स्रोत में मैं पूरी भौतिक सत्ता को भागीदार बना देना चाहती हूं और उसमें दिव्यता भर देना चाहती हूं।

सावित्री का इस प्रकार का संवाद सुनकर सतपुरूष खुश हो

जाता है और उसे भौतिक संसार की चेतना का रूपान्तरण करने के लिए अपना प्रतिनिधि बनाकर भेज देता है। यहां आकर श्री अरविन्द का प्रेम योग पूरा हो जाता है। इस तरह से उनके समग्र योग की पूर्णता होती है। इसी अतिमानसिक अनुभव को नीचे के आध्यात्मिक स्तर, अन्तर्मन, मानसिक, प्राणिक और शारीरिक स्तर पर उतारने की बात कही गई है जो इन सबका रूपान्तरण करने के लिए आवश्यक है।

17. राधास्वामी योग:

राधास्वामी योग आन्तरिक अनुभव के आधार पर और क्रियात्मक रूप में दूसरे दर्शनों और योगों से आगे तक की अवस्था का वर्णन करता है। इस योग को सुरत-शब्द योग भी कहते हैं। यह मार्ग आत्मा की बहुत ऊंची अवस्था का वर्णन करता है। उपनिषद् व दूसरे शास्त्रों में ध्यान की ऊंची अवस्थाओं में शब्द, नाद, अक्षर, अनाहत, उद्गीत या शब्द-धुन का वर्णन किया गया है। अनेक स्थानों जैसे शिव पुराण आदि में यह लिखा गया है कि ओंकार (ॐ) वर्णात्मक नाम नहीं है बल्कि अन्तर में सुनने वाली ध्वनि है जो ओंकार पुरूष की आवाज है। गीता में इसे प्रणव या अक्षर पुरूष कहा गया है। ईसाई धर्म में इसे वर्ड या लोगोस कह कर वर्णन किया गया है और इसे ही रचना का कारण बताया है। तीसरी-चौथी शताब्दी में रोम और यूनान में एक धर्म प्रचलित था जो प्लोटीनस के सिद्धांत पर आधारित था। यह ईसा मसीह का मार्ग ही था जिसका वर्णन संत आगस्टिन ने भी किया। यह शब्द के आधार को ही मुख्य मानता है और कहता है कि जो वस्तु शब्द के निकट है वह सूक्ष्म है और जो शब्द से दूर होती गई उस पर माया (illusions) की परत चढ़ती गई तथा वह स्थूल से स्थूल होती गई। इस धर्म में शब्द को सृष्टि का कर्ता माना गया है और इसे ही ईश्वर का पुत्र ईसा मसीह कहा गया है जो हमेशा खुदा के साथ रहता है तथा खुदा तक पहुंचाने का एकमात्र साधन है लेकिन यह सिद्धांत भी शब्द के पूर्ण

स्वरूप को नहीं खोल पाया। केवल शब्द के बाहरी स्वरूप का वर्णन किया। गुरू नानक ने इसे पंच-शब्द धुनकार कहकर पुकारा है। शास्त्र, उपनिषदों में इसका वर्णन मिलता है, इसे अनहद शब्द, आकाशवाणी या श्रुति कहा गया है, अनहद वाणी, नाम धुन, गुरू वाणी आदि नामों से पुकारा गया है। मुसलमान फकीरों ने इसे कलमा (शब्द), कलामे इलाही (परमात्मा का शब्द), नदाय आसमानी (अलौकिक आवाज) कहकर पुकारा है। यूनानी दार्शनिक सुकरात कहते हैं कि उन्होंने अपने अन्दर एक ऐसी आवाज सुनी जो कि अकथनीय रूहानी देशों में ले गई। महात्मा बुल्लेशाह ने इसे शरोसा कहा है और ब्रह्मवादी अन्दर में सुनाई देने वाली शून्य की आवाज कहते हैं। नादबिन्दू उपनिषद् केवल इसी शब्द (नाद) के आधार पर बनाया गया है। गीता नाम से भी गीत का संकेत मिलता है। हठयोग, तांत्रिक योग और राज योग में भी शब्द और शब्द धुनों का वर्णन स्पष्ट तौर पर किया गया है। नाद योग व लय योग तो पूर्ण तौर पर शब्द योग पर आधारित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस किसी ने भी अपने अन्दर झांकने की कोशिश की उसे ही नाम के खजाने की झलक मिली लेकिन इस नाम (शब्द) का आधार नहीं मिल पाया। श्री अरविन्द ने कुछ हद तक इसका वर्णन किया लेकिन वे भी दूसरे महात्माओं की तरह इसे रहस्य का विषय बनाकर चले गए। उन्होंने इसे सावित्री कहा है और इस पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर स्पष्ट लिखा है (नए प्रकाशन में नहीं है) कि सावित्री परमात्मा का शब्द है जो रचना करने के लिए नीचे अवतरित हुआ। इसी शब्द को आधार बनाकर उन्होंने सावित्री जैसे विश्व के सबसे प्रसिद्ध और विशाल काव्य की रचना कर डाली। अपनी ऊंची अवस्था में उन्होंने इसी शब्द को अतिमानसिक शब्द या अतिमानसिक लोगोस और सावित्री के अध्याय The Eternal Day में इसे वीणा, तुरही, सितार आदि नामों से पुकारा है। ऊंचे मण्डलों में यही शब्द संगीतमय धुन बनकर गूंज रहा है।

इस विराट जगत का सारा कार्य इसी शब्द के स्थूल रूप द्वारा किया जा रहा है। मनुष्य के सारे ज्ञान का प्रचार व प्रसार इसी शब्द के द्वारा हो रहा है। इस स्थूल जगत का शब्द (वाणी) अपनी विकसित अवस्था में सबसे बाद में मनुष्य के अन्दर ही प्रकट हुआ। इससे नीचे की योनी में यह अर्धविकसित या अविकसित अवस्था में रहता है। मन व बुद्धि का अधिकतम विकास भी सृष्टि के अन्तिम चरण में आकर मनुष्य के अन्दर ही हुआ। मन आकाश तत्व का गुण है अर्थात् स्थूल जगत की सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु है। मन और चेतना के विकास के साथ आन्तरिक शब्द (वाणी) का विकास भी क्रम से होता गया है। चेतना का अधिकतम विकास मनुष्य के अन्दर हुआ। अत: शब्द की पूर्ण विकसित अवस्था भी मनुष्य के अन्दर ही प्रकट हुई। जहां भी शक्ति की उत्तमता रहती है, वहीं शब्द भी अपने उत्तम स्वरूप में विराजमान रहता है। जहां शक्ति में जड़त्व है वहीं शब्द भी जड़ या अविकसित होता चला गया है। इसका साक्षात प्रमाण रचना की हर अभिव्यक्ति में मौजूद है। अपने सूक्ष्म रूप में यही शब्द और भी चेतन होता चला गया है। प्रकाश इसकी बाहरी अभिव्यक्ति है। शब्द या ताकत में जब गति बढ़ती है तो यही प्रकाश बनकर प्रकट हो जाता है। कोई भी ताकत जब खुलती है या रचना करती है तो प्रकाश बनकर ही प्रकट होती है। इसी आधार पर इस सृष्टि की रचना हुई है, यही विज्ञान भी स्वीकार करता है, प्रकाश या सूर्य ही इस सौरमण्डल की ऊर्जा का एक मात्र साधन है। हर कण ऊर्जा बनकर उसी प्रकाश से प्रकट हुआ है। प्रकाश के प्रकट होने से पहले भी ताकत में गति रहती है और जहां भी गति है वहीं शब्द का होना भी अनिवार्य है। अत: शब्द ही गति है और रचना के आरम्भ होने का एकमात्र कारण है। शब्द व प्रकाश का पूरा वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। यही शब्द ब्रह्म व परब्रह्म की ताकत के रूप में संगीत की धुन बनकर ब्रह्माण्ड में गूंज रहा है। इसीलिये ब्रह्म व ओंकार पुरूष

को नाद ब्रह्म, अक्षर या शब्द, नादप्रणव, उद्गीत आदि नामों से पुकारा गया है। यह संगीत रचना की हर वस्तु को तर कर रहा है। रचना की हर चेतन सत्ता संगीत की तरफ अनायास ही खिंच जाती है। हर व्यक्ति के अन्दर यह गुण है कि वह संगीत सुनता-सुनता संगीत में लय हो जाना चाहता है। केवल स्थूल बुद्धि पुरूष ही इस रहस्य को नही जानते हैं। संगीत सुनकर पशु अधिक दूध देने लग जाते हैं, पौधे की बढ़वार पहले से ज्यादा होने लगती है। संगीत द्वारा आधुनिक विज्ञान रोगों का ईलाज कर रहा है। स्पष्ट है कि भूलोक की हर वस्तु इसी संगीत की अभिव्यक्ति है और अन्त में इसी संगीत में समा जाती है।

सुरत-शब्द योग में इसी संगीत को पकड़कर आध्यात्मिक (रूहानी) मंजिलें पार की जाती हैं। इन मंजिलों में बीच-बीच में अंधकार के मण्डल भी आते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि इस रचना में इस स्थूल जगत की रचना से परे प्रकाश व अंधकार के लम्बे-चौड़े मण्डल विद्यमान हैं जहां स्थूल या सूक्ष्म यंन्त्रों (रेडिएसन आदि) की पहुंच नहीं हो सकती है। यहां पहुंचकर सारे स्थूल साधन या यन्त्र तरंगों में बदल जाते हैं। आत्मा की सूक्ष्म धार ही इन मण्डलों की यात्रा कर सकती है। यहां किसी विचार या बुद्धि की पहुंच नहीं है। इनके अन्दर से वही ताकत पार हो सकती है जो इन से भी सूक्ष्म व उत्तम हो और इनके साथ मेल रखती हो। स्थूल यंत्रों या बुद्धि से इन मण्डलों का रहस्य पाना सम्भव भी नहीं है। इनका रहस्य तो वही चीज खोल सकती है जो धार बनकर इन मण्डलों की रचना करती हुई नीचे तक आई है। वह धार हमारी सुरत है, हमारी आत्मा है। इसके अनुभव के द्वारा ही इस रचना का कुछ रहस्य जाना जा सकता है लेकिन राधास्वामी योग का लक्ष्य इन मण्डलों में ठहरकर इनका पूरा भेदन करना नहीं बल्कि इनसे कहीं दूर ऊपर जाकर अपने आदि स्वभाव को प्राप्त करना है।

तो क्या है यह रहस्यमयी सुरत-शब्द योग जिस पर राधास्वामी

योग आधारित है? सुरत को अन्तर्नाद में जोड़ने की क्रिया को सुरत-शब्द योग कहते हैं। नाम का स्मरण (जप) व सतगुरू ध्यान के बाद ज्योतिर्मय बिन्दू उदय होता है। लगातार स्मरण, ध्यान व भजन के अभ्यास के बाद एक अन्तर्नाद प्रकट होता है जो मन के निग्रह के लिए सबसे श्रेष्ठ यौगिक क्रिया है। संत कबीर ने नाद योग को सहज योग कहा है। वे कहते हैं कि मन को वश में करने के लिए शब्द की खोज आवश्यक है:

शब्द खोजि मन बस करै, सहज योग है येहि ।
सत्य शब्द निज सार है, यह तो झूठी देही।।

गुरूनानक साहब की वाणी में भी इसका वर्णन है-

सबदि मरै तो मरि रहै, फिरि मरै न दूजी बार।
बिनु सबदै जग भूला फिरै, मरि जनमै बारोबार।।

संत चरणदास जी महाराज बहुत सुन्दर वर्णन करते हैं -

जबसे अनहद घोर सुनी, इन्द्री चकित गलित
मन हुआ, आशा सकल भुनी।।

सबसे पहले पूरी तरह से इस रहस्य को कबीर साहब ने खोला तथा उन्होंने एक शब्द के अन्दर 'कर नैनों दीदार महल में प्यारा है' इसका वर्णन क्रमबद्ध तरीके से किया है। उनके बाद गुरू नानक व दूसरे संत-महात्माओं ने इसे सतनाम ओंकार पुरूष व पंच शब्द धुनकार आदि नामों से पुकारा है और अनेक जीवों का कल्याण किया है। फिर सन् 1818 ई0 में हुजूर शिवदयाल जी महाराज आगरा शहर में प्रकट हुए जिन्होंने करीब15 वर्ष तक एक बन्द कमरे में रहकर सुरत-शब्द योग का अभ्यास किया। यहां तक कि अकसर दो-दो, तीन-तीन दिन तक बाहर नहीं आते थे। सन् 1861 में उन्होंने बसंत पंचमी के दिन राधास्वामी सत्संग की नींव रखी।

शब्द ताकत का नाम है। जहां ताकत रहती है वहीं उसमें गति भी विद्यमान रहती है और जहां गति हुई वहीं पर शब्द प्रकट हो जाता है।

अत: आरम्भ में जब परम् ताकत की इच्छा हुई कि मैं एक हूं, अनेक हो जाऊं - 'एकोऽहं बहुस्याम्' तब इच्छा से कम्पन हुआ और कम्पन के साथ शब्द का होना भी आवश्यक है। इसी शब्द को संतों ने सार-शब्द या आदि नाम कहा। यह आदि नाम परमपिता परमात्मा से हुआ, इसलिए इसमें परमात्मा तक पहुंचाने की शक्ति है। जो इसे प्राप्त करते हैं उनके अन्दर अनामी पुरूष के गुण आ जाते हैं अर्थात् वे अनामी-स्वरूप हो जाते हैं। अत: रचना के आरम्भ में जब ताकत के अन्दर हलचल पैदा हुई तो शब्द प्रकट हुआ। लेकिन इस ताकत के अन्दर इतनी हलचल नहीं थी कि इससे आगे की रचना का कार्य चल सके। इसमें और अधिक हलचल बढ़ी, ऐसा होने पर वह ताकत चक्राकार होती हुई नीचे आई या बाहर की तरफ निकली। यह स्वाभाविक है कि जब भी कोई शक्ति कार्य में बदलती है तो अपने चारों तरफ ऊर्जा का चक्कर बनाती हुई चलती है। इसी आधार पर पृथ्वी, सूर्य, आकाशगंगाओं और यहां तक कि एक सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु के अन्दर भी यह चक्राकार होकर गति कर रही है। किसी भी अस्तित्व की रचना के लिए हलचल पैदा होना, हलचल से शब्द प्रकट होना, उसमें गति आने से ताकत का चक्राकार होना और साथ ही ताकत (शब्द) का स्वरूप बदलना आधुनिक विज्ञान भी प्रमाणित करता है। जब वह ताकत चक्राकार हुई और पहले स्थान पर ठहरी तो एक मण्डल की रचना अस्तित्व में आई। कोई भी ताकत जब नीचे उतरती है तो वह अलग-2 स्थानों पर ठहरती हुई और मण्डल बनाती हुई नीचे उतरती है। इसका प्रमाण इस शरीर के छ: चक्र हैं। इस शरीर में जहां-2 आत्मिक या चेतन धार ठहरती है वहीं पर एक चक्र या मण्डल का निर्माण होता है। इन्हीं से शरीर की छ: प्रणालियां संचालित होती हैं, फिर भी सभी प्रणालियों के संचालन का केन्द्र मस्तिष्क में ही रहता है। इन प्रणालियों का वर्णन इस अध्याय के आरम्भ में कर दिया गया है। अत: आरम्भिक हलचल से शब्द का जो

केन्द्र बना उसे आदि-शब्द कहा जाता है और उस शब्द में आगे गति आने से जो धुन पैदा हुई उसको आदि-सुरत कहा गया। आदि-शब्द स्वामी है और आदि -सुरत राधा है। अगम लोक में जहां स्वामी की शक्ति सबसे पहले आकर ठहरी वहां राधास्वामी-राधास्वामी शब्द-धुन लगातार उठ रही है। यही राधा इस सृष्टि की आदि है, यही राधा स्वामी की शक्ति बनकर कण-कण में व्याप्त है। इसी धार को पकड़कर स्वामी के अनादि स्वरूप तक पहुंचा जा सकता है। यही राधा आगे मण्डल बांधती हुई नीचे उतरी और इस प्रक्रिया के दौरान शब्द से सुरत (आरम्भ में) और सुरत से शब्द लोक बराबर प्रकट होते आए तथा अपने-2 मण्डल पर कायम हुए। इस तरह से 18 मण्डलों की रचना हुई। इनमें छः मण्डल स्थूल रचना के, छः सूक्ष्म मण्डल और छः ही कारण मण्डल हैं जबकि लगभग सभी धर्म व सम्प्रदाय स्थूल (विराट) के छः मण्डल पार करते ही छटे मण्डल (आज्ञा चक्र) के ऊपर पड़ने वाले अंधकार मण्डल में जाते ही मुक्ति और असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प या निर्बीज समाधि की घोषणा कर देते हैं और कहते हैं कि यह प्रकृति की मूल अवस्था है। यहां पर चित्त पर कोई भी वृति तरंगित नहीं होती है और यही आत्मा का परमधाम व शून्य अवस्था, आत्मपद या तुरीयातीत अवस्था है जबकि राधास्वामी मत की शुरूआत ही इससे ऊपर के महाप्रकाशवान मण्डल सहस्रार से होती है जो ब्रह्म चेतना (सूक्ष्म चेतना) का पहला मण्डल है। इससे ऊपर ब्रह्म और परब्रह्म चेतना के पांच और मण्डल तथा सच्चखण्ड की चेतना के छः कारण मण्डल रह जाते हैं तब जाकर अनामी धाम में आत्मा का निजधाम और परमधाम है। इस पुस्तक में इन 18 मंजिलों का विस्तार से वर्णन किया गया है जिसमें अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा दूसरे सभी दर्शन व सिद्धांत पूर्ण तौर पर अपनी चरम सीमा को प्राप्त कर जाते हैं।

जहां तक समग्र योग में वर्णन किए गए रूपान्तरण का प्रश्न है

राधास्वामी योग में स्वतः ही एक कदम आगे की व्यवस्था है। रूपान्तरण की एक आवश्यकता है कि उच्चतम चेतना को भौतिक चेतना में उतारना है तभी पृथ्वी का जीवन परमात्मा की परम दिव्यता को प्राप्त होगा। राधास्वामी योग कहता है कि रचना में उच्चतम ताकत का उतार सामान्य चेतना के स्तर से नहीं हो सकता है, इसके लिए इस पृथ्वी पर उच्चतम मण्डल की सत्ता से भरपूर जीवित शरीरधारी पुरूष अर्थात् सतगुरू के साकार रूप का विद्यमान रहना जरूरी है। इसे संत मत में संत-सतगुरू कहा जाता है जिसके अन्दर सर्वोच्च भण्डार की ताकत हर समय झरने की तरह सजीव होकर बहती रहती है। जिस तरह से लोहे की छड़ी को चुम्बक बनाने के लिए एक बड़े चुम्बक या बड़ी ताकत के संयोग की आवश्यकता होती है उसी तरह से सामान्य चेतन पुरूष की चेतना को उठाने के लिए विशेष चैतन्य से भरपूर सतगुरू के साथ संयोग की आवश्यकता रहती है जो सामान्य चैतन्य या आध्यात्मिक चैतन्य के स्तर से होने वाली किसी भी क्रांतिकारी अव्यवस्था को अपनी ताकत से नियंत्रित करते रहेंगे और कण-कण में परम सत्ता की शक्ति का शांति और प्रेम से विस्तार होता रहेगा। राधास्वामी योग एक बात से और भी आगाह करता है कि ये काम केवल समय का सतगुरू ही कर सकता है, पिछले समय के गुरू या अवतार नहीं जो शरीर छोड़ कर जा चुके हैं। यदि हम पिछले की टेक पकड़ कर रखते हैं तो सर्वमुक्ति और सम्पूर्ण अमरता केवल एक स्वप्न बन कर रह जाएगी। क्योंकि जब समय का सतगुरू शारीरिक चोला छोड़ता है तो वह सहधर्मिता के नियम के अनुसार अपने स्तर की समष्टि चेतना में जाकर समा जाता है और हम उससे मदद नहीं ले सकते हैं। यह उसी तरह से है जैसे गुजरे हुए पति से विधवा का सधवा होना और उससे सन्तान उत्पत्ति की आशा रखना या गुजरे हुए उत्तम वैद्य से बिमारी का ईलाज करवाना या गुजरे हुए राजा से राज्य का अधूरा कार्य पूरा करवाना। यह कोरी कल्पना से ज्यादा कुछ

भी नहीं है। स्थूल लोक में केवल स्थूल इच्छाओं वाली आत्माएं ही मृत्यु के बाद रूक सकती हैं। यह नियम है कि स्थूल स्थूल में मिलने की इच्छा रखता है, सूक्ष्म सूक्ष्म में। वायु के अणु वायु के, पृथ्वी या जल के अणु पृथ्वी या जल के अणुओं के साथ ही पूर्ण एकता स्थापित कर सकते हैं। उच्चतम चेतना इच्छा रहित है केवल आनंद स्वरूप है, किसी इच्छा या विचार के रहते हुए उसमें नहीं समाया जा सकता है या उसका पूर्ण यंत्र नहीं बना जा सकता है। अत: राधास्वामी मार्ग करनी का मार्ग है, कथनी और कल्पनाओं का नहीं। इस मार्ग में असली और अमली सिद्धांत को पकड़ा जाता है। इसलिये पृथ्वी या पृथ्वी के जीवों का पूर्ण उद्धार तभी हो सकता है जब हमारा और हमारे जीवन का सीधा संबंध विशेष चैतन्य और सच्चखण्ड के महाचैतन्य शरीरधारी स्रोत के साथ बना रहेगा क्योंकि ऐसे शरीरधारी सतगुरू के अन्दर महाचैतन्य का विशाल समुन्द्र अपनी विशालता के साथ हिलोरें मारता रहता है जिसका सम्पर्क अभ्यासी की उन्नति के लिए अति आवश्यक है। यह कार्य पिछला पैगम्बर, अवतार, गुरू या गुरू का निराकार स्वरूप नहीं कर सकता है।

राधास्वामी योग भक्ति मार्ग है। ऊंचे मण्डलों की ताकत के साथ एकता स्थापित करने का गुण केवल प्रेम में ही होता है। कर्म योग और ज्ञान योग इस मार्ग में अपने आप ही पूर्ण हो जाते हैं। प्रेम सब मार्गों का आरम्भ है, स्रोत है, खुद परमात्मा और उसकी शक्ति है इसलिए दूसरे मार्ग इसकी परिधि के अन्दर ही आ जाते हैं। भक्ति मार्ग की सबसे पहली आवश्यकता है इच्छारहित होकर अपने ईष्ट के चरणों में विलीन हो जाना और स्वयं को भी भूल जाना। भक्त अपने सतगुरू से न तो मुक्ति मांगता है और न ही कोई दूसरी सुख की वस्तु चाहता है। वह तो पूरी तरह से उसके प्रेम में लीन हो जाता है। उससे एक क्षण की दूरी भी सहन नहीं कर पाता है। प्रेम जब अपनी पराकाष्ठा पर होता है तो साधक

प्रेम रूपी भट्ठी में तपकर आग के समान गर्म हो जाता है और उसका शरीर इष्ट या सतगुरू के वियोग में जलने लगता है। सांसों में भी गर्मी पैदा हो जाती है। सांसों की यही गर्मी सोई हुई कुण्डलीनी ताकत पर तथा दूसरे चक्रों पर चोट मारती है जिससे कुण्डलीनी या सर्पिणी शक्ति जाग उठती है और फुंफकारती हुई सामने प्रकाश के रूप में प्रकट हो जाती है। यही प्रकाश आरम्भ में आज्ञा चक्र पर सुदर्शन चक्र की तरह घूमता हुआ और सर्प के मूण्ड की तरह फैलता और सिकुड़ता हुआ प्रतीत होता है। प्राणायाम का आध्यात्मिक लक्ष्य केवल इतना है कि इसमें पान और अपान वायु के घर्षण से सबसे नीचे के चक्र (गुदा चक्र) पर गर्मी पैदा करना है और वहां पर सोई हुई कुण्डलीनी शक्ति को जगाना है। प्रेम की ताकत यह काम तो करती ही है इसके साथ-साथ ऊपरी चक्रों पर सोई हुई ताकत को भी प्रकट कर लेती है। इस मार्ग के महत्व को ज्ञानी नहीं समझ सकता है। प्रेमी सतगुरू को ही परमात्मा का साकार रूप समझता है और जब उनके प्रति समर्पण मजबूत हो जाता है तो उसके सारे कर्म और उनके फल सतगुरू रूपी यज्ञ में आप ही भेंट चढ़ते रहते हैं, यह कर्म योग की पूर्णता है। ऐसा यज्ञ ज्ञानी के लिए कभी सम्भव नहीं हो पाता है। वह क्षण-2 हर बात को बुद्धि की तराजू पर रखकर तोलता रहता है और अनेकता के मण्डल से अर्थात् सामान्य चेतन से कभी नहीं उभर पाता है। प्रेमी-भक्त सतगुरू में इतना समा जाता है कि उसे कण-कण व रोम-रोम में सतगुरू ही सतगुरू नजर आने लगते हैं, यही ज्ञान की उच्चतम निष्ठा है जिससे साधक अपने चारों ओर परमात्मा ही परमात्मा या गीता में कहे गए शब्द वासुदेव ही वासुदेव देखता है, यही ज्ञान का उच्चतम स्वरूप है और लक्ष्य भी। अत: भक्ति मार्ग में कर्म और ज्ञान योग सुगमता से पूरे हो जाते हैं। समाधि की उच्चतम अवस्था की प्राप्ति अभ्यास द्वारा निर्विघ्न हो जाती है।

साधक में ज्यों-ज्यों चेतना की एकाग्रता बढ़ती जाती है उसके

अन्दर प्रकाश व शब्द भी बढ़ते जाते हैं और हर मण्डल पर उनका नाम व स्वरूप भी बदल जाता है तथा साधक हर मण्डल की ताकत के साथ एकता स्थापित करता हुआ अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ता जाता है। जब साधक सतगुरू से दीक्षा लेता है तो सतगुरू उसे हर मण्डल पर आने वाले शब्द व प्रकाश के स्वरूप के बारे में बताते हैं ताकि साधक रास्ते में कहीं भटकने ना पाए। इसलिए स्पष्ट है कि राधास्वामी योग आन्तरिक और व्यावहारिक स्तर पर उच्चतम व पूर्ण योग है जिसकी समझ केवल साधन और अभ्यास से ही आ सकती है, इसके सिवाय कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

18. अन्य दर्शन:

इस समय कई अन्य मत व मतान्तर भी हैं जैसे ब्रह्मकुमारी मत, हंसादेश, ओशो, निरंकारी मार्ग, आनंद मार्ग आदि। इन सभी मार्गों का लक्ष्य प्रकाश का पहला मण्डल अर्थात् आज्ञा चक्र है इसलिए इन सब की मंजिल योग और वेदान्त की सम्प्रज्ञात समाधि है। ज्योति के दर्शन को ही ज्योतिस्वरूप ब्रह्म के दर्शन मानकर इन मार्गों की यात्रा समाप्त हो जाती है। ओशो मार्ग निर्मन और मन की साक्षी अवस्था पर बल देता है जो पहले प्रकाश के मण्डल से पार जाने पर शून्य मण्डल में प्रत्यक्ष होती है। इसे उन्होंने अपनी पुस्तक 'समाधि के सप्त द्वार' में आनंद का विशाल समुंद्र कहा है जहां जाकर कोई वापिस नहीं आता और इसे ही महात्मा बुद्ध की निर्वाण अवस्था बताया है जिसकी ड्योढ़ी पर जाकर महात्मा बुद्ध अपना सुख और आनंद छोड़कर महाकरूणा और महासुखकाया का संदेश लेकर सर्वहित के लिए वापिस आ गए थे। यही योग और वेदान्त की असम्प्रज्ञात समाधि है। ओशो ओ३म् को अन्तर में गूंज रहे नाद व शून्य की आवाज कहते हैं। आनन्द मार्ग सूरत-शब्द के अभ्यास को साधना की उच्चतम भूमि मानता है, लेकिन इसमें भी शब्द स्वरूप का पूर्ण वर्णन नहीं किया गया है।

अध्याय 2

अभ्यास का अर्थ व लक्ष्य

अभ्यास का अर्थ है किसी भी विचार या कार्य का बार-2 अनुसरण करते हुए अपने इच्छित उद्देश्य की प्राप्ति में लगे रहना। अभ्यास का नियमपूर्वक करना तथा दूसरे समय में भी उस विचार या कार्य के साथ इतना जुड़ जाना कि खुद को भूलकर उस कार्य या विचार के आधार में बहती हुई चेतना की धार में समा जाना ही अभ्यास की सफलता को दर्शाता है। इसी के आधार पर विज्ञान की बहुत सी खोजें सम्भव हो पायी हैं। वैज्ञानिक कोई भी खोज करता-करता उसके अन्दर इतना खो जाता है कि अपने परिवार और रिश्तेदारों तक को भूल जाता है, तब जाकर किसी नयी खोज का अविष्कारक बन पाता है। वह उस विषय के साथ इतना जुड़ जाता है कि उसे स्वप्न भी उसी तरह के आने लगते हैं। यह करते हुए वह इस ब्रह्माण्ड की विश्व आत्मा की धार के साथ जुड़ जाता है और अविश्वसनिय अविष्कारों को ढूंढ कर ले जाता है।

ये सब बातें निर्भर करती हैं कि हमने एक विशेष कार्य या विचार को अपने मन व बुद्धि के अन्दर कितना तपाया है और शरीर रूपी यन्त्र से कितना कार्यान्वित किया है। अभ्यास में कार्य की आत्मा या उसकी ऊर्जा के साथ एकमएक हो जाना होता है। यह वह ऊर्जा है जो उस विचार को खींच रही है, उस कार्य के अस्तित्व को बना रही है और उसका विलय भी कर रही है। सवाल उठता है कि क्या किसी विचार, कार्य या सूक्ष्म धार के अन्दर कोई और ताकत भी विद्यमान रहती है जिसके साथ हमें एकमएक होने की आवश्यकता पड़ती है। अगर हम कर्म की उच्चतम अवस्था को अनुभव करना चाहते हैं तो हमें खुद को कर्म का रूप बनाना होगा तभी हम कर्म की ऊंचाई को समझ

पाएंगे। इसी तरह ज्ञान व उपासना में भी पूरी तरह उतर जाने पर ही उसकी गहराई और एक सत्यता के दर्शन कर सकते हैं। रास्ता लम्बा या छोटा हो सकता है। इस सवाल का जवाब देने के लिये हम कह सकते हैं कि हर मण्डल, हर परमाणु या हर जीवित कोशिका के अन्दर शक्ति का एक मध्य बिन्दू होता है जहां से उसका सारा कार्य चलता है। जहां पर उस परमाणु या कोशिका की हर सम्भावना सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है, वह उसकी जात (Self) है। अब उचित वातावरण मिलते ही वह जात उस तत्व या कोशिका के गुणों को प्रकट कर देती है लेकिन फिर भी उसकी जात उसमें विद्यमान रहती है। अगर जात या उसकी संचालन करने की ताकत नष्ट हो जाए तो उसके सभी गुण विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। अत: हर छोटे से छोटे अस्तित्व के अन्दर उसकी जात (निज स्वरूप) और गुणसूत्र विद्यमान रहते हैं इनके बिना कोई वजूद सम्भव नहीं है।

अब कार्य या विचार की बात आती है। आधुनिक वैज्ञानिक कहता है कि यहां सभी कुछ ऊर्जा है, शक्ति है। बिना ऊर्जा के कुछ भी नहीं है। यदि खेत में खाद डाल रहे हैं तो ऊर्जा जमा कर रहे हैं और यदि फसल पकने के बाद काट रहे हैं तो ऊर्जा (Energy) काट रहे हैं। वह यह भी कहता है कि इस ब्रह्माण्ड की ऊर्जा की मात्रा स्थिर है उसे न घटाया जा सकता है और न बढ़ाया जा सकता है, सिर्फ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में तबदील किया जा सकता है। यह नियम 'ऊर्जा संरक्षण का सिद्धांत' (Law of Conservation of Energy) कहलाता है। महान वैज्ञानिक आईनस्टाईन ने इसके साथ वह फार्मूला भी बताया है कि किस पदार्थ में कितनी ऊर्जा है और कितने पदार्थ से कितनी सूक्ष्म ऊर्जा पैदा की जा सकती है। इसी सिद्धांत के आधार पर देश के बड़े-2 बिजली व तापघर कार्य कर रहे हैं। अब बात आती है विचार की। क्या विचार के अन्दर भी एक चेतन ऊर्जा बैठी हुई कार्य कर रही

है जिसके साथ हमें एकमएक होने की आवश्यकता है? यदि शरीर में चेतन ऊर्जा न हो तो विचार को पैदा करने वाली ताकत, विचारों को एक बहाव में पिरोने वाली ताकत तथा उसी विचार को एक जगह बांध कर उस सूक्ष्म विचार को जुबान द्वारा स्थूल अवस्था में प्रगट करने वाली ताकत का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। अत: वही ताकत एक विचार के अन्दर सूक्ष्म रूप में बैठी है तथा उस विचार का जुबान द्वारा कार्य में प्रकट हो जाने पर वही ताकत स्थूल रूप में भी बैठी हुई है तथा कार्य को सम्पन्न कर रही है अब विज्ञान कहता है कि हम जो आवाज शब्दों के रूप में बाहर फैंक रहे हैं यह भी मुख से बाहर आकर अपना रूप बदल लेती है और इस वातावरण में सोख (जज्ब) ली जाती है। जो आवाज हमारे अन्दर से बाहर आती है वही तरंग बनकर दूसरे के कानों तक जाकर मस्तिष्क में चली जाती है और बिजली की धारों में परिवर्तित होकर जमा होती रहती है तथा स्मृति बन जाती है। अत: वही ताकत स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल रूप में बदलती रहती है।

अत: कार्य में, विचार में एक ऐसी शक्ति विद्यमान रहती है जिसको हमें बींधना है और उसके कारण तक पहुंच कर कार्य या विचार को समझना है। अन्दर जाकर बाहर की गति को पकड़ना है। अन्दर या गहराई में जाए बिना किसी भी अस्तित्व की बाहर की कार्यविधि को पकड़ पाना एक असम्भव कार्य है।

इसके बाद हमें कार्य और विचार के अन्दर बह रही सूक्ष्म ताकत को भी छोड़ना है क्योंकि विचार और कार्य परिवर्तनशील हैं जो बनते रहते हैं, बिगड़ते रहते हैं, इसलिए अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं अर्थात् सुख-दु:ख की परिधि में ही रह जाते हैं। जहां पर अच्छा-बुरा, सुख-दु:ख विद्यमान रहता है वहीं खिंचाव रहता है। द्वैतवाद, त्रैतवाद और सहस्रवाद का जन्म होता है और एक समय ऐसा आता है जब वह हमें इस रचना की निम्नतर अवस्था में ले जाकर खड़ा कर देता है और

हम मूक बनकर उसके पीछे पीछे कर्मानुसार चलते रहते हैं। अत: इससे भी ऊपर उस ताकत का साक्षात्कार करना है जो आत्मसंयमी है, इन सभी अवस्थाओं से ऊंची है, सकारात्मक और नकारात्मक गुणों से ऊपर है, गुणों से उदासीन है लेकिन गुणों का स्रोत है और अपने ही स्वरूप में समायी रहती है। उससे सारे गुण पैदा किए जा सकते हैं। सभी गुण व आकृति उसकी ताकत से पैदा होते रहते हैं और नष्ट होते रहते हैं। गुण उसे पैदा या नष्ट नहीं कर सकते हैं। वह इनसे श्रेष्ठ अवस्था है। इसी का नाम सुरत या आत्मा है। वह ऐसी अवस्था है जहां आनन्द है और जहां से बुद्धि या चित् और कर्म अर्थात् सत् का प्रादुर्भाव होता है। ये साक्षात्कार हमें अभ्यास द्वारा करना है।

एक अवस्था और भी ऊपर रह जाती है जिसे सन्त मत में चौथा पद कहा जाता है। आत्मा किसी भी अवस्था में है, दो तरह की ताकत पैदा करती है, मानसिक तथा शारीरिक। जब आत्मा इन दोनों को पैदा करने वाली शक्ति है तो ये कैसे हो सकता है कि वह इन दोनों गुणों से पूरी तरह निर्लेप रह सकती है। गहरी निद्रा अर्थात् सुषुप्ति में मनुष्य शारीरिक व मानसिक अनुभवों को भूल जाता है, स्थूल व सूक्ष्म इन्द्रियां निरर्थक पड़ जाती हैं और अपने आपको भूलकर अपने कारण रूप में समा जाती हैं लेकिन क्या पुन: जागने के बाद वे अपना संकल्प विकल्प भुला पाती हैं, अपनी प्रवृति का रास्ता छोड़ पाती हैं? कभी नहीं। अत: इस अवस्था से भी पार जाने की आवश्यकता है। दूसरा उस गहरी निद्रा में भी कुछ ऐसा अनुभव करने वाला रहता है जो निद्रा के गहरेपन को महसूस करता है और उठने के बाद हमें निद्रा के आनन्द को स्मरण कराता है तथा हर तरह की प्रवृति में भी उस गहरी निद्रा के सुख को अनुभव करवाता रहता है। इसे ही महाकारण कहा जाता है। जब यही अवस्था ध्यान-अभ्यास के द्वारा प्राप्त कर ली जाती है तो उसे चौथा पद या सच्चखण्ड का अनुभव कहा जाता है। इस अवस्था में आकर मुनष्य

कर्म करता हुआ भी अकर्मी बना रहता है। कारण में कुछ समय के लिए स्थूल व सूक्ष्म इन्द्रियों के संकल्प-विकल्प दब जाते हैं लेकिन महाकारण में उन संकल्प-विकल्पों का कारण अर्थात् संस्कार व निरोध के बीज भी जल जाते हैं। ये बीज किस तरह से दग्ध होते हैं इसका वर्णन आगे चल कर किया जाएगा।

अत: हमें अन्तरतम की गहराईयों में बसे उस अति चेतन पुरूष का साक्षात्कार व अनुभव करना है जो सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं कर रहा है। सारा अस्तित्व समेटे हुए भी इससे निर्लेप है। विश्व चेतना व आनन्द का भण्डार होते हुए भी इनसे परे है। यह कार्य केवल अभ्यास द्वारा ही किया जा सकता है।

अध्याय 3

अभ्यास के अंग

संसार में जितने भी सन्त महात्मा आए उन्होंने इसी बात का उपदेश दिया कि सभी कुछ हमारे अन्दर है, बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। अपने अन्दर के पर्दे खोलो, सारा रहस्य अपने आप खुलता जाएगा और मनुष्य मंजिल-2 आगे बढ़ता हुआ आध्यात्मिक ऊंचाई को प्राप्त कर जाएगा। हमारे अन्दर अपार सम्पत्ति के खजाने भरे पड़े हैं, सारे रहस्य पर्दों के अन्दर छिपे हुए हैं लेकिन हम उनसे अनजान रहते हुए दुनिया में भीख मांगते फिरते हैं। सारे क्षणभंगुर संसार को अपने अन्दर समेट लेना चाहते हैं और उस अमृतमयी शांति से वंचित रहकर खुद कुंए के पास रहते हुए प्यासे के प्यासे चले जाते हैं। सारी जिन्दगी पूजा-पाठ, मूर्ति पूजा, तीर्थ व्रतों में उलझकर अपना कीमती समय बरबाद करके चले जाते हैं। इसलिए राधास्वामी पंथ में सबसे बड़े देवी-देवता का दर्जा माता-पिता को दिया गया है। स्वत: संत ताराचन्द जी कहते हैं कि माता की सेवा से पृथ्वी के सभी देवता और पिता की सेवा से आकाश के सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं और यदि इसमें कोई कमी रह जाती है तो समझना चाहिए कि हमने कुछ खो दिया है, लेकिन इस बात का रहस्य बहुत ही कम लोग समझ सकते हैं।

सांसारिक मुनष्य एक तत्व से बने मिट्टी के पत्थरों को देवता की तस्वीर में ढालकर उसकी पूजा करता रहता है लेकिन पांच तत्व से बने मनुष्य से नफरत और निरादर करता रहता है। ऐसा नहीं है कि मूर्ति पूजा करने से या तीर्थ-व्रत करने का कुछ भी लाभ नहीं है। लाभ अवश्य होता है, इसके द्वारा हम उस स्तर की चेतना से मेल कर सकते हैं जिस स्तर की चेतना उन मिट्टी के पत्थरों में है और ऐसा करके हम अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति भी कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त

विश्वास में बड़ी ताकत है। यही विश्वास हमारे अन्दर बिखरी हुई वृति को एकत्र करने में मदद करता है जिससे हमारी इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है लेकिन जिस स्तर के इष्ट की पूजा हम कर रहे हैं उसी स्तर तक का लाभ होना सम्भव है। ऊंचे भण्डार की चेतन ताकत तो एक चेतन मनुष्य को ही अपना निवास स्थान बना सकती है क्योंकि मनुष्य का शरीर पंचतत्व से बना हुआ है और इस ब्रह्माण्ड की उत्तम और इस रचना की अन्तिम कड़ी है। मनुष्य प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ और सभी गुणों व सम्भावनाओं से भरपूर आकृति है। अत: उस अखण्डनीय व सदा प्रकाशवान चेतन सत्ता का उत्तम मन्दिर मनुष्य का शरीर ही हो सकता है।

अब यदि हम इस बात पर सहमत हैं कि मनुष्य ही प्रकृति की सबसे श्रेष्ठ रचना है तो यह भी मानना होगा कि इसी के अन्दर अधिकतम अच्छाईयों व बुराईयों की सम्भावनाएं मौजूद हो सकती हैं। जो सबसे श्रेष्ठ होता है उसमें लचक अधिक होती है और उसका कार्यक्षेत्र भी विशाल ही होगा। वह पाताल के अंधकार का भी मालिक होगा और आकाश की ऊंचाईयों का भी। वह ताकत पूर्ण नहीं मानी जा सकती यदि उसमें अपार प्रसार व निराकार होने के गुण के साथ-साथ एक छोटे से छोटे कण या रूप के अन्दर बंध जाने व साकार गुण अपनाने की योग्यता नहीं है। कहने का अर्थ यही है कि किसी भी देवी या देवता को पूजते समय हम एक सीमित व निश्चित गुणों वाली ताकत की पूजा करते हैं इसलिए हमारे अन्दर सीमित गुणों का आना ही लाजमी है और ये सब मनुष्य के अन्दर द्वैतवाद और क्लेश को उत्पन्न करता है। इसी द्वैतवाद, त्रिपुटीवाद, सहस्रवाद से बचने के लिए संत-महात्माओं ने अभ्यास का रास्ता बताया है ताकि एक ही विश्वात्मा का दर्शन हो सके।

राधास्वामी पंथ में अभ्यास को एक विशेष महत्व दिया गया

है। बुद्धिज्ञान की बजाय आत्मिक ज्ञान पर अधिक जोर दिया गया है और यह ज्ञान प्राप्त करने के लिए रास्ते के भेदी किसी पूर्ण संत सतगुरू का साथ होना अति आवश्यक है। इसके बारे में अधिक जानकारी आगे के अध्यायों में लिखी जाएगी। अभ्यास का मुख्य मकसद विचारों व इन्द्रियों की धार को मोड़कर एक जगह एकत्र करना है ताकि जो ताकत विचारों या इन्द्रियों की तरफ बह रही है वह एक जगह एकत्र हो और उसमें ताकत पैदा हो। इसके लिये मन को विचारों से शून्य करना होता है क्योंकि विचारों से ही मनुष्य का सारा कार्य होता है। किसी भी कार्य को करने के लिए सबसे पहले बुद्धि में उसका नक्शा तैयार होता है फिर उसका सामान आता है और वही विचार कार्य में बदल जाता है। कोई भी विचार पैदा होते ही शरीर की विशेष ग्रन्थियों से सम्बन्धित रसायन निकालता है और कार्यों को पूरा करने में मदद करता है। इसलिये शारीरिक व मानसिक दौड़ को रोकने के लिये अभ्यास का साधन बताया जाता है ताकि जो ऊर्जा नीचे की तरफ बह रही है वह उर्ध्वगमन होकर मन के सूक्ष्म क्षेत्रों को पार कर सके।

अभ्यास की सार्थकता इस बात पर निर्भर करती है कि किस हद तक हमने अपने आपको विचारों या कर्म की बाहरी धार से अलग किया है और कितने हम आत्मा के अन्दर प्रवेश कर पाये हैं। ये सब करने के लिए हमें अभ्यास की तीन सीढ़ियों से गुजरना पड़ता है। ये हैं: स्मरण, ध्यान और भजन।

स्मरण:

साधना की आरम्भिक अवस्था में स्मरण का बहुत अधिक महत्व है। यहां तक कि ध्यान व भजन की सफलता भी स्मरण पर निर्भर करती है। स्मरण का अर्थ है कि किसी मंत्र या नाम का बार-बार जपना और एक विशेष स्थान की ताकत के ऊपर चोट मारकर कुण्डलीनी को जगाकर उसे ऊपर की तरफ मोड़ना। इसीलिए हमारे

ग्रन्थों में सभी चक्रों के लिए अलग-अलग नाम दिए गए हैं।

शास्त्र कहता है ये चक्र सूक्ष्म हैं और सूक्ष्म ताकत ही इन चक्रों पर विराजमान है। इसलिए स्थूल यन्त्रों से इनका पकड़ में आना मुश्किल काम है। शरीर के छ: स्थूल चक्रों को हर कोई मानता है। अत: इन्हीं छ: चक्रों के केन्द्र में विराजमान आत्मा की धार उनके केन्द्रों के काम का संचालन करती है, यही इन चक्रों की सूक्ष्म ताकत है जो स्थूल विद्या द्वारा प्रत्यक्ष नहीं की जा सकती है। ये अनुभव अभ्यास से किये जा सकते हैं। कोई भी गति सीधी नहीं होती है इसके अन्दर विद्यमान ताकत गोलाई या चक्रों में अपना मण्डल बनाती हुई गति करती है। हम जो आवाजें निकालते हैं और विद्युत चुम्बकीय तरंगें जो हमारे मस्तिष्क से निकलती हैं आदि सभी कुछ अपने चारों ओर मण्डल बनाता हुआ चलता है। बगैर चक्र बनाए किसी भी ताकत का फैलाव नहीं हो सकता है। किसी भी स्थान पर यदि कोई ताकत विद्यमान है तो यह जरूरी है कि वह अपने चारों ओर अपनी ताकत का मण्डल बना लेती है। यह नियम हर चीज या अस्तित्व के लिए सत्य है चाहे वह सूर्य से निकलने वाला प्रकाश का एक कण (फोटोन) है या एक परमाणु के अन्दर इलेक्ट्रान का घूमाव या एक पानी व अन्य किसी रसायन या मिट्टी के कण के बाहरी स्तर पर विद्यमान खिंचाव या पृथ्वी व अन्य किसी भी नक्षत्र का सवाल। ये सभी ही तो अपने चारों और अपनी ताकत को प्रदर्शित करते हैं और वातावरण के दूसरे क्षेत्रों या चक्रों को प्रभावित करते रहते हैं।

अत: जब शरीर के विभिन्न चक्रों पर कोई ना कोई काम हो रहा है तो वहां पर किसी ताकत का होना भी जरूरी है और उस ताकत के निजी मण्डल का होना भी जरूरी है जो पूरी तरह से स्थूल यन्त्रों की पकड़ में नहीं आ सकती है। इसी तथ्य को हिजनबर्ग का अनिश्चितता का सिद्धांत भी सिद्ध करता है।

स्मरण यही काम करता है कि हम किसी चक्र पर विद्यमान किसी ताकत के मण्डल में उस का नाम व पता लेकर प्रवेश करते हैं और साधन-अभ्यास से स्मरण के द्वारा एकमएक होकर उस स्थान के मालिक का रूप बन जाते हैं। इसके बाद अगला मण्डल शूरू होता है फिर उसमें प्रवेश करते हैं और इस तरह ऊपरी चेतन मण्डल की तरफ बढ़ते हुए कुण्डलीनी शक्ति की यात्रा में शामिल हो जाते हैं। अलग-अलग स्थान पर अलग-अलग ताकतों का निवास होता है और उनके अलग-अलग ही गुण होते हैं। इन सभी का वर्णन यहां करना सम्भव नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि हर स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगों के कमल होते हैं, उस कमल की पंखड़ियों के ऊपर भिन्न-भिन्न अक्षर होते हैं जिनके आधार पर भिन्न-भिन्न चक्रों के लिऐ भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं। इसी नाम का स्मरण करके उस स्थान या चक्र विशेष में सुप्त ताकत को जगाना है और उसके गुणों को धारण करके अगले चक्र में प्रवेश करना है। यदि नाम नीचे के मण्डलों का है तो हम उसी स्थान पर अटके रह जाते हैं और यदि ऊँचें मण्डलों का है तो नीचे के मण्डलों को पार कर ऊपर के मण्डलों में पहुंच जाते हैं जहाँ का हम स्मरण कर रहे हैं। इसीलिए सुरत-शब्द योग में सबसे ऊँचे मण्डल का नाम दिया जाता है।

लेकिन यह सारा काम अकेले स्मरण से नहीं होगा। स्मरण तो केवल हमारी बिखरी हुई वृति को एक जगह एकत्र करता है फिर उसे एक जगह ठहराने का काम ध्यान का है, इसलिए इससे अगला कदम ध्यान का है। स्मरण जितना पक्का होगा उतनी ही वृति को एकत्र करने में हम सफल होंगे। धीरे-धीरे नाम का स्मरण इतना पक्का हो जाता है कि कोई दूसरा काम करते हुए भी स्मरण चलता रहता है। इस प्रकार अंदर में नाम की एक धार बंध जाती है जो अपने साथ बिखरी हुई वृति को बांध कर उर्ध्वमुखी बनाती है। स्मरण यद्यपि अभ्यास का पहला

कदम है लेकिन इसे साधे बगैर ध्यान पर चढ़ना मुश्किल है। नाम दो प्रकार के होते हैं। (1) धुनात्मक (2) वर्णात्मक। वर्णात्मक नाम वह होता है जो सिर्फ जुबान से बोला जाए और धुनात्मक नाम वह है जिसकी अन्दर में धुन बजती है। यही नाम हमें हमारे लक्ष्य तक पहुंचाने में समर्थ है। वर्णात्मक नाम स्थूल तथा बाहर का नाम है। धुनात्मक नाम अन्दर में अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग धुन के साथ बज रहा है। उसी के साथ सुरत को एकमएक होकर आगे बढ़ना होता है। यह कैसे होता है इसके बारे में आगे लिखा जाएगा।

ध्यान:

स्मरण के बाद आता है ध्यान। ध्यान अभ्यास की अगली सीढ़ी है। बिना स्मरण के ध्यान नहीं बन सकता है। जो चेतना स्मरण द्वारा एकत्रित की गई है वह बहुत ही चंचल होती है क्योंकि वह बाहरी स्तर पर स्थूल पदार्थो में आती जाती रहती है। कभी अन्दर की तरफ खिंच जाती है तो कभी फैल जाती है। दु:ख हुआ तो सिमट जाती है, खुशी मिली तो फैल जाती है। यही कारण है कि कोई उदासी भरा समाचार सुनने पर या बिमारी में हमारे शरीर के अन्दर थकावट व भड़क हो जाती है और कोई खुशी का समाचार मिलते ही शरीर में ताकत का संचार हो जाता है। इसका अर्थ है कि दु:ख में यह ताकत शरीर के बाहरी हिस्सों से खिंचकर अपने भण्डार की तरफ झुक जाती है और खुशी के समय यह शरीर में फैल जाती है। इस स्तर पर यह चेतना अति संवेदनशील होती है और दु:ख-सुख का भान करती हुई इसमें फंसी रहती है। इसका दूसरा उदाहरण यह है कि जब हम अपनी मान-बड़ाई सुनते हैं या दान-पुण्य करते हैं तो उसके बाद हमें खुशी मिलती है तथा हमारे शरीर में मजबूती का संचार होता है और जब सतगुरू प्रेम में रोते हैं या तड़फते हैं तो शरीर में दर्द होकर यही चेतना ऊपर के मण्डल की तरफ सिमट जाना चाहती है अर्थात् बाहरी स्तर पर चेतना का व्यवहार बहुत ही

चंचल है।

इसलिए स्मरण द्वारा हम बाहरी स्तर की इस चंचल चेतना को एक जगह पर टिकाकर नहीं रख सकते हैं, यह काम ध्यान द्वारा सम्पूर्ण किया जाता है। ध्यान में मन को विचार शून्य करके तीसरे तिल पर आंखों के मध्य में चित्त वृति को केन्द्रित करना होता है। इसी स्थान से विचार पैदा होते हैं इसलिये यहीं पर उनमें बहने वाली शक्ति को बींधना है। दूसरा इस चक्र पर स्थूल शरीर की अधिकतम चेतना केन्द्रित रहती है इसलिये इसी स्थान पर स्थूल शरीर में बह रही संवेदनशील चेतना को ध्यान द्वारा स्थिर किया जाता है। जब अधिक मात्रा में चेतना इकट्ठी हो जाती है तो वही चेतनघन बनकर प्रकाश के रूप में प्रकट हो जाती है। शरीर की ऊर्जा ऊपर की तरफ बहने लग जाती है। इस बहाव में जितनी रूकावट होगी उतनी ही प्रकाश की मात्रा कम होगी और इस स्थान को बींधने में अधिक समय लगेगा, ऐसा क्यों होता है यह 'अभ्यास के विघ्न' में वर्णन किया जाएगा। सारे शरीर में विद्युत चुम्बकीय तरंगों का संचार होने लगता है, इसका वर्णन भी आगे के अध्यायों में किया जाएगा।

यहां पर आकर अधिकतर मत व सम्प्रदाय समाप्त हो जाते हैं और इसी को दसवां द्वार तथा मुक्ति या निर्वाण की अन्तिम मंजिल मान लिया जाता है लेकिन राधास्वामी योग में यह पहली सीढ़ी है। इससे आगे बहुत लम्बा रास्ता शेष रह जाता है। इसलिए बार-बार कहा जाता है कि संतों की मुक्ति दूसरे मत व सम्प्रदायों की मुक्ति से भिन्न है। इसका विस्तार से वर्णन 'अभ्यास की 18 मंजिलें' अध्याय में किया जाएगा।

भजन:

अभ्यास में शब्द या गीत का सुनना भजन कहा जाता है। इसी शब्द को अन्य ग्रन्थों में उद्गीत, वर्ड, लोगोस, नाद, शब्द ब्रह्म, कलमा,

नदाय आसमानी आदि नामों से वर्णन किया गया है। यही शब्द इस रचना का कारण है। वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति महानाद विस्फोट से हुई है जिसे बिग बैंग अर्थात् महानाद का सिद्धान्त कहा जाता है। कहने का अर्थ यही है कि यह सारी रचना शब्द से निकलती है, यही बात बाइबिल तथा तीसरी -चौथी शताब्दी में रोम से निकला प्लोटीनस का सिद्धान्त व अन्य धार्मिक ग्रन्थों में मिलती है।

ध्यान द्वारा वृति को तीसरे तिल पर स्थिर करने के बाद ऊपर की तरफ चढ़ाई आरम्भ होती है। यह भजन द्वारा ही सम्भव है। इस स्थान पर प्रकाश में माया व अशुद्धि का मिलाप होता है क्योंकि यह बाहरी स्तर की अशुद्ध चेतना है। आत्म-शुद्धि प्राप्त करने के लिए शब्द-धुन को प्रकट करना आवश्यक है। यह एक तरह की जीवंत चिंगारी है जो अन्दर में पड़े घास-फूस अर्थात् कर्म के बीजों को जागृत कर उनका दग्ध करती है। यह कैसे होता है, इसका वर्णन **'अभ्यास की 18 मंजिलें'** व **'अभ्यास के लाभ'** अध्यायों में किया जाएगा।

अभ्यास को पूर्ण करने के लिए इन तीनों अंगों की पूर्णता आवश्यक है। अभ्यास को सिद्ध करने के पश्चात एक समय ऐसा आता है जब अभ्यासी हर समय जागते, सोते व काम करते हुए इस शब्द की ताकत को साक्षात अनुभव करता रहता है। शब्द ही सच्चा सतगुरू बनकर प्रकट हो जाता है व अभ्यासी का हर समय हर हालात में मार्ग दर्शन करता है। ऐसे मनुष्य में से हर समय शब्द-धुन की ताकत विकिरण बनकर वातावरण में फैलती रहती है तथा अभ्यासी परम्पिता का पूर्ण यंत्र बन जाता है व उसी की इच्छा के अनुरूप इस पार्थिव चेतना का रूपान्तरण करता हुआ परम् मुक्त अवस्था में अत्यधिक कर्म करता हुआ भी कर्ममुक्त रहता है। उसके अन्दर सतगुरू की पूर्ण धार एक जीवंत स्रोत बनकर लगातार एक अमृत रूपी झरने की तरह बहती रहती है और इस रचना को अपनी पूर्णता से तर करती रहती है। ऐसे स्रोत का

स्पर्श मात्र ही हमारी बिखरी हुई वृति को एक जगह एकत्रित करने में चुम्बक का काम करता है। एक साधारण लोहे के टुकड़े को चुम्बक बनाते समय यही सिद्धांत कार्य करता है। चुम्बक व लोहे के टुकड़े में सिर्फ इतना अन्तर है कि चुम्बक के अन्दर विद्यमान सभी परमाणुओं के इलेक्ट्रान की शक्ति एक धार के रूप में पिरो दी जाती है। लेकिन एक लोहे के टुकड़े के अन्दर यही शक्ति विद्यमान होते हुए भी बिखरी पड़ी रहती है और कार्य करने में असमर्थ होती है। इस बिखरी हुई शक्ति को एक धार में पिरोने के लिए लोहे के टुकड़े को किसी बड़े चुम्बक या ताकत के सम्पर्क में लाया जाता है जो अपनी ताकत से उस बिखरी हुई शक्ति को एक धार में पिरोकर नियमबद्ध कर देता है और वही लोहे का टुकड़ा एक ताकत बनकर कार्य करने लगता है। इसी तरह से जब हम शब्द-स्वरूपी सतगुरू के साकार स्वरूप के सम्पर्क में आते हैं तो हमारी बिखरी हुई वृति तीसरे तिल पर एकत्रित होने लगती है और धीरे-धीरे उनके आशीर्वाद व शक्तिपात से अभ्यासी के अन्दर चेतना का उज्जवल स्वरूप प्रकट हो जाता है। अभ्यास के तीनों अंगों का पालन करता हुआ अभ्यासी धीरे- धीरे सतगुरू का निज-स्वरूप प्राप्त कर उसकी पूर्ण धार का जीवंत व पूर्ण स्रोत बनकर झरने की तरह बहता हुआ सारी रचना को अमृत रूपी शांति प्रदान करता है। यह कार्य स्मरण, ध्यान व भजन की पूर्णता प्राप्त करने से और शरीर, प्राण, मन, बुद्धि व आत्मा का पूर्ण रूपान्तरण होने पर ही सम्भव हो पाता है।

अध्याय 4

अभ्यास में आसन की स्थिरता

अभ्यास करने के लिए आसन का स्थिर करना अति आवश्यक है। ध्यान-भजन के लिए ग्रंथों में बहुत से आसनों का वर्णन किया गया है लेकिन साधक को अपनी सुविधानुसार वही आसन अपनाना चाहिए जिसमें शरीर व मन पर कोई तनाव न पड़े। इसके लिए कुछ बातें आवश्यक होती हैं। विभिन्न मतों में शरीर के अलग-2 चक्रों पर अलग-2 नाम के साथ ध्यान करना बताया जाता है। अलग-2 चक्र भिन्न-2 अनुभव देते हैं। मनुष्य के शरीर में मेरूदण्ड से होकर सुषुम्ना नाड़ी जाती है, इसका ध्यान-भजन में बहुत अधिक महत्व माना गया है। यही नाड़ी चक्रों में आपस का सम्बन्ध स्थापित करती हुई ऊपर तक जाती है। इड़ा और पिंगला इसके बाई और दाई दिशा से होकर निकलती हैं। इनका ध्यान नहीं करना है, ये बाहरी और अशुद्ध नाड़ियां हैं। विभिन्न चक्रों पर भिन्न-2 कमल होते हैं। कुण्डलीनी शक्ति तथा उससे सम्बन्धित 7 चक्रों (कमलों) का वर्णन यहां संक्षेप में किया जा रहा है लेकिन एक बात यहां चेतावनी के तौर पर बता दी जाती है कि राधास्वामी योग के जिज्ञासुओं को नीचे के पांच चक्रों (मूलाधार, स्वाधिस्ठान, मणिपुर, अनाहत व विशुद्ध) पर ध्यान नहीं करना चाहिए। इससे लक्ष्य के भेदन में कठिनाई तथा ज्यादा समय लगता है क्योंकि इस ध्यान में साधक को विभिन्न ग्रन्थियों को बींध कर गुजरना पड़ता है। इनमें से तीन ग्रन्थियों अर्थात् ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रूद्र ग्रन्थि को पार करना जोखिम भरा कार्य है और प्राणायाम के नियमों का पालन यदि पूरी सावधानी से नहीं किया गया तो उसमें शारीरिक खतरे बढ़ जाएंगे। दूसरे ये चक्र देवी-देवताओं की रिद्धि-सिद्धि प्राप्त करने वालों के लिए हैं न कि साधर्म्य मुक्ति और सम्यक समाधि को प्राप्त करने वाले जिज्ञासुओं के

लिए। इसलिये राधास्वामी योग के अभ्यासी को अपना ध्यान आज्ञा चक्र (दोनों आंखों के मध्य) पर ही केन्द्रित करना चाहिए। इससे कुण्डलीनी शक्ति सिमट कर सभी ग्रन्थियों को पार करती हुई आज्ञा चक्र पर आ जाती है और इससे ऊपर के मण्डलों की यात्रा आरम्भ हो जाती है। राधास्वामी पंथ में आज्ञाचक्र (शिव नेत्र) का खुलना पहली मंजिल (सहस्रार) की पहली सीढ़ी पार करना है। आज्ञा चक्र से ऊपर 12 मंजिलों का सफर तय करना बाकी रह जाता है।

आत्मा के ऊपर तीन तरह के आवरण चढ़े हुए हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। आदि-सुरत का साक्षात्कार करने के लिए इन परदों को हटाना अति आवश्यक है। इन्हें ही स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर व कारण शरीर कहते हैं। स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर में छः-छः चक्र हैं जिन पर भिन्न-2 ताकतें अपने विस्तृत मण्डल के साथ विराजमान रहती हैं।

सबसे नीचे मूलाधार अर्थात् गुदा चक्र है, इसके ऊपर जननेन्द्रि के स्थान पर स्वाधिस्ठान, नाभि के स्थान पर मणिपुर या नाभिपदम, हृदय के स्थान पर अनाहत चक्र और कंठ में विशुद्ध चक्र है। ये सभी छः चक्र (आज्ञा चक्र सहित) स्थूल शरीर के चक्र हैं। इन स्थानों पर अलग-2 रंग के कमल, उनकी अलग-2 संख्या में पंखड़ियां, अलग-2 मंत्र तथा हर मंत्र या नाम के साथ एक ताकत का विशेष संबंध है। कुण्डलीनी या सर्पिणी या भुजंगिनी शक्ति को इस रचना की आदि-देवी कहा गया है जिसने नीचे उतरते समय विभिन्न चक्रों का निर्माण करते हुए सारी रचना का निर्माण किया है। राधास्वामी योग में इसका नाम राधा है जो स्वामी की शक्ति के रूप में अलग-2 मण्डलों की रचना करती हुए नीचे आई, लेकिन इसका स्वरूप शास्त्रों में वर्णित कुण्डलीनी या सर्पिणी शक्ति के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। राधास्वामी योग में 7 स्थानों की बजाय 18 स्थानों (मण्डलों) का भेद खोला गया है बाकि के 11 मण्डल सहस्रार से ऊपर हैं जिनका वर्णन उचित स्थान पर किया

जाएगा।

ये कुण्डलीनी शक्ति ब्रह्मरेन्द्र से आकर सबसे नीचे के चक्र मूलाधार चक्र में सर्प की तरह साढ़े तीन कुण्डल मारकर सो गई है और सुषुम्ना नाड़ी में चित्रिणी नदी का द्वार (ब्रह्म द्वार) बन्द कर दिया है। पुराने समय में ऋषि महात्मा प्राणायाम के द्वारा इस सोई हुई शक्ति को जगाते थे। इसमें प्राण वायु जो प्राणायाम द्वारा बंध लगाकर नीचे ले जाई जाती है और अपान वायु को मूलाधार चक्र पर लाया जाता है। इन दोनों के घर्षण से गर्मी पैदा होती है जिससे कुण्डलीनी शक्ति के ऊपर चोट लगती है और उसकी कुण्डलियां ढीली पड़ने लगती हैं, जिससे सुषुम्ना नाड़ी का द्वार अर्थात् ब्रह्म द्वार खुलने लगता है और जो आत्मा की धार एड़ा-पिंगला से होकर इन्द्रियों में से जाकर नष्ट हो जाती थी वह अब प्राणायाम द्वारा संयम में आ जाती है और सुषुम्ना नाड़ी में बहने लगती है। कुण्डलीनी शक्ति सिसकार करती हुई जाग जाती है तथा सभी चक्रों को बींधती हुई सहस्रार तक पहुंच जाती है और ब्रह्मरेन्द्र से अमृतपान करके सभी मण्डलों को तृप्त करती हुई नीचे आती है। ग्रन्थों में इससे ऊपर का वर्णन नहीं आता है। इससे ऊपर का रहस्य केवल सुरत-शब्द योग में बताया जाता है। इस योग में सहस्रार पहली मंजिल अर्थात् पहली सीढ़ी है। इससे ऊपर 11 मण्डल और भी रह जाते हैं। राधास्वामी योग में इस स्थान की शक्ति को ज्योत-निरंजन कहा गया है। ग्रन्थों में इसे शिव धाम या शक्ति धाम माना गया है। यहां आकर कुल्ल माता अर्थात् ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करने वाली कुण्डलीनी शक्ति अपने आदि-धाम में आकर अर्धनारीश्वर का रूप हो जाती है।

अब सवाल उठता है कि कौन सा आसन इस कुण्डलीनी शक्ति को जगाने में सहायक हो सकता है। शास्त्रों में अनेक प्रकार के आसनों का वर्णन आता है लेकिन अभ्यास के लिए ऐसा आसन होना चाहिए जिससे रीढ़ की हड्डी सीधी रहे और शरीर पर कम से कम तनाव रहे

और कुण्डलीनी शक्ति को ऊपर चढ़ने में कोई रूकावट न आए। राधास्वामी योग में नाम की दीक्षा देने के समय ऐसा आसन बताया जाता है जिसमें स्मरण, ध्यान व भजन एक ही आसन पर आसानी से किए जा सकते हैं इसे मुर्गाबी आसन कहते हैं। यह आसन ध्यान को आगे बढ़ाने में मदद करता है और ब्रह्मचर्य की रक्षा तथा बिमारियों का नियंत्रण करने में सहायता करता है। साधक सुविधा अनुसार कोई दूसरा आसन भी अपना सकता है।

आरम्भ में जब कुण्डलीनी शक्ति जागती है तो शरीर में गर्मी उत्पन्न होती है। मणिपुर में अग्नि तत्व है यहां पर ध्यान करने वालों को बहुत अधिक गर्मी महसूस होती है। इतनी गर्मी पैदा हो सकती है जो दिमाग में चढ़कर शरीर के लिए लाभ की बजाय हानि भी कर सकती है इसलिए इसके लिए प्राणायाम के जानकार सिद्ध गुरू की जरूरत पड़ती है। यह साधन गृहस्थी साधक नहीं कर सकता है क्योंकि इसमें अखण्ड ब्रह्मचर्य की आवश्यकता होती है जो आज के सामाजिक प्राणी के बस की बात नहीं है। इसलिए संतों ने दया करके सहज-योग का रास्ता बताया जिसे किसी भी पूर्ण गुरू की शरण में जाकर, किसी भी उम्र का आदमी आसानी से कर सकता है। अभ्यास करते-2 एक अवस्था ऐसी आती है जब शरीर के लिए भोजन की आवश्यकता बहुत ही कम रह जाती है और सूक्ष्म व सात्विक भोजन ही लिया जा सकता है। सारा शरीर प्रकाश और शब्द से तृप्त रहता है इसलिए अधिक व तामसिक या राजसिक खाना शरीर के लिए लाभदायक नहीं रहता। ऐसी अवस्था साधना की एक विशेष यात्रा के बाद आती है इससे पहले खाना अधिक कम नहीं करना चाहिए वरना शरीर में कमजोरी आ सकती है। ऐसी बातें सतगुरू अभ्यासी की हालत देखकर समय-2 पर बताते रहते हैं।

त्रिकुटी से ऊपर का आसन और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि यहां से ऊपर शरीर की चेतना का ऊपर की तरफ खिंचाव व सिमटाव

आरम्भ हो जाता है। शरीर के किसी भी हिस्से में मामूली सी हलचल भी चेतना को सिमटने से रोक देती है और जो काम एक घंटे में किया गया था वह एक सैकिण्ड में टूट जाता है अर्थात् चेतना का सिमटाव रूक जाता है और पहले वाली अवस्था आ जाती है। इसका कारण है कि आरम्भ में चेतना इतनी संवेदनशील और अस्थिर होती है कि पांव के अंगूठे की थोड़ी सी हलचल भी सिमटी हुई चेतना को वापिस ला देती है। अत: त्रिकुटी से ऊपर आसन को कोई संकल्पशील व्यक्ति ही स्थिर रख सकता है क्योंकि चेतना के सिमटाव से शरीर में दर्द होने लगता है। यह इसलिए है कि शरीर की ताकत इसी चेतना शक्ति की वजह से होती है और जब यही शक्ति शरीर के अन्दर से सिमटकर ऊपर की तरफ जाने लगती है तो शरीर का रोम-2 दर्द करने लगता है क्योंकि अनन्त जन्मों से यह चेतना इसी शरीर तथा मन का हिस्सा रही है और इसके साथ इसकी गांठ बंध गई है। अत: त्रिकुटी से ऊपर मन व माया की गांठ खुलने लग जाती है। इसलिए यहां से ऊपर का आसन बहुत ही सुविधाजनक व स्थिर होना चाहिए।

अध्याय-5

अभ्यास के लिए उचित नियम

पहले समय में आध्यात्मिक सत्ता की एक झलक पाने के लिए बहुत ही कठिन नियमों का पालन करना पड़ता था। इसका कारण यह था कि अभ्यास केवल नीचे के छः चक्रों तक ही सीमित था अर्थात् शारीरिक व प्राणिक चेतना का जगाना ही अभ्यास का एकमात्र लक्ष्य था। पंतजली योग दर्शन में अष्टांग योग का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है: यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान व समाधि।

इसमें पहले पांच अंग बाहरी अंग हैं तथा अन्तिम तीन धारणा, ध्यान और समाधि आन्तरिक अंग हैं। प्रकाश की एक झलक पाने के लिए बहुत ही कठोर नियमों का पालन किया जाता था। जैन धर्म में पांच महाव्रत का कठोरता से पालन किया जाता है जो इस प्रकार हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

इन पांच महाव्रतों को अष्टांग योग में यम के अधीन माना गया है अर्थात् इन पांचों का पालन करना ही यम है। बौद्ध दर्शन में चार वैदिक प्रतिपाद्य विषयों को चार आर्यसत्य कहा गया है जो इस प्रकार हैं:

1. **हेतु**-दु:ख का वास्तविक स्वरूप क्या है जो हेय अर्थात् त्याज्य है।
2. **हेयहेतु**-दु:ख का वास्तविक कारण क्या है?
3. **हान**-इस दु:ख का अभाव कैसे हो सकता है अर्थात् स्वरूप में स्थिति या ब्रह्म में लीन होने से दु:ख का अभाव हो सकता है।
4. **हानोपाय**-दु:ख निवृति का साधन क्या है अर्थात् ब्रह्मज्ञान होने से दु:ख से पूर्णतया छुटकारा पाया जा सकता है।

इन चार वैदिक विषयों को बौद्धदर्शन के चार आर्यसत्य में इस प्रकार से वर्णन किया गया है :

1. **दु:खम्** - इस संसार का जीवन दु:ख से परिपूर्ण है।
2. **दु:ख समुदय** - इस दु:ख का कारण विद्यमान रहता है। अर्थात् इन सभी दु:खों का कारण तृष्णा है। यही तृष्णा प्राणियों को बारम्बार उत्पन्न करती है। तृष्णा सब जगह अपनी तृप्ति खोजती रहती है। यही तृष्णा जगत के समस्त विद्रोह तथा विरोध की जननी है, इसी के कारण राजा राजा से लड़ता है। क्षत्रिय क्षत्रिय, ब्राह्मण ब्राह्मण से लड़ता रहता है। माता पुत्र और पुत्र माता से लड़ते रहते हैं। चोर इसी के लिए चोरी करता है, धनी इसी के लिए गरीबों का खून चूसता है। तृष्णा के कारण ही यह संसार है। इसका निवारण करने से निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।
3. **दु:खनिरोध** - निरोध शब्द का अर्थ नाश या त्याग है। सम्पूर्ण वैराग्य द्वारा ही इस तृष्णा का नाश किया जा सकता है। इसी के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।
4. **दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपद** - प्रतिपद का अर्थ मार्ग है अर्थात् दु:खनिरोध का उपाय या मार्ग क्या है? निर्वाण तक पहुंचने या तृष्णा का नाश करने के लिए अष्टांगिक मार्ग बताया गया है जो इस प्रकार है: 1. सम्यक् दृष्टि 2. सम्यक् संकल्प 3. सम्यक् वचन 4. सम्यक् कर्म 5. सम्यक् आजीविका 6. सम्यक् व्यायाम 7. सम्यक् स्मृति 8. सम्यक् समाधि।

इस मार्ग पर चलने से प्रत्येक व्यक्ति अपने दु:खों का नाश कर देता है तथा निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

श्रीमदभगवद् गीता में भी तृष्णा को ही मनुष्य के लिए हानिकारक बतलाया गया है और कहा गया है कि सभी कर्मों को परमात्मा को समर्पण करते रहना चाहिए और उसके फल की भी इच्छा

नहीं करनी चाहिए, तभी हम मुक्ति के रास्ते पर चल सकते हैं।

ये सब लिखने का तात्पर्य यही है कि प्राचीन धर्मों में एक आचार संहिता बना दी गई थी जिसे पूर्णरूपेण मानकर ही परमात्मा के बारे में जाना जा सकता था लेकिन सांसारिक प्राणी के लिए हर परिस्थिति में ये नियम पूर्णरूप से मानना सम्भव नहीं है। इसलिए संतों ने समय की विशेषता को महत्व देते हुए सुरत-शब्द योग प्रतिपादित किया जो हर समय हर परिस्थिति में आसानी से किया जा सकता है।

इन सभी नियमों का पालन करने के लिए समय का पाबंध होना बहुत ही जरूरी माना जाता था। आज मानव की विवशताएं बढ़ गई हैं। इसलिए उसे धीरे-2 उसी के स्वभाव के अनुसार रास्ते पर चलाया जाता है। जब वह इस योग के लाभ व हानि स्वयं महसूस करने लग जाता है तो वह अपनी खुशी से ही सभी नियमों व आचार-व्यवहार से अवगत होकर योग मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है और सद्गुरू को समर्पित होकर उसी की मौज में खुश रहता है। इसलिए यह योग हर पल, हर क्षण किया जाता है या स्वयं होता रहता है। जब तक स्मरण पक्का नहीं होता है तब तक ध्यान में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। स्मरण पक्का होने पर ही चित् वृति को किसी भी सांसारिक कार्य में पूरी तरह अंगित होने से बचाया जा सकता है।

अभ्यास में एक निश्चित समय की उपयोगिता अवश्य होती है। जब ध्यान के लिए कोई समय निश्चित किया जाता है तो उसी समय चेतना ध्यान की अवस्था में जाने का प्रयास करने लगती है और यदि उस समय हम किसी दूसरे कार्य में व्यस्त होते हैं तो उस निश्चित समय का उपयोग करने से चूक जाते हैं। एक निश्चित समय पर निश्चित तरीके से ध्यान करने से चेतना को एक निश्चित दिशा मिलती है। ध्यान व भजन नियमित ढंग से हर रोज करना चाहिए। किसी भी दिन ध्यान न करना मिले हुए लाभ को कम कर देता है।

ध्यान करने के लिए शास्त्रों के अनुसार सुबह का समय जिसे ब्रह्मवेला कहते हैं सबसे उपयोगी समय माना गया है। इस समय सद्गुरू की तरंगें (रेडिएसन) मजबूत होती हैं और उनसे निश्चित तौर पर फायदा मिलता है। राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज फरमाते हैं कि ब्रह्मवेला में किया गया एक घंटे का ध्यान कई घंटों का काम करता है। इस समय वातावरण की वायु भी शुद्ध होती है जो हमारे स्वास्थ्य की दृष्टि से भी लाभदायक रहती है। इस समय लाभकारी तरंगों का प्रवाह बिना किसी रूकावट के होता रहता है। मस्तिष्क व शरीर की ताजगी तथा व्यायाम के लिए भी यही समय सबसे उचित होता है। इस समय वातावरण का विशाक्त प्रदुषण भी नहीं होता है। चाहे विद्यार्थी हो या ग्रहस्थी या योगी सभी के लिए सुबह जल्दी उठकर की गई कमाई अधिक फलदायी होती है। कहा भी गया है कि जिस घर में सुबह वेला में कार्य आरम्भ होता है वहां किसी भी चीज की कमी नहीं रहती है। इसी समय योगी-मुनी भी ध्यान लीन रहते हैं, उनकी तरंगें वातावरण में फैली होती हैं।

अब प्रश्न उठता है कि कितना समय ध्यान-भजन को दिया जाना चाहिए। यह तो पहले ही बता दिया गया है कि यदि हमें अभ्यास में आगे बढ़ना है तो स्मरण नहीं टूटना चाहिए। स्मरण ध्यान को आगे बढ़ाने में जादू का काम करता है। यदि किसी अवस्था में साधक लम्बे समय के लिए अटक जाता है तो यह रूकी हुई अवस्था केवल स्मरण द्वारा ही तोड़ी जा सकती है। स्मरण धीरे-2 चलने वाली वह आरी है जो मोटे से मोटे वृक्ष रूपी रूकावट को थोड़े समय में ही धराशाही कर सकती है। जो मनुष्य इसी जीवन में रूहानी दौलत के अधिकारी बनना चाहते हैं उन्हें हर रोज कम से कम दो घंटे का अभ्यास करना चाहिए। यह भी कोई निश्चित नहीं है कि हर मनुष्य के लिए रास्ता तय करने के लिए बराबर का समय लगता है। कुछ मनुष्य तो चित्त की वृति रोकने

में जल्दी कामयाब हो जाते हैं जबकि कोई-2 बुद्धि का बिमार आदमी सारी जिन्दगी संघर्ष करने के बाद भी ध्यान में वही बुद्धि के दाव-पेंच चलाता रहता है और चित्तवृति को रोक नहीं पाता है। यह पहले बता दिया गया है कि वही चीज पूर्ण होती है जिसमें अधिक से अधिक लचक होती है। कठोर चीज अपना संकल्प आसानी से नहीं छोड़ती है। ऐसा करने से उसकी चाहत की आहत होती है। असली बुद्धियुक्त और विवेकपूर्ण व्यक्ति वही होता है जो बुद्धि की मदद से एक समय कठिन से कठिन प्रश्न हल कर लेता है और दूसरे ही क्षण जब वह ध्यान में बैठता है तो सारी चित्तवृतियों को पूरी तरह से निरोध कर देता है। ऐसा करने से उसकी इच्छा शक्ति बढ़ती है और मन व प्रकृति को अपनी इच्छानुसार मोड़ने में सक्ष्म हो जाता है। यही इच्छा शक्ति उसकी हर कठिनाई का हल ढूंढ लाती है।

ऊंचे आध्यात्मिक अनुभव के लिए कितना समय लगता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हमारे पास लक्ष्य को बींधने के लिए कितनी ताकत पूर्व संचित है और किस गति से यह आगे बढ़ रही है। हमारे मस्तिष्क और शरीर से कितनी व किस तरह की तरंगें विसर्जित हो रही हैं। वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर यह पाया गया है कि ध्यान अभ्यास करने वाले मनुष्य के अन्दर अलग तरह की तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं जो दूसरे मनुष्यों से भिन्न होती हैं।

कहने का अर्थ यही है कि कोई भी मनुष्य किसी पूर्ण सद्गुरू की शरण में रहता हुआ अपनी सांसारिक जिम्मेदारियां निभाता हुआ भी एक लचीले तरीके से सहज-योग अर्थात् सुरत-शब्द योग का लाभ उठा सकता है। संत मत में रहणी को करणी से भी ऊंचा दर्जा दिया गया है। अतः उन्हीं नियमों व समय को श्रेष्ठ माना जाता है जिससे रहणी मजबूत हो। आलस्य दूर हो तथा मनुष्य कर्मशील बना हुआ अपने लक्ष्य की प्राप्ति में आगे बढ़ता रहे और सद्गुरू के प्रति उसका प्रेम दिनों-दिन

बढ़ता जाए। स्मरण और सद्गुरू प्रेम ध्यान की हर रूकावट को दूर करने में पूरी तरह सक्षम हैं। जब सद्गुरू प्रेम मजबूत हो जाता है तो व्यक्ति हर समय अपने इष्ट के ध्यान में डूबा रहता है और उसके लिए हर वेला ब्रह्मवेला बन जाती है। वह हर यम और नियम से ऊपर उठ जाता है लेकिन फिर भी उसकी करनी और रहनी में कमी नहीं आने पाती है।

अध्याय-6

अभ्यास में स्थान का महत्त्व

अभ्यास करने के लिए एकान्त स्थान की आवश्यकता होती है। ऐसा स्थान चुनना चाहिए जो हमारे अनुकूल हो और वहां किसी प्रकार का विघ्न या शोर न हो। स्थान पर कुछ सुविधाओं का होना भी आवश्यक है। पतञ्जल योग सूत्र में कहा गया है- शौचसंतोषमतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानि नियमाः। अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं।

शौचः शौच दो प्रकार का होता है। बाह्य और आभ्यंतर। आभ्यंतर शौच में मन व चित्त की शुद्धि होनी जरूरी है और बाह्य शौच में शरीर, वस्त्र, पात्र, आसन आदि को पवित्र रखना होता है।

संतोषः जो भी अवस्था हो उसी में खुश रहें तथा सभी प्रकार की तृष्णा को छोड़ दें।

तपः शरीर, इन्द्रियों, मन को अभ्यास से वशीकार करने को तप कहते हैं।

स्वाध्यायः विवेक ज्ञान उत्पन्न करने वाले सत-शास्त्रों का नियम पूर्वक अध्ययन और नाम का जाप स्वाध्याय है।

ईश्वर प्रणिधानः ईश्वर की विशेष भक्ति अर्थात् फल सहित सभी कर्मों को उसके समपर्ण करना ईश्वर प्रणिधान है।

इस योग में बाह्य शौच की महता है लेकिन आन्तरिक शौच को मुख्य रूप से मान्यता दी जाती है। सांसारिक मनुष्य यदि किसी कारणवश बाह्य शौच का पूरी तरह से पालन नहीं कर सके तो भी सतुगरू की दया आती रहती है। राधास्वामी योग में अच्छे अभ्यास के लिए दो बातें मुख्य मानी जाती हैं, सतगुरू से प्रेम और पवित्र विचार। स्वतः संत

ताराचन्द जी महाराज कहते हैं कि यदि सत्संगी के अन्दर ये दो बातें मौजूद हैं तो वह एक दिन अवश्य निजधाम में विश्राम पायेगा। बाकी सभी बातें गौण हैं। इन दो बातों का पालन करने से शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान अपने आप ही पूर्ण हो जाते हैं। अतः अभ्यास के लिए वह स्थान उचित माना जाता है जहां से सात्विक प्रेम और पवित्र विचारों की लहरें उठा करती हों। इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि ऐसे स्थान पर बच्चों का आना-जाना ना हो और किसी भी तरह के विघ्न से रहित हो। यदि गृहस्थी जरूरतों के अनुसार अभ्यास का स्थान बदलना जरूरी हो तो वह भी बदला जा सकता है। यह योग इतनी सामर्थ्य और उंचाई से भरपूर है कि इसे गृहस्थी और सन्यासी समान रूप से कर सकते हैं।

अब प्रश्न आता है, क्या सतगुरू की सन्निधि में ही रह कर साधन-अभ्यास किया जा सकता है या दूर रह कर भी? यदि कोई साधक सतगुरू से सच्चा प्रेम करता है और उनकी मौज में रहता है तो उसके विश्वास में मजबूती बनी रहती है। यदि सतगुरू से प्रेम है और उनकी पूर्णता पर पूरा विश्वास है तो साधक के अन्दर द्वैतवाद और त्रिपुटीवाद की धारणाएं घर नहीं कर पाती हैं तथा सतगुरू के प्रति अभाव पैदा नहीं हो पाता है। द्वैतवाद हमेशा संशय से पैदा होता है। जहां पर दो का भाव होगा वहीं पर खिंचाव का होना भी जरूरी है और यदि खिंचाव है तो दो चीजों या विचारों के बीच एकता स्थापित नहीं की जा सकती है। अतः संशय होने से हम सतगुरू से निकलने वाली रूहानी चुम्बकीय धार को अपने अन्दर आने से रोक देते हैं। इसकी विस्तृत व्याख्या उचित स्थान पर की जाएगी। इसलिए राधास्वामी योग में आरम्भ में ही जिज्ञासुओं को यह आदेश दिया जाता है कि नाम दीक्षा लेने से पहले अपने संशय दूर कर लेने चाहिए, क्योंकि ऐसा ना होने से मन में अटक रह जाएगी और यह अटक कभी भी साधक को आगे नहीं

बढ़ने देगी, हमेशा विश्वास व प्रेम को खण्डित करती रहेगी। संकल्पशक्ति के धनी पंजाब केसरी महाराज रणजीत सिंह ने अटक नदी को यह कहकर पार कर दिया कि जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा। जाके मन अटक नहिं, उसको अटक कहां। इसलिए सतगुरू प्रेम में वह ताकत है जो किसी भी प्रकार की अटक और संशय को सत्संगी के पास नहीं आने देती। यही प्रेम साधक की रक्षा का कवच बनकर हर समय उसकी रक्षा करता रहता है। जिसके मन में सतगुरू के प्रति प्रेम है और कोई संशय नहीं है वह कहीं भी रहकर अभ्यास करे, सतगुरू से दूर या पास, उसके रास्ते में कोई भी रूकावट नहीं आ सकती है। वह वहीं से सतगुरू की दया की तरंगों को अपनी तरफ आकर्षित करता रहता है। फिर भी यदि कोई विघ्न आता है तो वह कुछ सिखाने के लिए, अनुभव देने के लिए, हमारे अन्दर के दोष निकालने के लिए आता है। इसलिए सतगुरू की मौज में रहना अभ्यासी के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। इतना अवश्य है कि सतगुरू की निकटता व उनके आशीर्वाद से विशेष लाभ होता है, लेकिन यदि सतगुरू प्रेम भरपूर है तो दूर बैठे भी वे साधक को अपनी निकटता व आशीर्वाद प्रदान करते रहते हैं। अत: अभ्यास के लिए वही स्थान उत्तम है जहां सतगुरू के प्रति प्रेम व विश्वास जागृत हों और ऊंचे विचारों की तरंगें सदा उठा करती हों।

अध्याय-7

अभ्यास की अट्ठारह मंजिलें

एक अभ्यासी अभ्यास के समय किस प्रक्रिया से होकर गुजरता है, आध्यात्मिक शक्ति का संचार शरीर में कैसे बढ़ता जाता है और किस तरह से वह विभिन्न स्थानों को तय करता हुआ आगे बढ़ता है तथा इस आध्यात्मिक शक्ति का संयम करने से किस तरह इच्छा-शक्ति, संकल्प-शक्ति तथा विवेक- शक्ति में बढ़ोतरी होती है और किस तरह से पुराने संस्कारों के बीज समाप्त हो जाते हैं इत्यादि विषयों को इस अध्याय में साकार करने का प्रयत्न किया गया है।

यह समझने के लिए हमें सबसे पहले एक लोहे के टुकड़े को चुम्बक बनाने की प्रक्रिया को समझना पड़ेगा कि किस प्रकार से एक साधारण लोहे के टुकड़े में चुम्बक बनने पर शक्ति का संचार होने लगता है तथा वह कैसे शक्ति का स्रोत बन जाता है। एक लोहे की छड़ जिसे चुम्बक बनाना होता है उस छड़ में जितने भी परमाणु विद्यमान होते हैं उनकी ताकत इलेक्ट्रान के रूप में इधर-उधर बिखरी रहती है। कोई इलेक्ट्रान किसी दिशा में गतिशील है तो कोई इलेक्ट्रान किसी दिशा में। अब कुछ ऐसा करने की जरूरत है जिससे उस लोहे की छड़ की बिखरी हुई ताकत को एक दिशा में पिरोया जा सके अर्थात् एक सिरे से दूसरे सिरे तक सभी इलेक्ट्रान एक दिशा में प्रवाहित हो जाएं। यह काम करती है विद्युत की धारा जिसे लोहे की छड़ में से गुजारने पर उसके सभी इलेक्ट्रान अपना अलग-अलग संकल्प छोड़कर एकता के सूत्र में बंध जाते हैं। यह कार्य एक तरह से और भी किया जा सकता है कि इस छड़ के पास एक दूसरा बड़ा लोहे का चुम्बक लाया जाए जिसके स्पर्श मात्र से या निकटता से वह लोहे की छड़ चुम्बक बनकर चुम्बक का गुण ग्रहण कर लेती है। ऐसा करने से इस छड़ में इलेक्ट्रानों

की अलग-अलग दिशाओं में बिखरी हुई ताकत एक ही दिशा में बहने लगती है तथा वह सामान्य लोहे की छड़ चुम्बक बनकर एक शक्ति का संचार करने लगती है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने सम्पूर्ण साहित्य में कहा है कि यदि इस कमरे में विद्यमान सभी अणु व परमाणुओं की गति को संयम करके उसे एक ही दिशा में प्रवाहित कर दिया जाए तो एक ताकत का जन्म होगा और उस ताकत से इस अंधेरे कमरे के अन्दर प्रकाश किया जा सकता है। इसी प्रकार एक बैटरी या सैल को ताकत प्रदान करने के लिए उसके अन्दर की सारी ऊर्जा का प्रवाह एक दिशा में कर दिया जाता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर बड़े-बड़े चुम्बक तैयार किये जाते हैं जिनसे बहुत भारी-भरकम काम लिए जाते हैं लेकिन यदि उस लोहे की छड़ के अन्दर कुछ ऐसा दूसरा पदार्थ विद्यमान है जो अपने इलेक्ट्रान को बांधकर रखता है या दूसरे अणु या परमाणु के इलेक्ट्रान को स्वीकार नहीं करता है तो वह पदार्थ उस छड़ को चुम्बक बनने में रूकावट पैदा करता है। इसी सिद्धान्त पर तारों के अन्दर से बिजली का प्रवाह होता है और एक बड़ी ताकत की बिजली तारों के अन्दर से गुजारी जाती है। इसी बिजली की धारा से अनेकों बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न करा लिए जाते हैं जो मानवी ताकत से सम्भव नहीं हो पाते हैं । ऐसी धातु के तार जिनके अन्दर इलेक्ट्रान प्रवाह में रूकावट आती है, विद्युत के प्रवाह के लिए प्रयोग में नहीं लाए जाते हैं उन्हें कुचालक या अर्धचालक पदार्थ कहा जाता है। ऐसे रसायन या तत्त्व जो बहुत तेजी से दूसरे तत्त्व या रसायन के साथ क्रिया करते हैं उनके अन्दर इलेक्ट्रान देने या लेने की क्षमता अधिक होती है अर्थात् या तो वे दूसरे पदार्थ को अपनी ताकत देकर उसे तोड़ते हैं या जोड़ते हैं या दूसरे किसी ऐसे ही पदार्थ की ताकत अपने अन्दर लेकर अपनी कार्य शक्ति का विस्तार करते हैं या उसमें बदलाव करते हैं। ऐसे पदार्थो या तत्त्वों या रसायनों

को क्रियाशील (रिएक्टिव) पदार्थ कहा जाता है।

हमारे शरीर के अन्दर भी यही सिद्धान्त काम करता है। जब तक हमारे शरीर की ताकत भिन्न-भिन्न दिशाओं या इन्द्रियों में बहती रहती है तब तक हम एक सामान्य लोहे की छड़ी या तार के समान काम करते हैं। स्मरण, ध्यान व भजन अर्थात् अभ्यास के द्वारा यही कार्य किया जाता है जिससे हमारी बिखरी हुई वृत्ति दोनों आंखों के मध्य में आज्ञा चक्र (छठे चक्र) पर एकत्रित होने लग जाती है और एक समय यही चेतना ताकत बन कर प्रकाश का रूप प्रदर्शित करती है। प्रकाश वहीं पर होता है जहां पर चेतना की एकाग्रता होती है, ताकत का नियमबद्ध मेल होता है। वह मेल जितना अधिक होता जाता है उतनी ही प्रकाश की मात्रा भी बढ़ती जाती है और वही प्रकाश एक विशाल शक्ति के रूप में प्रकट होकर हमारे सारे शरीर, मन और जीवन को रूपान्तरित करने लगता है। एकता का प्रदर्शन तभी होता है जब बिखरी हुई सारी शक्ति मिलकर एक जगह इकट्ठी हो जाती है। यही एकता सृष्टि की जान है। सारी रचना इसी आधार पर टिकी हुई है। एकता या एकाग्रता के इस नियम की अधिक व्याख्या आगे यथोचित स्थान पर की जाएगी।

अत: जब चेतना की वृत्ति एक स्थान पर टिकने लगती है तो वही प्रकाश के रूप में प्रकट हो जाती है। हमारा शरीर भी एक चुम्बक, बैटरी, सैल या बिजली के तार की तरह शक्ति का स्रोत बनता चला जाता है और शरीर में चेतना की प्रकाशमय गति की वजह से हमारे अन्दर संगीतमय शब्द प्रकट होने लग जाते हैं। हमारी नसों व नाड़ियो में से जब आत्मिक धार की गति बढ़ती जाती है तो उसी गति से शब्द पैदा होता है और वह गति जितनी बढ़ती जाती है, शब्द-धुन की गूंज भी उसी तरह बढ़ती चली जाती है। इस तरह से एक समय पर जाकर हमारे शरीर में हर समय प्रकाश व शब्द की सजीव धार स्वत: ही बहने लगती है और जब उस प्रकाश या शब्द के प्रवाह में कोई कमी आती है तो समझना

चाहिए कि हमारे चित्त के ऊपर रूकावट पैदा करने वाला संस्कार उभर आया है जिसने उस धार के बहाव में रूकावट पैदा कर दी है। ऐसे समय में अभ्यासी को अपने सतगुरू से इसके निवारण का उपाय पूछना चाहिए। इसके साथ-साथ इस रास्ते में कई प्रकाश व अन्धकार के मण्डल भी पड़ते हैं। जहां तक ब्रह्मण्ड की सीमा है अर्थात् ब्रह्म का मण्डल है वहां तक माया या अविद्या का भी पसारा है और यही माया अन्धकारमय छाया व रात बनकर हमारे सामने प्रकट हो जाती है और सारे प्रकाश को क्षण में निगल जाती है। यह अन्धकारमय अवस्था जल्दी भी छंट सकती है लेकिन अधिकतर अभ्यासियों को जीवन भर के लिए अपना ग्रास बना लेती है। केवल सतगुरू के गुरूमुख शिष्य ही इस रहस्य को समझ पाते हैं और इस छल-बल सहित सबल माया को विजयी कर पाते हैं। ऊंचे दर्जे का अभ्यासी हर समय प्रकाश में वास करता है और संगीतमय धुन सुनता रहता है। पलक झपकते ही प्रकाशमय अनुभव प्रकट हो जाता है। कबीर साहब कहते हैं : पलक झपकने की देरी है, सुभान कुदरत तेरी है।

इसके बाद सारा शरीर, मन और आत्मा इस सदा रहने वाली उज्जवलता के अंगीकार बन जाते हैं लेकिन आज के बहुत से मत-मतान्तरों ने इसी रात्रि या अंधकारमय अवस्था को समाधि की उच्चतम अवस्था कहा है और आज्ञा चक्र से ऊपर के अंधकार मण्डल को ही मुक्ति, निर्वाण या शून्य अवस्था कहकर पुकारा है। कहते हैं कि यहां पर डुबकी लगाने से योगी आनन्द के समुंद्र में समा जाता है तथा स्वयं को व संसार को भी भूल जाता है क्योंकि इस अवस्था में चित्त के ऊपर कोई वृत्ति नहीं उठती है। समाधि में चेतना की शून्यावस्था या अंधकार सामने रह जाता है जिसे 'कुछ नही' निहिल आदि नामों से पुकारा गया है। कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध इसी ड्योढ़ी से यह कहकर वापिस आ गए थे कि उन्हें ऐसी मुक्ति नहीं चाहिए, ऐसी शान्ति

नहीं चाहिए जहां पर मानव और मानव का कल्याण सिद्ध ना हो क्योंकि यहां आकर चेतना निवृति अवस्था में आ जाती है। बहुत से व्यक्ति इस अंधकार के अनुभव को पूर्ण मानकर अपने अन्दर छिपे हुए अहंकार की पूर्ति के लिए गुरू बन जाते हैं और कहते हैं कि उन्हें असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प या निर्बीज समाधि का अनुभव हो गया है और एक नया धर्म या मत खड़ा कर दिया जाता है लेकिन राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज फरमाते हैं कि ऐसे गुरू अपने शिष्यों के लिए नरक का द्वार खोल देते हैं। ऐसे गुरूओं का अन्त बहुत ही दु:खदायी होता है, वे उदारहण देकर बतलाते हैं कि ऐसे लोग कपास के खेत में से पार निकल जाते हैं लेकिन उसी कपास को कातकर और उससे कपड़ा बनाकर उन्हें पहनना नहीं आता है अर्थात् क्रियात्मक अनुभव से अनभिज्ञ रह जाते हैं, उनका आन्तरिक अनुभव नहीं खुलता है। कहने का अर्थ यही है कि अभ्यासी के रास्ते में कुछ समय तक प्रकाश का मण्डल आने के बाद अंधकार के मण्डल आ सकते हैं लेकिन इनसे छुटकारा पाने का उपाय अपने शब्द-भेदी सद्गुरू से पूछना चाहिए और उनके प्रेम व आशीर्वाद की चुम्बकीय धार को अपने अन्दर उतारना चाहिए। आध्यात्मिक मार्ग में सद्गुरू या इष्ट के प्रति संशय या भ्रम प्रकाश और शब्द के प्रवाह में उसी तरह से रूकावट पैदा करते हैं जिस तरह से एक लोहे की छड़ या तार के अन्दर बेमेल पदार्थ होने के कारण वह चुम्बक या शक्ति का सुचालक व पूर्ण स्रोत नहीं बन पाता है।

अब अभ्यास की प्रक्रिया आरम्भ की जाती है कि किन-किन अवस्थाओं या मंजिलों से होकर हमें ध्यान में से गुजरना पड़ता है। इस रचना को तीन भागों में बाटां जा सकता है :-

1. शुद्ध चेतना का महाप्रकाशवान मण्डल जिसे सतलोक या सच्चखण्ड कहते हैं।
2. उसके नीचे ब्रह्मलोक जहां पर ब्रह्म मुख्य रूप से और माया

गौण रूप से विद्यमान रहते हैं। इसे ब्रह्मण्ड कहा जाता है।

3. यह पिण्डलोक या भौतिक जगत जहां यह स्थूल रचना है और शुद्ध चेतन तत्त्व के ऊपर माया के मोटे-मोटे बंधन चढ़ गए हैं। यहां पर माया मुख्य है और शुद्ध चेतन तत्त्व गौण है।

इस रचना की तरह मनुष्य के शरीर में भी सारा विस्तार पूर्ण रूप से छोटे स्तर पर विद्यमान है। चेतनता के ये तीन दर्ज़े शरीर में इसी तरह से विद्यमान हैं जिस तरह से इस रचना में। पहला शारीरिक, दूसरा मानसिक और तीसरा शुद्ध-आत्मिक। हर मण्डल में छः-छः चक्र हैं। इस तरह से इस रचना में कुल मिलाकर 18 मण्डल हैं । रचना के आरम्भ में जब चेतनधार अर्थात् सुरत अपने उच्चतम भण्डार से निकलकर रचना करती हुई नीचे आई तो इसने अलग-अलग स्थानों पर अपने मण्डल बांधे तथा शब्द-सुरत का योग करती हुई नीचे उतरी। हर जगह जहां भी सुरत ठहरी वहीं पर अपनी एक विशेष ताकत पैदा की और जहां भी ताकत पैदा होती है वहीं उसका एक मण्डल भी बनता है जिससे उस ताकत का पसारा होता है जैसे सूर्य और उसकी किरणें। इसी केन्द्र में रहने वाली ताकत को शब्द और उसकी शक्ति को सुरत कहा जाता है। यह 'सुरत' शब्द संतों के द्वारा दिया हुआ नाम है क्योंकि जो बात वो कहना चाहते थे उसका पूर्ण वर्णन 'आत्मा' शब्द से नहीं होता है। अतः उन्होनें आत्मा की उत्तम अवस्था को प्रकट करने के लिए सुरत व निरत शब्दों का प्रयोग किया है।

सुरत-शब्द योग या राधास्वामी योग को समझने के लिए हुजुर सालिगराम जी महाराज, जिन्होनें स्वामी जी महाराज के चरण-कमलों में बैठकर राधास्वामी नाम प्रकट किया, के प्रवचनों को आधार बनाने की आवश्यकता है। 'प्रेम उपदेश राधास्वामी' में इस तरह से वर्णन किया गया है, ''राधा आदि सुरत का नाम है। आदि शब्द से जो प्रथम धारा जारी हुई उसका नाम 'राधा' है। जो कोई इस धारा को पकड़ेगा

वही आदि शब्द में पहुंचेगा। इस वास्ते इस धारा का पहले से स्मरण और पकड़ना सब चलने वालों के लिए जरूरी है, क्योंकि बिना प्रेम इस धारा के रास्ते पर नहीं चला जा सकता और आदि शब्द में प्रेम बगैर इस धारा से प्रेम लग नहीं सकता है और जो कि यह धारा जो साक्षात् शब्द का स्वरूप है और उसमें और आदि शब्द में कुछ भेद नहीं है, सिर्फ धारा के जारी होने से दो दिखाई देते हैं जैसे जल और उसकी तरंग, इस वास्ते यह दोनों नाम राधा स्वामी असल में एक है। पर जब शरीर में प्रकाश दो रूप का हुआ तो नाम भी दो हो गए। इस वास्ते दोनों नाम का जप यानि सुमिरन उन दोनों रूपों में प्रेम करना मुनासिब और जरूरी है। बगैर दोनों नाम लेने के रास्ता नहीं चलेगा और जो सिर्फ स्वामी को मनावेंगे वे जहां के तहां बैठे रहेंगे, रास्ता नही चलेगा और जो इस धारा को सुमिरते हुए और पकड़ते हुए स्वामी की तरफ चलेंगे वे पहुंचेंगे। पहले इस धारा से काम पड़ेगा और फिर स्वामी से। इसलिए पहले नाम इस धारा का और फिर नाम '**स्वामी**' का सुमरना चाहिए और इस धारा को जो आदि सुरत कहा है तो इससे यह मतलब नहीं है कि धारा वह सुरत है जो नीचे उतर कर काल देश में आन कर देह में फंस गई। यह तो असल धारा सुरत की है जो आदि में प्रकट हुई है। इसी तरह और भी धारा दूसरे मुकामों से जारी हुई। यह धारा तो अगम लोक में खत्म हो कर रह गई। फिर वहां से इसी तरह से धारा निकली और ऐसे ही सतलोक से। इस वास्ते यह धारा जो सुरत की हर एक मुकाम से, मंजिल से निकलती आई, इसी धारा को पकड़कर दर्जे-बदर्जे, मंजिल-दर-मंजिल चलना चाहिए और जो सुरत यहां बस गई और संसार में उसकी मुख्यता हो गई, वह अब उस धारा से किसी कारण अलग हो गई और जो धारा कि आदि में प्रकट हुई, वह धुर मुकाम से मिली हुई एक हो रही है। इसलिए यह धारा सेवक नही हो सकती पर और सुरतें जो नीचे उतर आई हैं और यहां आकर ठहर गई, वह बेशक

सेवक हैं। यह धारा तो खास 'स्वामी' का स्वरूप है और हमेशा स्वामी के संग रहती है कभी अलग नहीं हुई है और जो कोई सुरत उस असली धारा को पकड़कर 'स्वामी' के चरणों में पहुंच जावे, तब वह सुरत असली सुरत में मिल जाएगी यानि वह सुरत और राधा सुरत एक हो जाएगी। उस वक्त सेवक-स्वामी मिल जायेंगे फिर ऐसे सेवक की सुरत को जो राधा सुरत कहो तो मुज़ायका नहीं है और वह सुरत मुआफिक अपने 'स्वामी' के जिनसे वह जाकर मिली पूजने और सराहने योग्य है क्योंकि उस सुरत से प्रेम करने से दूसरी सुरतें भी उसके उपदेश के अनुसार करनी करके स्वामी के चरणों में पहुंच सकती हैं।

यह करनी का भेद है नहीं बुद्धि विचार।
बुद्धि छोड़ करनी करो तो पावो कुछ सार।।''

इस उपदेश में हुजुर महाराज ने साफ तौर पर कहा है कि 'राधा' स्वामी का ही स्वरूप है अर्थात् स्वामी की शक्ति है जो स्वामी की ही अभिव्यक्ति है। राधा आदि की वह धार है जो आदि शब्द से प्रकट हुई और जहां से रचना का कार्य शुरू हुआ। यही राधा अपने मण्डल में स्वामी के साथ मिलकर 'राधास्वामी-राधास्वामी' की धुनकार उठा रही है। इस आदि सुरत या राधा से नीचे के मण्डल का शब्द प्रकट हुआ। फिर उस शब्द की धार से नीचे के मण्डल की धारा सुरत बन कर जारी हुई। इस तरह से वह आदि सुरत अगम लोक से निकलकर शब्द में प्रकट हुई, फिर शब्द सुरत की धार में और इस प्रकार वही आदि सुरत अलग-अलग मण्डलों की रचना करती हुई व अपना स्वरूप बदलती हुई नीचे तक आई। सबसे ऊपर के मण्डल में यही राधा 'स्वामी' बनकर निज स्वरूप में समाई रहती है। यही धार नीचे के मण्डलों में अपना नाम व ताकत बदलती हुई इस रचना में काम करती रहती है। हुजुर महाराज कहते हैं कि राधास्वामी धाम तक पहुंचने के लिए पहले राधा अर्थात् स्वामी की धारा या शक्ति को पकड़ना होगा

क्योंकि इसी शक्ति का प्रसार यहां पर है जैसे सूर्य की किरणों का इस भूमण्डल पर। यदि कोई ऐसा रास्ता मिल जाए जिससे सूर्य की किरण का रहस्य जाना जाए तो धीरे-धीरे सूर्य के आन्तरिक रहस्यों को भी जाना जा सकता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि किसी भी विचार, कार्य या अस्तित्व के अन्दर जो ताकत है उसके साथ एकमएक होकर ही उसके भीतरी रहस्य को जाना जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है। महर्षि पंतजली योग दर्शन में कहते हैं कि शरीर के किसी स्थान पर संयम (ध्यान) करने से हम अपने शरीर, ब्रह्माण्ड, सूर्य, चांद आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इसलिए 'स्वामी' तक पहुंचने के लिए जरूरी है कि पहले उसकी धारा या उससे पैदा होने वाली धुन के साथ एकता स्थापित की जाए, उसके बाद स्वामी की सत्ता का अनुभव और आनन्द लिया जा सकता है क्योंकि सत्ता, ज्ञान और आनन्द का स्वरूप बनने के लिए सालोक, सामीप, सारूप व साधर्म अवस्थाओं को पार करना पड़ता है तभी सच्चिदानन्द् या साधर्म मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। सबसे पहले हमें राधा की सबसे नीचे तक आई धार को पकड़ना है जो इस स्थूल जगत में मन, प्राण और शरीर के स्तर पर काम कर रही है। आरम्भ से ही उस ऊंची रूहानी धार के साथ एकता स्थापित नहीं की जा सकती है, इसका अधिक वर्णन मण्डलों के अनुसार साथ-साथ किया जाएगा।

हुजुर महाराज ने इस रहस्य को और भी ज्यादा 'सार उपदेश राधास्वामी' में इस तरह से खोला है, ''यही धार मण्डल बांधकर हर एक स्थान पर ठहर कर दर्जे-बदर्जे, मंजिल-दर-मंजिल रचना करती आई। सिवाय सुरत-शब्द योग के और कोई जुगत या तरीका निज मुकाम यानि भण्डार की तरफ चढ़ने और चलने का नहीं है क्योंकि सिवाय शब्द की धार के और जितनी धारें है, जैसे प्राण की धार, दृष्टि की धार यानि प्रकाश की धार, वह सब नीचे के स्थानों से निकलती हैं

और उल्ट कर उन्ही स्थानों में समा जाती हैं क्योंकि ये धारें माया के साथ यानि पांच तत्व, तीन गुण और उनके सम्बन्धियों से मिली हुई हैं और यह आठों उस स्थान से जाहिर हुई हैं जहां से माया की मिलौनी शुरू हुई है और यह आठों कालदेश और मायादेश की रचना के मूल तत्व हैं। ध्वन्यात्मक नाम यानि शब्द से है जिसकी आवाज घट-घट में हो रही है और जिसकी धार रूह यानि जान की धार है और उसी से तमाम बदन और अंग-अंग चेतन है। इसी धार के संग सुरत यानि जीव उतर कर पिण्ड देश में आकर ठहरा है। यह जीव अंत समय में इसी धार के साथ खिंच जाता है यानि देह की धार की मृत्यु हो जाती है।

शब्द कुल रचना का आदि है और असल में शब्द और उसकी धार यानि आवाज में कोई भेद नहीं है मगर जिस कदर कि वह धार असली मुकाम से उतरती आई, उसी कदर उस पर खोल (पर्दे) चढ़ते आए हैं यानि मिलौनी होती आई है। इस लोक में भी पसारा शब्द का है और सूरत शब्द से ही कुल काम यहां के जारी हैं। जब सुरत शब्द की धार को पकड़कर चढ़ना शुरू करेगी, तब कोई दिन में अभ्यास में जगत यानि दुनियां और देह से अंतर में आहिस्ता-आहिस्ता अलेहदा (अलग) होती जावेगी और ऊंचे देश के गुण और खलस्तें इसमें आप ही आप आती जावेंगी और मलिन ख्वाहिशें जो मन और इन्द्रिय और संसारियों के संग से पैदा हुई हैं, आहिस्ता-आहिस्ता दूर होकर सुरत निर्मल हो जाएगी और धीरे-2 एक रोज अपने निज देश में पहुंचकर अपने पिता का दर्शन पावेगी। रास्ते में हर मुकाम का शब्द अलग-अलग है और उसके अनुसार सुरत एक शब्द से दूसरे और दूसरे से तीसरे शब्द को पकड़कर चढ़ती जावेगी।''

अत: इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब यह धार नीचे ब्रह्मण्ड और पिण्ड देश में उतरी तो साथ-साथ इसमें मन और माया के आवरण चढ़ गए और यही चेतन धार पृथ्वी की असीम गहराईयों में अचेतन बन

कर सो गई। यहीं से फिर इसे अपना चढ़ाव करना है, उन्हीं असीम व अनंत ऊंचाईयों तक जहां से यह प्रकट हुई थी। इस धार के उतरने और उल्ट कर वापिस चढ़ने से रचना बनती और बिगड़ती रहती है। जब यह सुरत इस धार को पकड़कर अज्ञानता के अंधकार से ज्ञान के प्रकाश में जाती है तो इसे वे सभी मण्डल पार करने पड़ते हैं जिसमें से यह उतर कर आयी थी तब जाकर इसके सभी क्लेश अर्थात् राग, द्वेष, अभिनिवेश, अस्मिता और अविद्या ये पांच क्लेश मिटते हैं और सुरत अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों या पर्दों को उतारती हुई अपने निज स्वरूप राधास्वामी धाम में अवस्थित हो जाती है। इस तरह से सारे मलिन आवरण उतार कर यह निर्मल अवस्था प्राप्त कर अपने निज धाम में समा जाती है।

ब्रह्मण्ड या पिण्ड में सुरत की जो धार विद्यमान है वह धार इस रचना के छोटे से छोटे स्तर पर भी विद्यमान रहती है। सुरत के इस व्यवहार को समझने की आवश्यकता है जहां से हम इस ब्रह्माण्ड के आरम्भ की प्रक्रिया तक जा सकते हैं। शरीर का सबसे छोटा अंश कोशिका होती है और शरीर की रचना इस तरह की करोड़ों कोशिकाओं से मिलकर होती है। यह कोशिका इतनी छोटी होती है कि इसे देखने के लिए सुक्ष्मदर्शी यंत्र का प्रयोग किया जाता है। हर कोशिका के अन्दर जीवन की सभी संभावनाएं मौजूद रहती हैं। इसकी नाभि के अन्दर अनुवांशिक पदार्थ (जेनेटिक पदार्थ) विद्यमान होता है जिसके द्वारा गुण माता-पिता से संतान में जाते हैं। इस कोशिका के अन्दर कई स्तर पर ऊर्जा कार्य करती है जिसके द्वारा हर स्तर पर विभिन्न प्रक्रियाएं, जो जीवन के लिए आवश्यक हैं, चलती रहती हैं। एक ऊर्जा काम करती है नाभि के केन्द्र में जो कोशिका विभाजन का कार्य सुचारू व नियमित रूप से संचालित करती है। इसके बाद दूसरे स्तर पर वहां काम करती है जहां तक इस नाभि का विस्तार है जो नाभिकीय झिल्ली (न्यूक्लियर

मेम्बरेन) पर समाप्त होती है। तीसरे स्तर पर वहां विद्यमान रहती है जहां पर इस नाभि के अन्दर का मौलिक पदार्थ जीवन को चलाने वाली सारी प्रक्रियाओं में से होकर बाहरी भाग में प्रकट होता रहता है और यहीं पर जीवन को चलाने वाली सारी क्रियाओं का संलाचन होता है। यहीं पर अनुवांशिक कड़ी (जीनोम) उचित वातावरण व जरूरत की सभी आवश्यकताएं मिलने पर खुलती रहती है और जीव की जीवन लीला आगे बढ़ती रहती है। चौथे स्तर पर यह जीवन शक्ति और भी स्थूल रूप में आ जाती है जहां पर ये सारी प्रक्रियाएं पूर्ण होकर समाप्त होती रहती हैं और पांचवे स्तर पर सबसे बाहर जहां पर कोशिका पूर्ण रूप से एक छोटी इकाई बन जाती है और सिर्फ बाहरी तौर पर उस कोशिका के अन्दर व बाहर आने-जाने वाले आवश्यक या अनावश्यक पदार्थ की गति को संचालित करती है और जरूरत के सामान को अन्दर जाने देती है तथा अनावश्यक पदार्थों को बाहर निकाल देती है। छटे स्तर पर वह ताकत कार्य करती है जो इन पांचों स्तर की ऊर्जा के केन्द्रों को संचालित करती है तथा बड़े स्तर पर इस छोटी सी इकाई के एकाकी व्यक्तित्व (Individuality) का प्रतिनिधित्व करती है तथा इस शरीर को पूर्ण अस्तित्व प्रदान करने में भागीदार बनती है। शरीर की दूसरी कोशिकाओं के साथ मिलकर व्यक्तित्व को पूर्ण आकार प्रदान करती है। कोशिका की ऊर्जा का यह स्वरूप उसी तरह से है जिस प्रकार पृथ्वी पर विद्यमान एक छोटे से छोटा कण पृथ्वी की गुरूत्वाकर्षण शक्ति में भागीदार होता है और पृथ्वी के एकत्व व सम्पूर्ण आकर्षण के अनुभव का अनुमान करवाता है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर में सारी कोशिकाओं में से प्रवाहित धार आज्ञाचक्र पर एक ऐसे सजीव व चेतन मण्डल (मानसिक मण्डल) में जाकर मिलती है जहां से यह धार शरीर, प्राण व मन को संचालित करती है और नीचे के पांचों मण्डलों का नियन्त्रण करती है।

कोशिका के वर्णन के बाद अब इस कोशिका के केन्द्र में विद्यमान सूक्ष्म सम्भावनाओं पर एक नजर डालते हैं जहां पर इसका अनुवांशिक पदार्थ (जेनेटिक मैटीरियल) लिपटा पड़ा रहता है तथा इस कोशिका के भावी जीवन की सारी लीलाओं को संजोए रखता है। यही पदार्थ इस कोशिका को जीवन प्रदान करने के लिए एक आधारभूत आवश्यकता है। यह पदार्थ स्वयं निर्जीव होकर इस कोशिका को जीवन प्रदान करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इस रचना का कोई भी कण निर्जीव नहीं कहा जा सकता है, लेकिन सापेक्ष (रिलेटिव) दृष्टि के आधार पर इसे निर्जीव माना जा सकता है। यहीं पर जीवन तथा अजीवन को मिलाने वाली ताकत का रहस्य छिपा हुआ है। इसकी उत्पत्ति ही कोशिका का जीवन है। यदि ऐसा नहीं हो तो बीज अंकुरित नहीं हो सकता, बच्चा गर्भ में नही आ सकता तथा इसके बिना इस ब्रह्माण्ड में जीवन की सम्भावना से इन्कार किया जा सकता है।

कोशिका विभाजन में सबसे पहले इस निर्जीव पदार्थ का विभाजन हुआ करता है, बाद में कोशिका के जीवन को चलाने वाले पदार्थ प्रोटोप्लाज्म का, जिसके बनने से यह सजीव रचना आरम्भ हुई थी। ये अनुवांशिक पदार्थ अर्थात् 'डी.एन.ए.' किन चीजों से बनता है? ये सभी कारक जिनसे इसकी रचना होती है, वैज्ञानिकों के अनुसार निर्जीव अम्ल और दूसरे बेस आदि हैं जो सजीव रचना शुरू होने से पहले बनकर तैयार हो गए थे और इनसे जीवन की शुरूआत हुई थी। ये अम्ल, बेस, सुगर आदि क्या हैं जो इतना महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं ? ये अति सूक्ष्म परमाणुओं का एक निश्चित क्रम और मात्रा में संयोगमात्र हैं, जैसे कार्बन, हाईड्रोजन, नाईट्रोजन आदि। अतः इस सजीव रचना से पहले ये परमाणु ही थे जिनसे आगे विभिन्न प्रकार की रचना जैसे पृथ्वी, लोहा, सोना, पानी, वायु आदि तत्व व पदार्थ अपने आकार में आए। अब इसी परमाणु के अन्दर की सम्भावनाओं का अवलोकन

करने का प्रयत्न करते हैं।

इस परमाणु के मध्य में न्यूट्रान होता है जो उदासीन नाभीकिय कण है, इसमें किसी विशेष पदार्थ की तरफ झुकने का गुण नहीं है और सभी पदार्थो पर समान रूप से प्रभाव डाला करता है। सृष्टि की रचना के वैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर कहा गया है कि जब ये रचना अपने अस्तित्व में नहीं थी तो शायद इस न्यूट्रान के रूप में ही विद्यमान थी और इस न्यूट्रान की तरंगों के अन्दर यह सब कुछ समाया हुआ था तथा इस रचना से पहले की रचना का प्रलय होकर सारी सृष्टि इसी न्यूट्रान या प्रोटान में परिवर्तित हो गई थी। आधुनिक खोजों से इस बात को और भी बल मिला है। इसी तरह से इस ब्रह्माण्ड में 'काले सितारे' (ब्लैक होल्स) हैं। काला सितारा उस समय बनता है जब किसी बड़े सितारे की सारी ऊर्जा समाप्त हो जाती है और यह सिकुड़ने लगता है तथा धीरे-2 इतना सघन और भारी हो जाता है कि इसके भार का अन्दाजा लगाना मुश्किल है। यह सितारा ऊर्जा की तरंगों में बदलने लगता है और इसकी तरंगों में इतनी ताकत पैदा हो जाती है कि कोई भी पिण्ड, वह कितना भी बड़ा हो, इसके अन्दर जब एक बार आ जाता है तो वह तरंगों में परिवर्तित होकर तुरन्त इसमें समा जाता है। इसकी गुरूत्वाकर्षण शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि दूर के ग्रह या सितारे आदि भी इसकी तरफ खिंचे चले आते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि शायद यहां से इस रचना के आरम्भ का पता लगाया जा सकता है।

वर्णन का विषय था परमाणु के मध्य में विद्यमान नाभिकीय कण न्यूट्रान का जो अपने आप में उदासीन कण है, जिसके अन्दर इतनी ताकत होती है कि इसकी बौछार करके एक तत्व को दूसरे तत्व में बदला जा सकता है। उदाहरण के तौर पर लोहे को सोने में भी परिवर्तित किया जा सकता है लेकिन इसके लिए इतने अधिक ताप की आवश्यकता होती है जिसकी सम्भावना कम व खर्च बहुत अधिक है। इसी न्यूट्रान

को प्रोटान या इलेक्ट्रान में भी बदला जा सकता है जिनसे स्थूल रचना का आरम्भ होता है। पृथ्वी के सारे तत्व जैसे सोना, चांदी, लोहा, आदि सभी कुछ ऐसे नाभिकीय कणों का संयोग मात्र हैं। रचना के प्रलय काल में यही सारे तत्व व पदार्थ अपने असली स्वरूप में जाकर ऊर्जा की तरंगों में परिवर्तित हो जाते हैं। ये वैज्ञानिक तथ्य यद्यपि स्थूल रचना से सम्बंधित हैं लेकिन आध्यात्मिकता के इस विचार को दृढ़ करते हैं कि यह सारी रचना एक ही तत्व से बनी है जो वास्तव में स्थूल नहीं है बल्कि स्थूल से कहीं दूर जाकर सूक्ष्म, कारण व उससे भी आगे है जिसे अभ्यास द्वारा किसी पूर्ण सतगुरू की शरण में रहकर अनुभव किया जा सकता है। वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर यह सजीव रचना भी एक कोशिकिय जीव से बहुकोशिकीय जीव में परिवर्तित हुई है। आरम्भ में जब पानी ही पानी था तो उसमें सबसे पहले एक कोशिकिय जीव उत्पन्न हुआ था। उसके बाद पेड़-पौधे, कीड़े, पशु, मनुष्य बनने में करोड़ों वर्ष लग गए।

अब परमाणु की संरचना व उसमें विद्यमान ऊर्जा के स्तर पर नजर डालते हैं। पहले स्तर पर न्यूट्रान की शक्ति का अस्तित्व है। दूसरे स्तर पर प्रोटान जो आरम्भ में न्यूट्रान से ही पैदा होता है, इसी प्रोटान को हाइड्रोजन की नाभि भी कहते हैं। हाइड्रोजन सबसे हल्का तत्व माना जाता है। इस स्तर की ऊर्जा में एक विशेष गुण पैदा हो गया है अत: एक विशेष गुण की तरफ यह झुकता है। यहां आकर उस ताकत ने अपनी उदासीनता तोड़ दी और वही ताकत जो आरम्भ में उदासीन थी, सगुण होकर प्रकट हो गई। इसके बाहर तीसरे स्तर पर वह ऊर्जा कार्य करती है जो न्यूट्रान व प्रोटान के संयोग से बनी है और दोनों को बांधकर रखती है। चौथे स्तर पर वह ऊर्जा है जो प्रोटान में गुण होने के कारण इसके विपरीत गुणों के साथ पैदा हुई जिसे इलेक्ट्रान कहते हैं। इस ब्रह्माण्ड में यदि कोई भी कण विद्यमान है तो उसके विपरीत गुणों से युक्त कण भी उसके साथ-2 पैदा हो जाता है, यही प्रकृति का नियम

है। इन्हीं दो गुणों या द्वैतवाद के पैदा होते ही रचना, कार्य या विचार बनने या बिगड़ने लगते हैं और एक नई व्यवस्था का जन्म होने लगता है, जिसका अन्त त्रैतवाद और सहस्रवाद में जाकर होता है जो क्लेश व दु:ख पैदा करता है। इसका वर्णन आगे चलकर ध्यान की अवस्थाओं में किया जायेगा। पांचवे स्तर पर वह ताकत काम कर रही है जो परमाणु के बाहरी स्तर पर विद्यमान रहती है और इस इलेक्ट्रान को ओरबिट में बाहर या अन्दर भेजती हुई इसका संचालन करती रहती है तथा परमाणुओं व तत्वों की गतिशीलता को बनाए रखती है। यह उसी तरह से कार्य करती है जैसे एक कोशिका के अन्दर उसके बाहरी स्तर पर ऊर्जा का पांचवा स्तर विद्यमान रहता है। इसी गुण के कारण एक साधारण लोहे की छड़ दूसरे चुम्बक के सम्पर्क में आकर चुम्बक बन जाती है और यह शरीर प्रकाश का स्रोत बन जाता है। छटे स्तर पर ऊर्जा का वह स्तर विद्यमान है जब यह ऊर्जा पूरे तत्व या परमाणु को संचालित करती है, उसी तरह से जैसे एक कोशिका के अन्दर और पूरे शरीर के अन्दर संचालित करती है तथा अन्दर के पांचों ताकत के स्तरों को बांध कर रखती हुई उनसे उनके स्तर के काम लेती रहती है।

जब हम पदार्थ के अन्तर से अन्तरतम में जाते हैं तो इन कणों की गति व कार्यशीलता इतनी बढ़ जाती है कि इनकी गति व अवस्था एक साथ नही मापी जा सकती है। हम देखते हैं कि एक पत्थर जो बाहर से इतना शिथिल व बेजान मालूम पड़ता है, इसी पत्थर के अन्दर इसके नाभीकिय कणों की गति को पकड़ पाना बहुत ही कठिन कार्य है जहां पर हिजनबर्ग का 'अनिश्चितता का सिद्धांत' कार्य करता है। अत: ज्यों ही हम पदार्थ के अन्दर जाते हैं यही ऊर्जा अपना स्वरूप बदलकर गतिशीलता में आ जाती है और एक स्तर पर यही गतिशीलता व चेतनता मन व आत्मा के रूप में जागृत चेतना बनकर इस शरीर और ब्रह्माण्ड को संचालित करती है।

यह था इस ब्रह्माण्ड की स्थूल व सूक्ष्म कणों में फैली सामान्य ताकत का वर्णन। अब मुख्य-2 स्थानों पर ठहरी विशेष ताकत का वर्णन किया जाएगा। इस शरीर में जो छ: स्थूल चक्र हैं उनके मण्डलों का वर्णन, उन पर विराजमान ताकत, मंत्र तथा उन मण्डलों पर ध्यान करने का फल हठयोग तथा तांत्रिक शास्त्रों में विशेष रूप से किया गया है। राधास्वामी पंथ में बताए गए सुरत-शब्द योग में इन स्थानों पर ध्यान करना कब्र का खोदना माना जाता है और आज्ञा चक्र पर ध्यान टिकाने पर बल दिया जाता है जिसके खुलने पर नीचे के सभी चक्रों के कमल अपने आप खुल जाते हैं। आज्ञा चक्र से नीचे के स्थान रिद्धि-सिद्धि करने वालों के लिए होते हैं। सुरत शब्द के अभ्यासी के लिए यह नीचे का व्यवहार है तथा इनमें फंसना अपने असली ध्येय से दूर हटना है। फिर भी जानकारी के लिए इस शरीर के स्थूल चक्रों व उन पर ध्यान करने का फल नीचे वर्णन किया जाता है।

मूलाधार चक्र (गुदा चक्र) :

1. चक्र स्थान - गुदा मूल के पास
2. आकृति - रक्त रंग के प्रकाश से उज्जवलित चार पंखडी (दलों) वाले कमल के समान है व चारों पंखड़ियों पर चार अक्षर हैं।
3. तत्व स्थान - पृथ्वी तत्व
4. तत्व बीज लं है।
5. गुण - गंध गुण है। अपान वायु का मुख्य स्थान है।
6. ज्ञानेन्द्रिय - गंध तन्मात्रा से उत्पन्न होने वाली सूंघने की शक्ति नासिका का स्थान है।
7. कर्मेन्द्रिय - पृथ्वी तत्व से उत्पन्न होने वाली मल-त्याग शक्ति गुदा का स्थान है।
8. लोक - भूलोक है (भू)
9. तत्व बीज का वाहन-ऐरावत हाथी जिस पर इन्द्र विराजमान है।

10. अधिपति देवता – गणेश
11. चक्र पर ध्यान का फल– आरोग्यता, आनन्दचित्त, वाक्य, काव्य, प्रबंध दक्षता।

इस चक्र के नीचे त्रिकोण यंत्र जैसा एक सूक्ष्म योनिमण्डल है जिसके मध्य में कोण से सुषुम्ना (सरस्वती) नाड़ी, दाएं पिंगला (सूर्य, यमुना) नाड़ी तथा बाएं इड़ा (गंगा, चन्द्र) नाड़ी निकलती है। इसलिए इसे मुक्तत्रिवेणी कहते हैं। ऊपर जा कर जब ये नाड़ियां मिलती हैं तो उसे युक्त त्रिवेणी कहते हैं। इस योनिमण्डल के मध्य में ब्रह्मनाड़ी है जिसके मुख में कुण्डलीनी शक्ति साढ़े तीन कुण्डल में लिपटी हुई शंख के समान है। कुण्डलीनी शक्ति अर्थात् मूलशक्ति का आधार होने के कारण इस चक्र को मूलाधार कहते हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र (इन्द्री चक्र) :

1. स्थान – इन्द्री के पास
2. आकृति – सिन्दूरी रंग के प्रकाश से प्रकाशित छः दल वाले कमल के समान। इन छः दलों पर छः वर्ण हैं।
3. तत्व स्थान – जल तत्व
4. तत्व बीज वं है।
5. गुण – रस है। व्यान वायु का मुख्य स्थान है।
6. ज्ञानेन्द्रिय – इस तन्मात्रा से उत्पन्न स्वाद लेने की शक्ति रसना का स्थान है।
7. कर्मेन्द्रिय – जल तत्व से उत्पन्न मूत्र त्याग शक्ति उपस्थ का स्थान है।
8. लोक – भुवः है।
9. तत्व बीज का वाहन–मकर जिसके ऊपर वरूण विराजमान है।
10. अधिपति देवता– ब्रह्मा सावित्री के साथ
11. चक्र पर ध्यान का फल– उत्पत्ति, सृजन व जिह्वा पर सरस्वती

देवी का होना बतलाया गया है।

मणिपूरक चक्र (नाभि चक्र) :

1. स्थान – नाभिमूल है।
2. आकृति – नीले रंग के प्रकाश से आलोकित, प्रकाशित दस पंखड़ी वाले कमल के समान है। दस दलों पर 10 अक्षर हैं।
3. तत्व स्थान – अग्नि तत्व
4. तत्व बीज रं है।
5. गुण – रूप है। भोजन के रस को सारे शरीर में समानरूप से पहुंचाने वाले समानवायु का मुख्य स्थान है।
6. ज्ञानेन्द्रिय – रूप तन्मात्रा से उत्पन्न देखने की शक्ति चक्षु का स्थान है।
7. कर्मेन्द्रिय – अग्नि तत्व से उत्पन्न चलने की शक्ति पाद (पैर) का स्थान है।
8. स्वः लोक है।
9. तत्व बीज का वाहन – मेष (मेढ़ा) जिसके ऊपर अग्नि देवता विराजमान है।
10. अधिपति देवता – विष्णु व लक्ष्मी
11. ध्यान का फल – शरीर व्यूह ज्ञान होता है, अजीर्ण आदि रोग दूर होते हैं।

अनाहत चक्र (हृदय चक्र) :

1. स्थान – हृदय के पास
2. आकृति – सिन्दूरी रंग के प्रकाश से भासित 12 पंखुडी वाले कमल के समान है जिन पर 12 अक्षर हैं।
3. वायु तत्व का मुख्य स्थान है।
4. तत्व बीज यं है।
5. गुण–स्पर्श है। मुख व नासिका से गति करने वाले प्राणवायु

का मुख्य स्थान है।

6. कर्मेन्द्रिय- वायुतत्व से उत्पन्न पकड़ने की शक्ति हाथ का स्थान है।
7. मह:लोक है। अन्त: करण का मुख्य स्थान है।
8. अधिपति देवता - शिव पार्वती के साथ।
9. चक्र पर ध्यान के लाभ - कवित्वशक्ति का लाभ, वाक्पतित्व, जितेन्द्रिय होना इत्यादि।

विशुद्ध चक्र (कण्ठ चक्र) :

1. स्थान - कण्ठ देश
2. आकृति - धूम्र अथवा धुंधले रंग के प्रकाश से प्रकाशित 16 पंखुडी वाले कमल के समान जिन पर 16 अक्षर हैं।
3. आकाश तत्व का मुख्य स्थान है।
4. गुण-शब्द है। ऊपर की ओर गति करने वाले उदान वायु का मुख्य स्थान है।
5. ज्ञानेन्द्रिय - शब्द तन्मात्रा से उत्पन्न श्रवण शक्ति श्रोत्र का स्थान है।
6. कमेन्द्रिय - आकाश तत्व से उत्पन्न वाकशक्ति वाणी का स्थान है।
7. लोक - जन: लोक है।
8. तत्व बीज हं का वाहन - हाथी जिसके ऊपर प्रकाश देवता आरूढ़ है।
9. अधिपति देवता - शक्ति
10. चक्र पर ध्यान का फल - कवि, महाज्ञानी, शान्तिचित, निरोग, दीर्घजीवी व शोकहीन।

आज्ञा चक्र (तीसरा तिल, तीसरा नेत्र, शिव नेत्र या दिव्य-चक्षु)

1. स्थान - दोनों भ्रुवों के मध्य में है।

2. आकृति - श्वेत प्रकाश के दो पंखड़ियों वाले कमल के समान जिन पर दो अक्षर हैं।
3. तत्व - लिंग अर्थात् लिंग आकार महत्तत्व।
4. तत्व बीज ओ३म् है।
5. तत्व बीज गति - नाद है।
6. लोक - तप: है।
7. तत्व बीज का वाहन नाद है।
8. अधिपति देवता - आत्मा।
9. चक्र पर ध्यान का फल - ध्यान द्वारा विभिन्न चक्रों पर जो फल प्राप्त होते हैं वे सब एकमात्र इस चक्र पर ध्यान करने से प्राप्त हो जाते हैं।

आज्ञा चक्र

शास्त्रों में स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि आज्ञा चक्र से नीचे के चक्रों पर ध्यान करने से केवल शारीरिक या मानसिक आरोग्यता प्राप्त की जा सकती है। यदि नाद (शब्द) और ज्योति (प्रकाश) का ध्यान करना है तो उसके लिए आज्ञा चक्र पर ही ध्यान लगाया जाता है जो जागृत में सुरत (आत्मा) का केन्द्र होता है और यह भी बताया गया है कि जो फल भिन्न-2 चक्रों पर ध्यान करने से प्राप्त होते हैं, वे सब केवल इस एक चक्र पर ध्यान करने से प्राप्त हो जाते हैं। ज्ञानसंकलिनी तंत्र में कहा गया है :

इडा भागीरथी गंगा पिंगला यमुना नदी।
तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषुम्णाख्या सरस्वति।।
त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्चते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वति सर्वपापैः प्रमुच्चते।।

अर्थात् इड़ा (गंगा), पिंगला (यमुना) तथा इन दोनों के मध्य जानेवाली नाड़ी सुषुम्ना को सरस्वती कहते हैं इस त्रिवेणी का संगम जहां आज्ञा चक्र है, उसे तीर्थराज कहते हैं इसमें स्नान करने से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

यहां पर यह भी बताया गया है कि हर चक्र का बीजमंत्र अलग-2 है और इसी मंत्र के द्वारा इस स्थान के अधिपति देवता को प्रकट किया जा सकता है। आज्ञा चक्र का बीज मंत्र 'ओ३म्' है। अतः यहां पर स्पष्ट है कि आज्ञा चक्र से ऊपर के चक्रों पर यह मंत्र उपयुक्त नहीं है। इसलिए संत मत में इन ऊपर के चक्रों के लिए दूसरे नाम बताए गए हैं जो संत सतगुरू द्वारा अभ्यास से खोजे गए हैं, ये नाम वर्णात्मक नहीं बल्कि धुनात्मक हैं। आज्ञा चक्र से नीचे के सारे नाम वर्णात्मक हैं अर्थात् जीभ्या द्वारा उच्चारण किये जाते हैं। इससे ऊपर के सारे नाम

धुनात्मक हैं अर्थात् अभ्यास के द्वारा शब्द धुन के रूप में संगीत बन कर अन्दर प्रकट होते हैं जो सुरत के कानों द्वारा सुने जाते हैं। यह शब्द-धुन बाहरी कानों का विषय नहीं है। इसे बहरा आदमी भी अपने अन्दर प्रकट कर सकता है और सुन सकता है। इसी प्रकार आन्तरिक प्रकाश भी तीसरी आंख अर्थात् सुरत की आंख द्वारा देखा जाता है जिसे अन्धा व्यक्ति भी देख सकता है।

अब आरम्भ किया जा रहा है अभ्यास का क्रियात्मक पहलू जहां से सुरत-शब्द योग आरम्भ होता है। स्मरण व ध्यान के लगातार अभ्यास द्वारा तीसरा नेत्र (शिव नेत्र) खुल जाता है और प्रकाश की आत्मा प्रकट हो जाती है। शब्द (अनहद नाद) अपनी गति में आने लग जाता है जिसकी वजह से अलग-2 तरह के शब्द व ध्वनियां सुनने लग जाते हैं। शब्द और धुन की स्पष्ट व्याख्या हुजूर महाराज राय सालिगराम द्वारा 'सार उपदेश राधास्वामी' में इस प्रकार की गई है :

'' जिस वक्त की प्रथम जुहूर कुल मालिक का हुआ तो पहले शब्द हुआ। वही शब्द 'स्वामी' यानि कुल का मालिक है और जो आवाज यानि धार उस शब्द से निकली, उसी का नाम 'आदि सुरत' है। ये दोनों कुल रचना के मालिक हैं। इसी तरह सतलोक तक हर मुकाम से जहां-जहां कि धार ने ठहर कर मण्डल बनाया और रचना करी, शब्द प्रकट हुआ और उसकी धार नीचे उतरी और शब्द और धार का नाम भी 'राधास्वामी' हो सकता है मगर असली मुकाम इस नाम का आखिरी मुकाम है कि जो अपार और अकह और अगाध, अनन्त और अनादि है और जिसको 'अनामी पुरूष' भी कहते हैं।''

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि राधा व स्वामी एक दूसरे के पूरक हैं और एक-दूसरे से अलग भी नहीं हैं। राधा स्वामी की शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा इस रचना में स्वामी का प्रचार व प्रसार है। इसी राधा रूपी धुन को पकड़कर स्वामी तक पहुँचा जा सकता है। हर मण्डल का

स्वामी व उसकी शक्ति का विस्तार भिन्न-2 रूप व गुण के साथ हर मण्डल पर विराजमान है।

ज्यों-ज्यों यह ताकत रचना करती हुई नीचे के मण्डलों में आती गई, इसका स्वरूप व आकार भी बदलता गया। इसमें मन व माया की मिलौनी बढ़ती गई। पिण्ड देश में आकर स्थूल माया का विस्तार बढ़ता गया तथा स्वामी की शक्ति का लोप होता गया लेकिन फिर भी हर कण व जीव के अन्दर अनामी धाम की यह ताकत सूक्ष्म तौर पर विद्यमान रहती है, जिसकी वजह से इस रचना का लगातार विस्तार हो रहा है। जिस समय यह सूक्ष्म धार सिमट जाएगी उस समय यह रचना भी चेतना के अभाव में प्रलय के गर्त में जाकर सो जाएगी।

अत: लगातार स्मरण, ध्यान व भजन से अभ्यासी के अन्दर चेतनता बढ़ने लगती है। स्मरण के द्वारा बिखरी हुई वृति इकट्ठी होने लगती है। ध्यान के द्वारा उस वृति को एक जगह टिकाने का अभ्यास किया जाता है और भजन द्वारा एकत्रित चेतनघन को ऊपर की तरफ मोड़ा जाता है। इस तरह से धीरे-धीरे सुरत की धार का नीचे इन्द्रियों में आकर भोग-विलास करने का स्वभाव बदलता जाता है तथा सच्चिदानंद का अनुभव खुलने लगता है। इस प्रकार पतंजली मुनि द्वारा वर्णित अष्टांग योग के अन्तिम चार अंग 'प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि अपने आप ही पूर्ण तौर पर अभ्यास का अंग बन जाते हैं। लगातार अभ्यास से अन्दर में शब्द-धुन प्रकट होने लगती है। शब्द इस सृष्टि की जान है और शब्द से ही इस सृष्टि की रचना हुई है। बाईबल में कहा गया है कि आदि में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था और इसी शब्द ने सारी सृष्टि की रचना की। श्री अरविन्द अपनी पुस्तक सावित्री में पिछले पृष्ठ पर लिखते हैं कि सावित्री शब्द है जो रचना करने के लिए नीचे उतर कर आया। दूसरे शास्त्रों में इसे उद्गीत, लोगोस, शब्द, प्रणव, ब्रह्म, नाद ब्रह्म, अक्षर आदि नामों से पुकारा गया है। भगवद्गीता गीत से

निकली है। वेदों को ईश्वर की वाणी (वद्) कहा गया है। ये सब शब्द की ही व्याख्या है। इस्लाम धर्म में इसी शब्द को कलमा इलाही, बांगे इलाही, नादाय आसमानी, आवाजे मुस्तकीन आदि नामों से पुकारा गया है। जो भी अन्तर में गया और अभ्यास किया उसी ने इसी शब्द की बड़ाई की है।

आज्ञा चक्र से ऊपर की साधना तीन चरणों में पूरी होती है। पहला चरण आज्ञा चक्र से त्रिकुटी तक, जो शब्द के अलावा मुख्य तौर पर प्रकाश का अनुभव है। दूसरा सुन्न से भंवरगुफा तक, जो प्रकाश व सुरत के खिंचाव का अनुभव है और तीसरा भंवरगुफा से अनामीधाम तक, जो सुरत का प्रकाश व खिंचाव के साथ-साथ राधास्वामी अवस्था में लय का अनुभव है। यह लिखने की आवश्यकता नही है कि हर मण्डल पर शब्द का अनुभव मुख्य है क्योंकि राधास्वामी योग का आधार सुरत-शब्द योग ही है। पहले चरण में आज्ञा चक्र, ज्योति निरंजन और ओंकार (ॐ) की साधना पूर्ण होती है। दूसरे में रारंग, सोहंग और तीसरे चरण में सतनाम से ऊपर अनामी धाम तक की साधना पूर्ण होती है।

जब साधक लगातार नाम का स्मरण करके अपनी बाहरमुखी चित्तवृति को अन्तर्मुखी बना लेता है तो ध्यान द्वारा वह चित्तवृति एक स्थान पर एकाग्र होकर टिकने लग जाती है और जिस समय यह वृति एकाग्र हो जाती है, अपनी जगह पर रूकने लगती है तो यही चित्तवृति वृत बनाकर प्रकाश के रूप में बहने लग जाती है। इसे ही तीसरा नेत्र, शिव नेत्र या दिव्य चक्षु का खुलना कहा गया है। आखों के पीछे वृति टिकाने का प्रयत्न हर व्यक्ति अनायास ही करता रहता है और अपने काम निकालता रहता है। जब मनुष्य काम करते-करते थक जाता है तो वह आँख बंद करके आराम करना चाहता है, तब वह अपनी वृति इसी स्थान पर टिकाता है और यहां से ताजगी निकाल कर लाता है। जब

एक विद्यार्थी गणित का सवाल नहीं निकाल पाता है तो अचानक सोचते-सोचते उसकी आँखें बन्द हो जाती हैं और उस सवाल का जवाब यहां से निकाल कर ले आता है। यहां पर ध्यान लगाने से हमारी आत्मिक धार जो नीचे की तरफ इन्द्रियों में से बह रही है वही धार एकाग्रता करने पर यहां धारण होने लगती है। वृति को बार-बार मोड़ कर तीसरे तिल पर लाया जाता है। इसे ही पतंजली मुनि या राजयोग में धारणा कहा गया है। इसके बाद जब वृति तीसरे तिल पर टिकने लग जाती है और प्रकाश रूप में प्रकट होने लगती है उसे ध्यान तथा जब साधक इसमें लय होने लगता है, दृष्टा-दृष्य का भाव समाप्त होने लगता है तो इसे समाधि कहा गया है और यहां आकर अष्टांग योग पूर्ण हो जाता है।

यहीं पर तान्त्रिक व हठयेाग की अन्तिम सीमा है। इन शास्त्रों में आज्ञा चक्र पर ध्यान का फल नीचे के चक्रों के फल के बराबर कहा गया है। राजयोग या अद्वैत वेदान्त की सम्प्रज्ञात समाधि यहीं पर पूर्ण होती है। जब साधक की वृति एक जगह टिकने लग जाती है, प्रकाश प्रकट हो जाता है, कुण्डलीनी या भुजंगिनी शक्ति जाग जाती है तो उसकी मणि का प्रकाश फैलता तथा सिकुड़ता हुआ इस प्रकार प्रकट होता है जैसे एक सर्पिणी अपने फन को फैलाती और सिकोड़ लेती है और उसकी फुंफकार करने जैसी आवाज शब्द के रूप में प्रकट होने लगती है। यही राजयोग की सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि है। यहीं पर पुरूष को चित्त पर प्रतिबिम्बित अपने ही प्रकाश से प्रकृति के विकारों का ज्ञान होता है। पुरूष प्रकृति के भेद को जान लेता है। दृष्टा-दृष्य का रहस्य समझ में आ जाता है और पुरूष जान लेता है कि यह दृष्य (प्रकृति) मैं नहीं हूं। मैं अर्थात् पुरूष इन सब बंधनों से अलग है तथा पुरूष सभी क्लेशों से मुक्त हो जाता है। जब वृति-निरोध स्वत: हो जाता है और चित्त पर कोई वृति नहीं उठती है अर्थात् मूल प्रकृति अपनी साम्यवस्था में प्रकट हो जाती है; सत, रज व तम साम्यवस्था में आ जाते

हैं, कारण अवस्था होने की वजह से जहां अंधकार रहता है तब असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि का साक्षात्कार होता है तथा योगी कैवल्यपद में स्थित हो जाता है। जहां पर कर्मों का कोई बीज या वृति नही रहती है, निवृति अवस्था आ जाती है यहां आकर पुरूष तीन ताप (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक), पांच क्लेश, तीन गुणों और प्रकृति के सम व विषम विकारों से निवृत हो जाता है। यही है राजयोग का ध्यान फल जो आज्ञा चक्र और उसके आगे के अंधकार मण्डल पर पूर्ण हो जाता है। यह योग आरम्भ में हिरण्यगर्भ ऋषि द्वारा प्रकट किया गया था लेकिन इसके लगभग लुप्त होने पर फिर पतञ्जली मुनि ने उन्हीं सूत्रों के आधार पर योग-दर्शन का प्रतिपादन किया। इसी अवस्था को पतञ्जली योग सूत्र में धर्ममेघ समाधि कहा गया है जो विवकेख्याति से प्राप्त होती है। विवेकानन्द अपने सम्पूर्ण साहित्य में इसी धर्ममेघ समाधि को प्रकाश का बादल (क्लाऊड ऑफ वरच्यू) कह कर वर्णन करते हैं अर्थात् जब नीला व श्यामला प्रकाश इस शरीर की अचेतन और निश्चेतन चेतना से निकल कर आता है तो उसका रंग व चमक नीलिमा और श्यामला के रूप में बादल की तरह घूम-घूम कर आती है। यही बात श्वेताश्वतर उपनिषद में कही गई है :

यथैव बिंम्ब मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम।
तद्वात्मतत्वं प्रसमीक्ष्य देही
एक: कृतार्थो भवते वीतशोक:।।

अर्थात् तेजोमय सोना या चांदी जो मिट्टी से लिप्त है (मृदयोलिप्तं) और जब साफ किया जाता है तो प्रकाश के रूप में चमकने लगता है तथा देही पुरूष उस आत्मा को देखता हुआ दु:खों से रहित हो जाता है अत: यह चमकता हुआ प्रकाश आरम्भ में पृथ्वी व बादल के रंग से लिपटा रहता है जो धीरे-धीरे अभ्यास में चमकता

जाता है और भगवां, पीलेपन या लालिमा में बदलने लगता है।

कपिलमुनि के सांख्य-दर्शन में मूल प्रकृति का पहला विकार या विकृति महत्तत्व (बुद्धि) है, जबकि योग-दर्शन में इसका नाम चित्त दिया गया है। सांख्य दर्शन में बुद्धि से इन विकारों के स्वरूप का निश्चय किया जाता है और गुण (सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण) गुणों में बरत रहें हैं, यह सोचकर प्रकृति के असली रूप को समझा जाता है जबकि योग में चित्त पर समाधि द्वारा इन विकारों का साक्षात्कार किया जाता है।

तान्त्रिक व हठयोग शास्त्रों में जो सहस्रार का वर्णन किया गया है वह संतमत के अनुसार इसी चक्र का वर्णन है जो इस प्रकार है :

सहस्रार :

1 स्थान - तालू के ऊपर मस्तिष्क में, ब्रह्मरेन्द्र से ऊपर सब शक्तियों का केन्द्र है।

2 आकृति - नाना रंग के प्रकाश से युक्त कमल के समान जिसके पंखों पर अ से ज्ञ तक सब अक्षर व वर्ण हैं।

3 तत्व - तत्वातीत है।

4 तत्व बीज विसर्ग (Disunion) है।

5 तत्व बीज गति - बिन्दु है।

6 लोक सत्यम है।

7 तत्व बीज का वाहन बिन्दू है।

8 अधिपति देवता - परब्रह्म अपनी महाशक्ति के साथ।

9 चक्र पर ध्यान का फल - अमर होना, मुक्ति।

सहस्रार से पहले के सभी चक्रों पर ध्यान करने का फल स्थूल, प्राणिक व मानसिक रचना से सम्बंधित है लेकिन सहस्रार पर ध्यान करने का फल मुक्ति है। राधास्वामी पंथ की मुक्ति का स्वरूप सबसे भिन्न है। सहस्रार तक वर्णन किया गया उपरोलिखित

अभ्यास सुरत-शब्द योग में आज्ञा चक्र तक पूरा कर लिया जाता है। इसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है - चित्तवृति तीसरे तिल पर एकाग्र तथा स्थिर होने पर गतियुक्त प्रकाश में बदल जाती है। यह प्रकाश कभी कमल के फूल की तरह पूरा खुल जाता है और अगले ही क्षण यही सिमट कर एक बिन्दू का रूप बन जाता है। इसीलिए ऊपर वर्णित व्याख्या में तत्व बीज की गति बिन्दू कही गई है। अत: इस योग में ध्यान का यह स्तर आज्ञा चक्र पर पूर्ण कर लिया जाता है। सुरत-शब्द योग के सहस्रार का वर्णन आगे चलकर किया जाएगा।

इस सिकुड़न और फैलाव में पिण्ड व ब्रह्मण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का रहस्य छिपा हुआ है। यही असली प्राणायाम है। नीचे के चक्रों का प्राणायाम शारीरिक प्राणायाम है। यही शरीर की शक्ति का फैलना तथा सिकुड़ना है। यही प्राण की पूरक, कुम्भक तथा रेचक अवस्था को दर्शाता है। जो नियम इस शरीर, प्राण व मन की चेतना में काम करता है वही सारे ब्रह्माण्ड में काम करता है। इसी नियम के अधीन मनुष्य जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्थाओं में से गुजरता रहता है। यही ब्रह्मा का सांस लेना, रोकना और छोड़ना है जिसकी वजह से उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हुआ करती है। इसी के तहत प्रकृति की दो ताकतें सैन्ट्रीपीटल और सैन्ट्रीफ्यूगल हर छोटे से छोटे कण और बड़े से बड़े ब्रह्माण्ड में काम करती हैं। इनमें से एक ताकत अन्दर की तरफ और दूसरी बाहर की तरफ खींचती रहती है। एक अन्दर ले जाना चाहती है और दूसरी बाहर की तरफ खींचना चाहती है। इसी की वजह से पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ चक्र लगाती है और यह सूर्य दूसरे सौर परिवार के चारों तरफ और एक आकाशगंगा दूसरी आकाशगंगाओं के चारों तरफ घूमती रहती है।

इस तरह से चित्त की वृति आज्ञा चक्र पर कमल की तरह खिलती रहती है और बार-बार एक बिन्दू का आकार लेती रहती है।

प्राणों की धार ऊपर की तरफ खिंचने लगती है और उसका संचय माथे में होता हुआ प्रतीत होता है। हृदय में ठण्डक व आनन्द महसूस होता है। शरीर में गर्मी आने लगती है। इस समय मूलाधार चक्र से सम्बन्धित कोई बिमारी पैदा होने की संभावना हो सकती है। अत: इस समय सदाचार, ब्रह्मचर्य तथा खान-पान पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। गर्मी तब महसूस होती है जब कुण्डलीनी शक्ति नाभि में अग्नि तत्व की विष्णु ग्रन्थी खोलती हुई ऊपर आती है। नीचे से हाथ व पैर सुन्न होते हुए प्रतीत होते हैं। यह अवस्था वह अवस्था नहीं है जिसे जीते-जी-मरना समझ लिया जाता है और साधक अपने अनुभव को पूर्ण समझ लेता है। जीते-जी-मरना तो शरीर को मृत्यु प्रदान करने जैसा अनुभव है जिसका वर्णन अभ्यास के दूसरे चरण में किया जाएगा और जिसकी पूर्णता कई प्रकाश व अंधकार के मण्डल पार करने के बाद सच्चखण्ड में चेतना की तीसरे चरण की यात्रा में होती है। यहां पर सूर्य, चांद, सितारे, बादल, पर्वत आदि दृष्य दिखाई दे सकते हैं जो बहुत ही रंगीन व मनमोहक होते हैं। शरीर में कुछ ऊपर की तरफ सरकता हुआ मालुम होता है। चोटी में, हाथ या पैर आदि में विशेष ठण्डक की अनुभूति हो सकती है। सुबह, शाम घूमते हुए यह ठण्डक शीतल फव्वारे की तरह सारे शरीर में शीतलता प्रदान करती है। शरीर पर ठण्डी फुहारें पड़ने जैसी अनुभूति हो सकती है। माथे में बिजली की तारों के जलने से पैदा होने वाली चमक भी दृष्यमान हो सकती है। यह जरूरी नहीं कि साधक को ये सारी बातें महसूस हों, इन दृष्यों का अधिक ख्याल नहीं करना चाहिए। इस समय साधक को भूख व खाने पर विशेष संयम रखना चाहिए नहीं तो शरीर में बीमारी पैदा हो सकती है। कभी-कभी शरीर पर कीड़ियां चलने का आभास होता है। अकसर ऐसा भी लगता है जैसे शरीर में कांटें चुभ रहे हों। श्वास धीमा-धीमा चलना आरम्भ हो जाता है। कानों में चर-चर की आवाज जैसे नसें-नाड़ियां खुल रही हों आ

सकती है या जैसे शान्त समुन्द्र की ऊपरी सतह पर पानी की झाल उठने से आवाज पैदा होती है या पानी के झरने की तरह कल-2 की आवाज, बादल की धीमी-धीमी गरज जैसी आवाज या भंवरे का भ्रमरगीत जो कई बार शाम के समय वातावरण में सुनाई देता है, ऐसी आवाजें आ सकती हैं। ध्यान की कुछ अग्रिम अवस्था में इकट्ठी घंटियों की टुनटनाहट, भेरी, ढ़ोल या कभी-कभी शंख की आवाज आ सकती है। कभी-कभी माथे से, सिर के मध्य से या चोटी से एक ऊंची पतली हूटर जैसी आवाज पैदा हो सकती है जो कुछ ही क्षणों के लिए आती है, यह आवाज सभी आवाजों को दबाकर आती है और तुरन्त चली भी जाती है। इस तरह से इस अवस्था में अनेक आवाजें शुरू हो-हो कर समाप्त होती रहती हैं। इन आवाजों का रूकना ठीक भी नहीं है। ये जितनी जल्दी बदलती रहें और अगली आवाज आती रहे, उतना ही अच्छा रहता है। जितना अधिक प्रकाश अन्दर में बढ़ता जाएगा, ये आवाजें भी उसी गति से बदलती रहेंगी। यदि अन्दर में प्रकाश की कमी है तो ये आवाजें भी रूक कर खड़ी हो जाती हैं।

ये आवाजें सिर के दाएं हिस्से या मध्य भाग में पैदा होनी चाहिए। यदि ये आवाजें सिर के बायां हिस्से में उठती हैं तो साधक को तुरन्त अपने सतगुरू के पास जाना चाहिए, क्योंकि बाई तरफ की आवाजें काल का शब्द और दाई तरफ की आवाजें दयाल का शब्द हैं। इसी सिलसिले में शरीर का हल्कापन भी महसूस हो सकता है। श्री विवेकानन्द अपने साहित्य (Complete Works of Vivekananda) के भाग दो अध्याय छ: 'प्रत्याहार और धारणा' में इस तरह से वर्णन करते हैं:

"Sometimes there will be sounds, as a peal of bells heard at a distance, commingling and falling on the ear as one continuous sound, Sometimes things will be seen, little specks of light floating and becom-

ing bigger and bigger; and when these things come, know that you are progressing fast."

वे कहते हैं कि जब कभी-कभी हमारे कान में दूर से आती हुई घंटियों की टुनटुनाहट (दूसरी आवाजों के साथ मिली हुई) सुनाई दे या जब प्रकाश के छोटे-छोटे बिन्दू तैरते हुए दिखाई दें जो फैलकर बड़े से बड़े होते जाएं तब समझना चाहिए कि हम बहुत तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। यही घंटियों की टुनटुनाहट तथा अन्य प्रकार के शब्दों का वर्णन श्री अरविन्द द्वारा सावित्री में हृदय चेतना (साईकिक बीइंग) के खुलते समय किया गया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में सारी रचना को अणु तथा परमाणुओं का संयोग मात्र बताया गया है। ये दर्शन बुद्धि की लपेट से आगे नहीं निकल सके। यद्यपि ये दर्शन भी समाधि तक पहुंचने पर बल देते हैं जहां जाकर योगी को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जो इन्द्रियों से परे का ज्ञान है जिसे योगी-प्रत्यक्ष कहा गया है। यहां भी समाधि को योग की तरह ही सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि में बांटा गया है। मिमांसा दर्शन अतीन्द्रिय ज्ञान को स्वीकार नहीं करता और वेदों को अपौरूषेय मानता है। मनुष्य के अन्दर अतीन्द्रिय ज्ञान की सत्ता को नहीं स्वीकारा गया है।

वेदान्त का अद्वैत दर्शन बौद्धिक स्तर पर चेतना का विकास है। एक आत्मा ही सर्वव्यापक ब्रह्म है जिसकी पुष्टि 'तत् त्वम असि' (वह तू है) तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) आदि महावाक्यों से होती है। केवल अविद्या के कारण यह आत्मा अन्त:करण में फंसकर जीव कहलाती है। यह दर्शन भी सांख्य योग की तरह ही नित्य-अनित्य-वस्तु विवेक पर ही बल देता है जिसके जानने पर अविद्या का नाश होता है और जीव को अपने असली स्वरूप का ज्ञान होता है लेकिन श्री अरविन्द और राधास्वामी योग के अनुसार असली विवेक शक्ति तो अन्तर में ऊंचे स्तर की चेतना का साक्षात्कार करके उसकी सत्ता, ज्ञान तथा आनन्द

के साथ एकता स्थापित करने से प्राप्त होती है। अत: आन्तरिक अभ्यास की क्रियात्मक व उच्चतम अवस्था को देखते हुए योग, सांख्य तथा वेदान्त में कोई विशेष अन्तर नहीं है, केवल बौद्धिक स्तर पर उसकी व्याख्या अलग हो गई है बल्कि योग दर्शन इन तीनों में अधिक क्रियाशील और निज स्वरूप तक पहुंचने की युक्ति प्रदान करता है जो साधन सम्पन्न है। जब तक इस शरीर में विराजमान आत्मिक चेतना का योग क्रियात्मक तौर पर ब्रह्म की चेतना के साथ पूरी तरह से नहीं हो जाता तब तक अद्वैत दर्शन केवल शब्दों की व्याख्या है। वेदान्त दर्शन में भी समाधि को दो भागों में बांटा जाता है। सम्प्रज्ञात (सविकल्प) और असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधि। इनका भी वही रूप है जो योगदर्शन में वर्णन किया गया है।

आधुनिक मत ब्रह्मकुमारी में भी परमपिता शिव आज्ञाचक्र पर विराजमान शक्ति है। हंसादेश देवी-देवताओं तक का रास्ता है जो आज्ञाचक्र तक पूरा हो जाता है। ओशो दर्शन में 'समाधि के सप्त द्वार' में अन्तिम दो द्वार ध्यान व समाधि ही आन्तरिक द्वार हैं बाकि सभी बाहरी साधन हैं। आज्ञा चक्र के खुलते ही ये सप्त द्वार भी अष्टांगिक मार्ग की तरह पूर्ण हो जाते हैं। इससे आगे विशाल अंधकार आ जाता है जहां के आनन्द में डुबकी लगाने से साधक अपने आपको अपार आनन्द में खो देता है। इस आनन्द की उपमा महात्मा बुद्ध के उस अनुभव के आधार पर दी जाती है जिसकी ड्योढ़ी पर पहुंचकर वे उस असीम आनन्द को छोड़कर, अपने सुख को छोड़कर इस दुनियां की भलाई के लिए वापिस आ जाते हैं जिसे मानवता के लिए त्याग की संज्ञा दी जाती है। राधास्वामी योग में यहां तक का ध्यान सुरत-शब्द योग शुरू होने से पहले की अवस्था है। यहां तक का ध्यान स्थूल ध्यान माना जाता है जो मन की आखों को विचलित करने वाली लीला है। जब आज्ञा चक्र का प्रकाश खुलता है तो बौद्ध मत में कहे दिव्यचक्षु अर्थात् तीसरे नेत्र की

प्राप्ति हो जाती है लेकिन बौद्ध मत में इसे परम लक्ष्य नहीं माना गया है बल्कि शुन्यावस्था तक पहुंचने के लिए यह एक बीच की अवस्था है। जैन मत में यह परम्ज्योति का लक्षण उपयोग है।

जब आज्ञाचक्र पर आत्मा की धार सिमटकर प्रकाश का अनुभव कर रही होती है तो उसे इस बात का निश्चय नहीं होता है कि प्रकाश के बाद अंधकार का आना भी निश्चित होता है। हर दिन के बाद रात भी अपना अस्तित्व रखती है। दिन-रात की उत्पत्ति के कारण ही युगों का समापन होता है और यह सृष्टि उत्पत्ति व प्रलय में आती जाती रहती है। हर जागृति के बाद स्वप्न व सुषुप्ति का आना निश्चित है। क्योंकि हमारे शरीर की शक्ति जो काम करने पर थक जाती है वह एक समय काम करते-करते रूक जाना चाहती है और ताजगी वापिस लाने की अवस्थाएं पैदा करने लगती है तथा अन्दर की तरफ सुषुप्ति में खिंच जाना चाहती है जहां पर ताजगी का भण्डार है। यही है सुषुप्ति की अवस्था। यदि मनुष्य इस सुषुप्ति में न जा पाए और सारी रात स्वप्नों में ही उलझा रहे तो उसकी नींद पूरी नहीं हो पाती है और शरीर में पूरी ताजगी नहीं आ पाती है जिससे सारा दिन बैचेनी रहती है। कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य सुरत के भण्डार में जब तक डुबकी नहीं लगा लेता है तब तक वह पूरी ताजगी के साथ वापिस जागृति में नहीं आ पाता है। अत: जहां तक प्रकाश व अंधकार की आंख मिचौनी चलती रहती है तब तक वह सुरत सुख-दु:ख की अवस्था में पड़ी रहती है। पूरी आजादी के लिए यह ऐसी अवस्था में जानी चाहिए जहां सदा दिवाली रहती है और वह स्थान संतो का निवास स्थान सतलोक है। जब तक आत्मा उस स्थान से नीचे रूकी हुई है तब तक ब्रह्मण्ड में ब्रह्म की चेतना के साथ और माया मण्डल में माया की चेतना के साथ सिकुड़ती और फैलती रहती है। अत: यह सुख-दु:ख, प्रकाश-अंधकार और दिन-रात की भंवर में फंसी हुई चक्कर काटती रहती है क्योंकि जहां तक बाहर की चेतना का

सवाल है वह बहुत ही संवेदनशील है। उसके ऊपर हर तरह के बाहरी वातावरण का असर पड़ता है। इस स्तर की चेतना ठण्ड में सिकुड़ना चाहती है और गर्मी में अर्थात् ऊर्जा मिलने पर फैलने के लिए प्रयत्नशील रहती है। यही व्यवहार सुख-दु:ख, जागृति-सुषुप्ति आदि में इस चेतना का चलता रहता है। जब शरीर के किसी हिस्से में चोट लग जाती है तो यही चेतना उस हिस्से से अपनी धार खींचने की कोशिश करती है जिसकी वजह से उस स्थान पर दर्द का अनुभव होता है और जब वही अंग ठीक हो जाता है तो यह अपनी पूर्ण धार के साथ उस स्थान में से बिना रूकावट के बहने लगती है और सुख का अनुभव करती है। यही हाल तब होता है जब हम काम करते-करते थक जाते हैं और शरीर में चस-चस होकर दर्द होता रहता है, इसका अर्थ है कि आत्मा की धार बाहरी स्तर से अपने भण्डार की तरफ खिंच जाना चाहती है और जब एक बार अपने भण्डार सुषुप्ति में पहुंच जाती है तो फिर उसी ताजगी के साथ वापिस आकर अपनी पूरी ताकत के साथ अपने काम-काज में लग जाती है। इस स्थान पर चेतना का संवेदनशील होना आवश्यक भी है वरना यह चेतना की धार इस स्थूल रचना की उत्पत्ति ही नहीं कर सकेगी। इस मन, जीवन व शरीर को संचालित नहीं कर पाएगी। इस स्थान पर इसका गुण फैलना और सिकुड़ना है। यही बात इस उदाहरण से समझी जा सकती है कि जब कोई मनुष्य अपने मन के अन्दर किसी कामनी का विचार पैदा करता है तो चेतना की धार मन की धार के द्वारा उस इन्द्रि की तरफ फैल जाती है और उस इन्द्री के लिए भोग का साधन पैदा करना चाहती है। यह हुआ इसका फैलना अर्थात् रचना करना और जब उसी आदमी को उसी समय ऐसा कोई समाचार सुना दिया जाए जो उसके लिए दु:ख या भय का कारण हो तो वह चेतना की धार अन्दर की तरफ खिंच जाना चाहती है। शरीर की सारी इन्द्रियां शिथिल होकर सुस्त पड़ जाती हैं। यहां तक कि मन व सुरत की धार भी

अपने स्रोत की तरफ जाना चाहती है, यह है धार का सिकुड़ना अर्थात् इसका भण्डार में लय। इसी तरह से विशाल स्तर पर उत्पत्ति और प्रलय का नियम काम करता है। ब्रह्म की चेतना का फैलना सृष्टि की उत्पत्ति है और इसका सिकुड़ना सृष्टि की प्रलय है। इसलिए इस रचना की उत्पत्ति के लिए, हमारे जीवन को चलाने के लिए और एक कार्य या अवस्था से दूसरी अवस्था में तबदील होते रहने की मन, जीवन व शरीर की चेष्टा को बनाए रखने के लिए इस चेतना की धार का बाहरी स्तर पर संवेदनशील होना अति आवश्यक है। इस स्तर की चेतना से उभरने के लिए यह आवश्यक है कि हम ऊंचे स्तर की चेतना के सत्त, चित्त और आनन्द के साथ एकता स्थापित करें। हर जीव, कण, कोशिका, माया, ब्रह्म, सतलोक सभी में यह सत्त, चित्त और आनन्द (सच्चिदानन्द्) की अवस्था मौजूद रहती है। यह शरीर, प्राण, मन या कोई भी अस्तित्व है, उसमें चेतना या ज्ञान और उस अवस्था का आनन्द इन सब का होना अति आवश्यक है और यदि किसी भी स्तर पर इन तीनों के साथ एकता स्थापित हो जाए तो उसी स्तर के सच्चिदानन्द् का अनुभव होता है। यही कारण है कि कोई भी जीव अपनी वर्तमान अवस्था में खुश रहता है जैसे पशु-पशु और मनुष्य-मनुष्य की अवस्था में रहना चाहता है। कोई भी तबदीली सुखकारी मालुम नहीं होती है। एक दुर्जन व्यक्ति को यदि किसी सज्जन पुरूष के पास रखा जाए तो उसके लिए कठिनाई आएगी और वहां से भागने की कोशिश करेगा। अनेकों साधक शिकायत करते रहते हैं कि उनके अन्दर परमात्मा की सत्ता, प्रकाश या शब्द नहीं प्रकट हो रहे हैं। इसका जवाब यही है कि जब परमात्मा का नूर, जुहूर साधक के अन्दर उतरने लगता है तो नीचे के स्तर के सच्चिदानन्द् का जो सुख हमारा शरीर, जीवन व मन ले रहे हैं उन्हें वह सुख खोना पड़ता है क्योंकि ऊपर के मण्डल की चेतना की जरूरतें अलग हैं, वहां के सच्चिदानन्द् का अनुभव अलग है। यह नया अनुभव हमारे शरीर,

जीवन और मन को सहन नहीं हो पाता है क्योंकि वह ऊपर के मण्डल की चेतना उस नीचे के स्तर की चेतना को उभार कर अपने स्तर पर लाने लगती है लेकिन आज का मानव जो शारीरिक व मानसिक भोगों में फंसा हुआ है, उसकी शारीरिक और मानसिक चेतना अपना संकल्प नहीं छोड़ना चाहती है। इसलिए वर्तमान अवस्था को छोड़े बिना उस ऊपर के मण्डल की चेतना का उतरना इस शरीर में संभव नहीं है। जिससे साधक आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर पाता। जिसके लिए वह स्वयं जिम्मेदार होता है और अपनी इस दशा की शिकायत गुरू या परमात्मा से करता रहता है। यह हाल है उन लोगों का जो स्वार्थ के साथ परमार्थ भी बनाना चाहते हैं लेकिन यह नहीं समझते हैं कि परमार्थ में स्वार्थ और परोपकार अपने आप बन जाते हैं। इसका वर्णन 'अभ्यास के लाभ' अध्याय में किया जाएगा।

जब सच्चिदानन्द् के बारे में लिखा जा रहा है तो इसका पूरा रूप समझना जरूरी है जो अभ्यास की प्रक्रिया को समझने में मदद करेगा। एक विद्वान कहता है कि शुद्ध ब्रह्म सच्चिदानन्द् है। दूसरा कहता है कि ये सारी रचना सच्चिदानन्द् का प्रकटीकरण है। ये दोनों बातें भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। यह कैसे हो सकता है? जहां पर भी सत्त, ज्ञान व आनन्द की तीनों अवस्थाएं विद्यमान रहती हैं वहीं पर सच्चिदानन्द् का अनुभव समाया रहता है। इस रचना के कण-कण में तीनों अवस्थाएं पाई जाती हैं। कहीं अधिकता के साथ तो कहीं न्यूनता के साथ। यह सारी रचना ही इस नियम पर कार्य कर रही है। आत्मा, मन, व शरीर; जागृत, स्वप्न व सुषुप्ति; सत्त, रज व तम; प्राणायाम में पूरक, कुम्भक व रेचक; शरीर के तीन भाग; इसमें नाड़ियां इड़ा, पिंगला व सुषुम्ना; रचना के तीन भाग; उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय इत्यादि सभी जगह पर यह सच्चिदानन्द् का अनुभव काम कर रहा है। जहां भी कोई क्रिया मौजूद है वहीं सच्चिदानन्द् का होना आवश्यक है। इस शरीर में ऊपरी आत्मिक

मण्डल आनन्द का मण्डल है, नीचे शारीरिक चेतना सत्त का मण्डल है, जिसके कारण भौतिक संसार में हमारा अस्तित्व है, सत्ता है। सत्ता ही सत्त है। अत: चेतना की इन दोनों अवस्थाओं के मिलने पर एक तीसरे तरह का ज्ञान उत्पन्न होता है, क्रियात्मक शक्ति उत्पन्न होती है जो इन दोनों के आपसी खिंचाव से पैदा होती है। सतोगुण प्रकाश है, ज्ञान है, समझ तथा विवेक है। तमोगुण अंधकार है, अज्ञान व अविद्या है। अब यदि इन दोनों में अपनी-अपनी धार की वजह से शक्ति मौजूद है तो ये दोनों एक दूसरे को अपनी तरफ खींचते हैं। इनके खिंचाव की वजह से बीच में एक तीसरी क्रियात्मक शक्ति पैदा होती है जिसे रजोगुण कहते हैं। यह चंचल है, गति पैदा करती है। विवेक और अविवेक, ज्ञान व अज्ञान के बीच की अवस्था है। इसी आधार पर मन इस शरीर में तथा ब्रह्म इस ब्रह्मण्ड में काम कर रहे हैं जो दो अवस्थाओं के मिलने के कारण एक क्रियात्मक शक्ति के रूप में विद्यमान रहते हैं। अब यदि मन आत्मा की तरफ झुकाव करता है तो यह आत्मिक अर्थात् रूहानी बन जाता है और अगर शरीर की तरफ झुकता है तो शारीरिक विषय-विकारों का रूप बन जाता है अर्थात् मन शारीरिक वृति का रूप बनकर शारीरिक अर्थात् जिस्मानी बन जाता है। आत्मिक चेतना प्रकाश है, शब्द है तथा विचार, संकल्प-विकल्प व तर्क-वितर्क से परे की वस्तु है। इसी तरह भौतिक चेतना अंधकार है, अज्ञान है परन्तु यह भी विचार, संकल्प-विकल्प व तर्क-वितर्क से परे की वस्तु है। दोनों में ही द्वैत का अभाव है। द्वैत के कारण ही संकल्प-विकल्प या तर्क-वितर्क पैदा होते हैं। अब यदि ये दोनों ही अविचार की वस्तु हैं लेकिन एक दूसरे की विरोधी भी हैं, तो बीच की अवस्था का होना भी जरूरी है जो दोनों को मिलाती है, विचार देती है, इनमें गति पैदा करती है, इनकी अभिव्यक्ति है। यही रचनात्मक ताकत (Creative force) कहलाती है। मन का जन्म भी इसी बीच की व्यवस्था के कारण हुआ है। मनुष्य के स्वप्नों का

रचियता यही मन है जो आत्मिक तथा शारीरिक चेतना का प्रतिनिधि है और अन्दर छिपे संस्कारों या चेष्टाओं को फलीभूत करता है। अकेली आत्मिक या शारीरिक चेतना किसी भी रचना की उत्पत्ति नहीं कर सकती है। इन तीनों अवस्थाओं अर्थात् सत्त, रज, तम की विषमता के कारण ही रचना का अस्तित्व रहता है। इनकी साम्य अवस्था प्रलय का कारण बनती है। आत्मिक तथा शारीरिक चेतना की अधिकता या न्यूनता ही खिंचाव का कारण बनती है, दैतवाद पैदा करती है जिससे एक तीसरी क्रियात्मक शक्ति का जन्म होता है। जिससे रचना का कार्य चलता रहता है। इस शरीर में भी जब आत्मिक तथा शारीरिक चेतना में आपसी खिंचाव का अभाव होने लगता है तो बीच की मानसिक अवस्था भी लुप्त होने लगती है अर्थात् तीनों मण्डलों में साम्यवस्था आने लगती है। चेतना के तीनों स्तर आपस में विलीन होने लगते हैं। ऐसी अवस्था प्रकट होते ही शरीर की मृत्यु होना अवश्यम्भावी है। जिसे टाला नहीं जा सकता है। नींद भी इसी साम्यवस्था का अल्पकालीन परिणाम है। विभिन्न स्तर की चेतना का मिलाप एकता है और एकता शान्ति है, अद्वैत का अनुभव है। चेतना की विषमता अनेकता पैदा करती है, द्वैतवाद पैदा करती है, खिंचाव पैदा करती है। खिंचाव, द्वैतवाद और अनेकवाद ही अशान्ति है, सुख-दु:ख है। सुरत-शब्द के अभ्यास में यही अनुभव कराया जाता है जिससे साधक सुख-दु:ख तथा अच्छाई-बुराई से दूर चला जाता है। इसका अधिक वर्णन 'अभ्यास के लाभ' अध्याय में किया जाएगा।

इसी आधार पर सुख-दु:ख, उतार-चढ़ाव, दिन-रात, जन्म-मरण बनते और बिगड़ते रहते हैं। सच्चिदानन्द् का यह अनुभव इस उदाहरण द्वारा भी समझा जा सकता है: समुंद्र की गहराई में पानी की शांत ऊर्जा का विस्तार है। ऊपर आकाश की गहराइयों में हवा की शांत ऊर्जा का विस्तार है लेकिन जब ये दोनों एक दूसरे के निकट आने

लगते हैं; मिलाप करने लगते हैं तो आपसी आकर्षण व घर्षण के कारण गति पैदा हो जाती है। समुंद्र में उतार-चढ़ाव होने लगते हैं। हवा में भी गति आ जाती है। इसी स्तर पर इन दोनों के मिलाप से एक तीसरी क्रियात्मक शक्ति पैदा होती है जिसमें दोनों के गुण विद्यमान रहते हैं। यही शक्ति मानव को जीवन प्रदान करती है, जहां से बादल उठते हैं, वर्षा होती है, जीवन मिलता है और यहीं से मानव के विनाश के साधन भी पैदा होते हैं। तूफान आते हैं, बाढ़ पैदा होती है आदि-आदि। यह क्रियात्मक शक्ति एक रूप में विनाशकारी है लेकिन दूसरे रूप में जीवनदायिनी आनन्दरूपा शक्ति भी है। इसलिए इस स्तर की चेतना का उचित तरीकों से संचालन करना बहुत ही आवश्यक है। यदि इससे सही काम लिया जाता है तो यही हमारे जीवन को सुखमय बना सकती है और यदि इसे अविवेक से खुला छोड़ दिया जाए तो यही पतन का कारण भी बनती है। इसलिए राधास्वामी योग में सतगुरू जीवों को मन की लगाम संभाल कर रखने की युक्ति सत्संग में बताते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि जहां भी रचना या रचना के जीवन का थोड़ा सा अंश भी बना रहता है वहीं पर इन तीन अवस्थाओं का होना जरूरी है। यही सच्चिदानन्द् है। यह अवस्था कण-कण में मौजूद है। अब कहा जा सकता है कि जब हर स्थान पर, हर कण में यह सच्चिदानन्द् है यह सच्चिदानन्द् की अवस्था मौजूद है तो यही अवस्था सम्पूर्ण रचना के अन्दर ब्रह्म-सच्चिदानन्द् के रूप में विद्यमान क्यों नहीं होगी। जिस तरह से पृथ्वी के एक छोटे से कण में गुरूत्व शक्ति है तो वही छोटा कण पृथ्वी की विशाल शक्ति गुरूत्वाकर्षण शक्ति में भी भागीदार होता है। यह विज्ञान का नियम है। इस तरह से हर धार जो अपने अकेले तौर पर मौजूद रहती है उसका विश्व स्वरूप भी मौजूद रहता है वरना अकेला होने का कोई महत्व नहीं रह जाता है। इसी प्रकार विचारों की एकत्व की धार मिलकर विश्व स्तर पर चेतन ब्रह्म की शक्तिशाली धार बन जाती

है जो भिन्न-भिन्न धारों का स्वामित्व करती हुई इस रचना की संभाल करती है और हमारे कर्मों व संस्कारों के अनुसार हमारे वर्तमान व भविष्य का जीवन तथा उसका फल निर्धारित करती है। इसी आधार पर काल की धार बनती है जो समय के पहिए के ऊपर घूमती हुई इस सृष्टि का जीवन काल निर्धारित करती है उसी तरह से जिस तरह पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती हुई अपनी भण्डारण शक्ति का लगातार ह्रास करती हुई दिन-रात और पृथ्वी की आयु निर्धारित करती है।

शास्त्रों में कहा गया है कि सुषुप्ति के गर्भ में इसके कारण का बीज मौजूद है और यही कारण अवस्था प्रकृति की मूल अवस्था है जहां अंधकार है, अज्ञान है लेकिन दूसरी तरफ ये भी कहते हैं कि हमें हर सत्ता के कारण में जाना है, ज्ञान के आनन्द में जाना है, यही आनन्द जीवन का आधार है, जीवन को प्रकाशित करने वाला स्रोत है। ये दोनों बातें एक दूसरे के विपरीत प्रतीत होती हैं। एक तरफ तो यही श्रेष्ठ अवस्था है, सुख है, यहीं से जीवन आता है, यही जीवन का स्रोत व आनन्द का भण्डार है लेकिन दूसरी तरफ कहते हैं कि यह अज्ञान है, यहां अंधकार है, सुषुप्ति है, गहरी निद्रा व बेहोशी है। ये दोनों बातें एक दूसरे की विरोधी हैं। महर्षि शिवव्रतलाल जी अपनी पुस्तक राधास्वामी योग में कहते हैं कि यह अज्ञान नासमझी नहीं है; मुर्खता नहीं है, यह अज्ञान पुरूष का नहीं बल्कि प्रकृति की वह कारण अवस्था है जहां हर कर्म अपने बीज रूप में विद्यमान रहता है, उसका प्रकाशित होना अभी बाकि है इसलिए तम है। उसमें से जीवन धारा का निकलना शेष है। इसके असली रूप को हम तभी देख सकेंगे जब इसके जीवन की कड़ियां खुलनी शुरू होंगी। जहां कारण का कार्य में बदलाव आरम्भ होगा। संस्कार का प्रकट होना शुरू होगा। कोशिका की नाभि में लिपटा अनुवांशिक मादा (Genetic material) उचित वातावरण मिलने पर अभिव्यक्त होगा। यहां यह बात लिखने का तात्पर्य यही है कि जब

आत्मा अंधकार व प्रकाश के मण्डलों में आती-जाती रहेगी, तब तक उसके संस्कार बीज रूप में विद्यमान रहेंगे, इसे चाहे असम्प्रज्ञात समाधि कहो या निर्विकल्प, निर्बीज समाधि या निर्वाण, योगी प्रत्यक्ष, लब्धि या कैवल्यपद की प्राप्ति। समाधि की उच्चतम अवस्था जो राधास्वामी योग में प्राप्त की जाती है वह 18 मंजिलें तय करने के बाद आती है। यह छटी मंजिल अर्थात् आज्ञा चक्र का वर्णन किया जा रहा है।

आज्ञा चक्र से ऊपर जो अंधकार क्षेत्र आता है, राधास्वामी योग के अनुसार यह माया का किला है, यहीं पर सहस्रार से नीचे की सारी रचना बीज रूप में विद्यमान है, कारण रूप में पड़ी हुई है और यह दिखाई देने वाली स्थूल रचना इसकी कार्य में परिणति है। यह अंधकार अवस्था सहस्रार से नीचे की रचना की सुषुप्ति है, आनन्द अवस्था है। आज्ञा चक्र स्वप्न (सूक्ष्म) है, चित्त अर्थात् ज्ञान है और यह स्थूल रचना इसकी जागृत अवस्था है, इसका कार्य रूप अर्थात् सत्त है।

जब हम आज्ञा चक्र पर बिखरी हुई चेतना को इकट्ठी कर लेते हैं तो वह प्रकाश रूप में प्रकट होकर सामने आ जाती है, फिर इस सूक्ष्म मण्डल को पार करने पर आत्मा अंधकार के एक विशाल मैदान में आ जाती है। यह अंधकार बहुत से धर्म-सम्प्रदायों को निगल गया। मत-मतान्तरों को खा गया। इसकी गहराई इतनी अधिक है कि बुद्धि में रूकने वाला व्यक्ति इसकी थाह नहीं पा सकता, क्योंकि यह बुद्धि की पहुंच का विषय नहीं है। यह अविचार की अवस्था है। जिस तरह से मन के नीचे भी तम की अविचार की अवस्था है इसी तरह से यहां भी है। इससे ऊपर के ध्यान की चेतना में अवस्थित गुरू ही इससे निकाल सकता है।

इस मण्डल में अनेकों शब्द हो रहे हैं। यहां से शब्द के सहारे ही ऊपर चढ़ा जा सकता है। प्रकाश यहां नहीं है, इसलिए राधास्वामी पंथ

में सुरत-शब्द योग को ही मुक्ति का एकमात्र साधन माना गया है जो कबीर साहब से पहले स्पष्ट नहीं था। यहां पर ऐसे शब्द गूंज रहे हैं जो ऊपर के शब्दों की छाया हैं। एक के बाद एक शब्द आता रहता है। इनमें पपीहे की पी-पी जैसी आवाज, रेलगाड़ी के पुल पर से गुजरने जैसी आवाज, पैनी-पैनी ऊंची आवाज जो बिना ध्वनी की एक लय से सिर के मध्य से आती है, साईकिल की टालियां बजने जैसी आवाज, जलतरंग की आवाज, बादल की गड़गड़ाहट की आवाज, बारिश होते समय धीमी-धीमी हवा चलने से निकलती हुई आवाज, कभी-कभी शंख आदि की आवाज होती है। यहीं पर ऐसे शब्द सुनाई देते हैं जो ऊपरी मण्डल में हो रहे बांसुरी या वीणा की धुन की नकल होते हैं लेकिन गुरू बनने के इच्छुक व्यक्ति इन्हें वीणा और बांसुरी की आवाज समझकर भ्रमित हो जाते हैं। यहां यह साफ तौर पर लिखा जाता है कि अंधकार का कोई भी शब्द असली शब्द नहीं है। वह सिर्फ एक छाया है, माया है, छल है, इससे बचना चाहिए। कुछ योगी कहते हैं कि यह अंधकार नहीं है, केवल प्रकाश का कम होना है। जिस तरह से कोई 1000 वाट के बल्ब का प्रकाश देख कर दूसरे कमरे में जाता है जहां 100 वाट का बल्ब लगा हुआ है। दूसरा योगी कहता है कि यहां बहुत अधिक प्रकाश की घनता है, बहुत चेतनता है, अन्तर केवल इतना है कि यहां का प्रकाश घनता के कारण दिखाई नहीं देता है। ये दोनों बातें भ्रमित करने वाली हैं। सांसारिक जीवों को भी ऐसे गुरूओं से बचना चाहिए जो दीक्षा देते समय आध्यात्मिक मंजिलों का पूरा-पूरा वर्णन नहीं करते हैं। सहस्रार से नीचे के मण्डल का वर्णन यहां इसलिए विस्तार से किया जा रहा है कि इस स्थूल रचना की सारी ग्रन्थि यहीं पर उलझी हुई है। अंधकार के इस विस्तृत क्षेत्र को श्री अरविन्द ने सावित्री में 'रात्री' का नाम दिया है और अन्तर्मन या चैत्य (Psychic being) और उर्ध्वमन (Over mind) के बीच की अवस्था कहा है।

लगभग सभी भारतीय दर्शनों में चाहे वे योग के आधार पर हैं या विवेक बुद्धि के आधार पर, सभी में समाधि की प्राप्ति को महत्व दिया जाता है क्योंकि समाधि में जाकर सत व असत, नित्य व अनित्य, जीव व अजीव में भेद समझ आ जाता है और आत्मा की निज-स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। समाधि में जब चित्त या बुद्धि की सारी वृतियां एकाग्र होकर चित्तभूमि पर निरन्तर प्रवाह करती हुई प्रकट होती हैं तो पुरूष इन्हें साक्षात करता है और नित्य व अनित्य का ज्ञान प्राप्त करता है। यह भूमि सांख्य की विवेकख्याति प्राप्ति, योग और अद्वैत दर्शन की सम्प्रज्ञात समाधि, न्याय-वैशेषिक दर्शन में योगीप्रत्यक्ष की सम्प्रज्ञात समाधि, बौद्ध दर्शन में दिव्य-चक्षु की प्राप्ति, जैन दर्शन में परम् ज्योति का लक्षण उपयोग है तथा ओशो, ब्रह्मकुमारी और हंसादेश का अस्ति या ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का अनुभव। श्री अरविन्द के चैत्य पुरूष (हृदय चेतना का साक्षात्कार) की प्राप्ति भी यही है। इसके बाद लगातार अभ्यास से जब चित्त पर कोई भी वृति शेष नहीं रहती है, प्रकृति की मूल साम्यावस्था आ जाती है, जहां अंधकार है, जिसे साक्षात नहीं किया जा सकता, बुद्धि का सत्व धर्म (प्रकाश) विवेकख्याति भी समाप्त हो जाती है, अज्ञान व अविद्या का बीज नष्ट हो जाता है, कर्म बीज जल जाते हैं, यह आंतरिक भूमि योग और वेदान्त की असम्प्रज्ञात समाधि व कैवल्यपद, न्याय-वैशेषिक में योगीप्रत्यक्ष की असम्प्रज्ञात समाधि, बौद्ध दर्शन व ओशो की शून्य में अवस्थिति व निर्माण तथा जैन दर्शन में लब्धि और केवलज्ञान की प्राप्ति है। श्री अरविन्द के लिए यह **'रात्री'** है जो संतुष्ट व मध्यम योगी के लिए आराम का स्थान है लेकिन सत्य के जिज्ञासु व पूर्ण योगी के लिए यह स्थान काल व माया का किला है। इस रात्रि को पार करने के बाद सुरत सहस्रार के मण्डल में प्रवेश करती है।

सहस्रार

जैसा कि पहले बताया गया है कि सुरत की निज भण्डार की तरफ यात्रा तीन चरणों में पूरी होती है। यह पहले चरण की यात्रा है। इस चरण के एक भाग का वर्णन किया जा चुका है। जो आज्ञा चक्र और उसके ऊपर शून्य के मण्डल तक पूरा होता है। अब दूसरे भाग सहस्रदल कंवल (सहस्रार) का वर्णन किया जाएगा। पहले चरण का तीसरा भाग त्रिकुटी में जाकर पूरा होता है।

सहस्रार या सहस्रदल कंवल का अर्थ है हजारों पंखुड़ियों वाला कमल। जब आज्ञा चक्र का कमल खुलता है तो इसकी चमक आरम्भ में धुंधली होती है, परन्तु ज्यों-ज्यों अभ्यास की एकाग्रता बढ़ती जाती है तो यह बादलों के रंग जैसी सांवली, नीली, फिर सुनहरी तथा लालिमा जैसी होने लगती है। इसे देखते हुए साधक इसमें तन्मयता के साथ लीन होने लगता है। यहां पर साधक को इतना आनन्द मिलता है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। हृदय आनन्द से भर जाता है, शरीर हल्का-फुलका हो जाता है और मस्ती का ठिकाना नहीं रहता है। वर्णन करने वालों ने तो इसी प्रकाश को कई सूर्य के प्रकाश के बराबर कहा है क्योंकि यहां आकर वो मस्ती पैदा होती है जिसमें कुछ का कुछ कह दिया जाता है। यहां का विस्मयकारी प्रकाश देखकर और यहां का शब्द सुनकर साधक इसी प्राप्ति को अन्तिम मंजिल मान कर संतुष्ट हो जाता है लेकिन यदि वह सचेत है और उसका सद्गुरू पूरे मार्ग का जानकार है तो वह उसे यहां पर नहीं रूकने देगा और ऊपर की मंजिलों का अभ्यास कराएगा। अभ्यास में एक विशेष बात है कि यदि किसी स्थान पर अभ्यास रूक जाता है तो उस अवस्था को तोड़ने के लिए अधिक स्मरण और सद्गुरू में प्रेम ही एक मात्र सहारा है। प्रेम की धार में ऐसी ताकत है जिसके बिना अभ्यास की बारीकियों को जानना

संभव नहीं है। इसका वर्णन अगले अध्यायों में किया जाएगा।

सहस्रार में इतना अधिक प्रकाश खुल जाता है जिसके बारे में साधक कल्पना नहीं कर सकता है। हजारों दल का कमल खुल जाता है, जिसमें भिन्न-2 रंग की पंखुड़ियां होती हैं। यह कमल तेजी से खुलता है और फिर एक बिन्दू पर आकर सिमट जाता है। यह क्रम लगातार चलता रहता है। ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है, प्रकाश भी साथ-साथ बढ़ता जाता है और साफ होता जाता है। आज्ञा चक्र के प्रकाश को स्थिर करने के लिए यदि बीच में एकाग्रता टूट जाती है तो प्रकाश लुप्त होने लगता है लेकिन सहस्रार के स्थान पर यदि एक क्षण के लिए एकाग्रता टूट भी जाती है तो भी अगले क्षण प्रकाश फिर उमड़ कर आ जाता है। फिर भी जितनी एकाग्रता बढ़ती जाएगी उतना ही प्रकाश भी बढ़ता जाएगा और इस प्रकाश से आंखें हटाने का मन नहीं करता है। जब भी साधक एकान्त में जाता है उसकी आंखें आप ही बंद हो जाती हैं और किसी भी दूसरे काम में मन नहीं लगता है। साधक इतना मस्त हो जाता है कि उसका स्वभाव एकदम बदलने लगता है और साधुवृति आने लगती है। एकान्त को पसन्द करता है। हृदय आनन्द से भरा रहता है और हर समय अपार खुशी बनी रहती है। साधक अपने अन्दर एक दैवीय ताकत का अवतरण महसूस करने लगता है। शरीर व मन तरोताजा बना रहता है। उसके व्यवहार में अचानक परिवर्तन आने लगता है। वह जहां भी रहता है उसकी तरंगें उसके चारों ओर खुशी व शान्ति का माहौल पैदा कर देती हैं। जो प्रकाश तथा दैवीय सत्ता उसमें उतर रही है वह आनन्दमयी और सुखदायी है। सद्गुरू के प्रति जितना प्रेम बढ़ेगा, प्रकाश भी उतना ही खिलता जाएगा। बगैर प्रेम के ये मण्डल खुलना आसान नहीं है। प्रेम बिना इस मण्डल को खोलने में अनथक प्रयास करना होगा। लगातार नाम का स्मरण व सद्गुरू में प्रेम बढ़ने से यह स्थान स्वत: ही खुल जाता है। प्रेम में इतनी ताकत है

जिसका सहज में अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता है। इसकी पहुंच पाताल से लेकर ऊंचे से ऊंचे लोक तक होती है। प्रेम भगवान व सद्गुरू को भी झुकने पर मजबूर कर देता है। इसी प्रेमवश सद्गुरू अपने प्यारे शिष्य के सामने अपना रूहानी रहस्य खोलने पर मजबूर हो जाता है और अपनी सारी पूंजी अपने प्यारे को सहज ही लुटा देता है। प्रेमी अपने गुरू से कुछ नही कहता लेकिन सद्गुरू के सारे गुण प्रेमी के अन्दर स्वयं ही खिंच कर आने लगते हैं। वह प्रेम ही नहीं है जो अपने प्रीतम के गुण बिना कुछ कहे न खींच सके। सतगुरू प्रेम का भण्डार है और यदि शिष्य के अन्दर भी वही प्रेम का सागर हिलोरें मार रहा है तो गुरू-शिष्य का वह प्रेम सारे ब्रह्माण्ड को तर कर सकता है। ऐसे प्रेम की अनूठी मिशाल राधास्वामी पंथ के प्रवर्तक स्वामी जी महाराज और उनके गुरूमुख शिष्य राय बहादुर सालिगराम जी महाराज की है। प्रेम की ऐसी दो धार जब मिलती हैं तो एक नया व दिव्य सृजन होता है। प्रेम में दो का भाव समाप्त हो जाता है और जब द्वैतवाद मिट जाता है तो फिर रूकावट का मतलब ही नहीं है। काल और महाकाल भी रास्ते से हट जाते हैं। संशय या भ्रम इस रास्ते का दुश्मन है जो चेतना की धार को एकाग्र नहीं होने देता है। सतगुरू और शिष्य की धार को मिलने नहीं देता है। इसलिए भक्ति बुद्धि या किसी निश्चित नियम में बांधने का विषय नहीं है। प्रेम सतगुरू को शिष्य पर सब कुछ न्यौछावर करने के लिए मजबूर कर देता है। वह शिष्य ही नहीं यदि वह सतगुरू की सारी रूहानी दौलत लूट नहीं लेता। यदि सतगुरू अपने साथ कुछ बचाकर ले जाता है तो यह शिष्य की कमी है।

यहां से घंटे की धुन उठ रही है। यह घंटा इस तरह से बजता है जैसे दूर किसी मन्दिर या गिरजाघर में बज रहा हो लेकिन आवाज बिल्कुल साफ व ऊंची होती है। इसकी टन-टन की आवाज ऐसे नहीं होती है जैसे लगातार कोई घंटा बज रहा हो। दो बार लगातार टन-टन होने के बाद फिर क्षण के लिए रूकता है, फिर उसी तरह से दो बार

टन-टन की लगातार आवाज आती है अर्थात् एक बार टन-टन की आवाज, फिर खाली और फिर टन-टन की आवाज जैसे टन-टन--टन-टन --टन-टन। जितना समय टन-टन में लगता है, उसके बाद उतना ही समय खाली रहता है, और फिर टन-टन। इस तरह क्रमशः इसी धुन की पुनरावृर्ति होती रहती है। यह धुन बहुत ही साफ होती है और एकान्त में बिना कान में बन्द लगाए भी सुनती रहती है। यह धुन दाईं तरफ के कान से सुनती है। श्री अरविन्द ने सावित्री में इस आवाज को Bow-Twang या Temple gong या Church Bell अर्थात् मन्दिर या चर्च का घंटा कहकर पुकारा है। इस आवाज के खुलने को उन्होंने ब्रह्मण्डी चेतना के खुलने का प्रतीक कहा है। इसी स्तर की चेतना के साथ उन्होंने उर्ध्वमन (Over Mind), विश्व मन (Universal Mind) व आध्यात्मिक शक्ति की समता दर्शायी है। इसी पुरूष को उन्होंने काल-विनाशक (Time the Destroyer) की संज्ञा दी है, अर्थात् काल जो सबकी रचना व संहार करता है।

इस स्थान का वर्णन करते हुए कबीर साहब कहते हैं:

घंटा-शंख सुनो धुन दोई,
सहस कंवल दल जगमग होई।
ता मध्य करता निरखो सोई,
बंकनाल धस पारा है।
कर नैनों दीदार महल में प्यारा है

महाराज परमानन्द जी यहां पर घंटे की धुन का वर्णन करते हैं। स्वामी जी महाराज कहते हैं:

गगन का थाल सुरत की बाती,
शब्द की जोत जगे दिन राती।
सहस्र कंवल दल घंटा बाजे,
बंकनाल धुन शंख सुनीजे।

यहां से मन व माया की हजारों धार नीचे उतरती हैं जो स्थूल रचना में आकर अपना अलग-अलग अस्तित्व बनाने की कोशिश करती हैं। एक दूसरे के विपरीत भागती हैं, प्रकृति के बिखराव का कारण बनती हैं। द्वैतवाद व अनेकवाद का जन्म होता है। परिणाम स्वरूप सुख व दुःख की उत्पत्ति होती है। ये हजारों धार मन में उठने वाली हजारों कामनाएं हैं, वृतियां हैं जो सूक्ष्म रूप में हमारे अन्दर विराजमान हैं तथा मानसिक, प्राणिक व शारीरिक चेतना के अन्दर जमी हुई बैठी हैं। अतः कर्मों का लेखा-जोखा मिटाने के लिए, कर्मों के बीज दग्ध करने के लिए ध्यान-अभ्यास की सीढ़ियाँ पार करना अति आवश्यक है। सृष्टि की भिन्नता व अनेकता का फैलाव सहस्रार में अवस्थित ज्योत-निरंजन की चेतना की भौतिक स्तर पर अभिव्यक्ति है। भौतिक स्तर पर सामान्य चेतना की प्रधानता तथा हजारों धार विराजमान होने के कारण हर वस्तु दूसरी वस्तु से तथा हर कण दूसरे कण से भिन्न है। एक जीव दूसरे जीव से अलग अस्तित्व रखता है। यहां तक कि एक ही जीव के अन्दर विद्यमान कोशिकाएं भी पूरी तरह एक दूसरे से मेल नहीं खाती हैं। यही कारण है कि हर धर्म, मत या सम्प्रदाय दूसरे धर्म, मत या सम्प्रदायों से अलग सोच-विचार रखता है। भिन्नता प्रकृति का गुण है, इसी गुण के कारण सृष्टि का विकास संभव हो पाता है। यदि प्रकृति के अन्दर यह गुण न हो तो इसकी विकास की गति रूक जाएगी। विभिन्नता विकास का माध्यम व आवश्यकता है लेकिन यही भिन्नता दुःखों का कारण भी है, वृति व कामनाओं के फैलाव का कारण है। यही फैलाव राग-द्वेष आदि क्लेशों को जन्म देता है। अज्ञानी मनुष्य इस फैलाव को भोग का साधन बनाते हैं और अपनी आत्मिक ताकत का विनाश करते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी व विवेकशील पुरूष इस अनेकता व सांसारिक चेतना के मण्डल से बाहर निकल जाना चाहते हैं। आत्मिक सुख, ज्ञान व आनन्द की अनुभूति करना चाहते हैं। सच्चिदानन्द् का साक्षात्कार

करना चाहते हैं।

इस स्तर की चेतना का अनुभव विश्व सत्ता तथा उर्ध्वमन का अनुभव है। उर्ध्वमन के बारे में श्री अरविन्द लिखते है:

"In the Over mind the truth of Supermind which is whole and harmonious enters into a separation into parts, many truths fronting each other and moved each to fulfil, to make a world of its own or else to prevail or take its share in worlds made of a combination of various separated Truths-forces. Lower down in the scale, the fragmentation becomes more and more pronounced so as to admit a positive error, falsehood, ignorance, finally inconscience like that of matter."

फिर एक जगह लिखते हैं :

"The principle of Over mind is the play of forces, each trying realise itself as the Truth."

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि अतिमन जो एक पूर्ण समता युक्त सच्चाई है, उर्ध्वमन में आकर हजारों भागों में बंट जाता है, जहां पर हर सच्चाई अपना खुद का संसार बनाना चाहती है और वही और नीचे जाकर और भी छोटे से छोटे भागों में तब तक बंटता ही जाता है जब तक वह स्थूल भौतिक पदार्थ में जाकर अचेत व अज्ञान युक्त अवस्था में सो नहीं जाता। फिर कहते हैं कि उर्ध्वमन का सिद्धांत ताकतों का खेल है, जहां पर हर ताकत अपने आपको सत्य सिद्ध करना चाहती है।

इससे यह स्पष्ट है कि सहस्र दल कंवल से हजारों अनेकता की धार निकलती हैं जो नीचे की भौतिक सत्ता में जाकर और भी छोटी-छोटी धारों में बंटती जाती हैं और नीचे आकर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए संघर्ष करती रहती हैं। देवी-देवता, गन्धर्व, पिशाच, भूत, प्रेत, मनुष्य का आवागमन, दूसरे जीव आदि सभी कुछ इस मण्डल की

परीधि में आ जाता है। स्वत: संत ताराचन्द जी महाराज फरमाते हैं कि यहां पर शान्ति नहीं है, यहां से मन-माया की हजारों कामनाएं उठती हैं जो इस रचना या शरीर में आकर लीला करती रहती हैं। कोई विरला पुरूष ही इनको पहचान कर मुक्ति का रास्ता पकड़ सकता है।

अब दो बातें एक साथ हो गई। एक जगह तो कह दिया गया कि यहां आकर साधक के अन्दर और उसके चारों ओर शान्तियुक्त प्रकाशमय वातावरण बन जाता है, खुशियां आ जाती हैं और दूसरी तरफ कहा गया कि कर्म-क्लेश की हजारों धार यहां से निकलती हैं। अलग-अलग दृष्टि से दोनों ही बातें सच्ची हैं। चेतना के विकास या निज धाम की चढ़ाई में इस मण्डल का खुलना शुभ संकेत है और स्पष्ट है कि साधक उन्नति की तरफ बढ़ रहा है। शरीर, जीवन, मन व बुद्धि में परा प्रकृति का अवतरण हो रहा है। साधक रूपान्तरण की तरफ बढ़ रहा है, बदलाव को महसूस कर रहा है। प्रकाश व शब्द का भण्डार अपनी आकर्षक व सृजनात्मक रचना द्वारा सुरत को आनन्दित कर रहा है और उसे अमृतपान कराता हुआ तृप्त कर रहा है। यही अमतृपान सुरत के दिव्य रूपान्तरण में नींव का काम करता है। कहने का अभिप्राय यही है कि इस कंवल के खुलने से साधक का परमात्मा में विश्वास सुदृढ़ होने लगता है। वह अपने सतगुरू को हर समय अपने अन्दर तथा अपने चारों तरफ महसूस करने लगता है। सद्गुरू के नूरी स्वरूप में आंशिक दर्शन से ही सुरत एक अनोखी विशालता का अनुभव करती है लेकिन दूसरी तरफ ऊंची व लम्बी चढ़ाई में यह मंजिल मात्र एक पड़ाव है। नीचे की हजारों स्थूल वृतियां अपने वास्तविक स्वरूप में समक्ष खड़ी हैं। उनके स्वरूप को सिर्फ साक्षी भाव से देखना है। उनके अन्दर विराजमान सच्चिदानन्द् को अपने अनुभव का एक हिस्सा बनाना है और सद्गुरू के चरणों में आगे बढ़ने की प्रार्थना करते हुए नाम का स्मरण बढ़ाना है। यह मुक्ति का स्थान नहीं है, सन्तों की मुक्ति का

स्वरूप इससे अलग है। इसलिए विरह और वैराग्य को साथ लेकर ऊपरी मण्डल में जाने की तैयारी करनी है। सुरत-शब्द योग में इस स्थान को ज्योत निरंजन का धाम कहा गया है। निरंजन सहस्रार के मण्डल का मालिक है, ज्योति उसकी शक्ति-स्वरूपा है जो कण-कण में व्याप्त होकर इस रचना की संभाल कर रही है। विज्ञान भी यही कहता है कि यहां हर कण व ब्रह्माण्ड प्रकाश से ही प्रकट हुआ है। प्रकाश हर अस्तित्व को ऊर्जा प्रदान करता है, शक्ति देता है। प्रकाश में गर्मी भी है और शीतलता भी।

यह ज्योति धुन बनकर अपने मण्डल में व्याप्त है, क्योंकि जहां गति है वहीं शब्द-धुन का होना भी अनिवार्य है। यही ज्योति आद्या है, जो संतों के लिए अविद्या है, माया और ऊपर के मण्डलों की छाया है। इसलिए मुक्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए यहां भी शान्ति नहीं है। यहीं पर गीता का विराट पुरूष अपनी सत्ता में मौजूद है जिसके हजारों मुख हैं, जिनके अन्दर से अखण्ड ज्योति निकल रही है, सभी को पैदा कर रही है और कालरूप बनकर सभी को निगल रही है। अनन्त ब्रह्मण्ड यहां से बन रहे हैं तथा यहीं पर काल का ग्रास बनकर अंधकार के गर्त में जाकर समा जाते हैं। श्री कृष्ण का ऐसा स्वरूप देखकर अर्जुन खुश भी होता है लेकिन भयभीत भी हो जाता है और अपने वास्तविक स्वरूप में आने के लिए उनसे प्रार्थना करता है। इसका वर्णन गीता के ग्यारहवें अध्याय में किया गया है।

अब आगे इस मण्डल का दूसरा पहलू सामने खड़ा है जो अत्यंत दु:खदायी है। सुरत जब सहस्रार के स्थान पर इस दिव्य तथा संगीतमय मण्डल का अवलोकन करती हुई आनन्दित हो उठती है तो उसे कभी-कभी अंधकार के आने के पद चिन्ह दिखाई देने लगते हैं। धीरे-धीरे प्रकाश व शब्द लुप्त होने लगते हैं और अंधकार बढ़ने लगता है। अब सुरत ऐसे अंधकार में फंसा महसूस करती है जिसकी उसने कभी कल्पना भी नहीं

की थी। जब तक काल ब्रह्म की सीमा के अन्दर हैं तब तक हर दिन के बाद रात्रि का आना अवश्यम्भावी है। जब तक चेतना में अस्थिरता विद्यमान है तब तक प्रकाश व अंधकार की आंख-मिचौनी चलती रहती है। संत-मत में इस अंधकार के मण्डल को बंकनाल कहा गया है। बंकनाल का अर्थ है टेढ़ी या मुड़ी हुई नली। यह बहुत ही सुक्ष्म आकार की नली है जो एक बार नीचे की तरफ मुड़कर फिर ऊपर की तरफ चढ़ती है।

श्री अरविन्द ने इसे सावित्री में 'अमर रात्रि' (Eternal Night) कहा है और इस मण्डल में से चेतना के आरोहण को महामौत का दर्जा दिया है। यहां पर परिवर्तनशील (क्षर) व अपरिवर्तनशील (अक्षर) अपनी अव्यक्त अवस्था में लिपटा हुआ पड़ा रहता है। पिण्ड व ब्रह्मण्ड की उत्पत्ति का स्रोत यहीं से निकलता है। उन्होंने इसे परा-प्रकृति, परामाया व आदि शक्ति का परम्धाम (House of the Spirit or God head) कहा है। इस मौत के कुंए में आकर सत्यवान की मृत्यु हो जाती है। मृत्यु का देवता सावित्री से सत्यवान को छीन लेना चाहता है, लेकिन सावित्री अपने आत्म स्वामी अर्थात् सत्यवान को जीवन प्रदान करने का संकल्प नहीं छोड़ती है। यहां मृत्यु है, महाप्रलय है। जो इस मृत्यु को जीत लेता है वही जीवन का आनन्द पाने का अधिकारी है। महाप्रलय के समय सारी रचना इसी चेतना के अचेतन समुंद्र में आकर समा जाती है।

श्री अरविन्द कहते हैं कि सत्यवान के जीवन को लेकर सावित्री और मृत्यु के देवता के बीच यहां पर बहुत लम्बा संवाद चलता है। सारी काली शक्तियां उसे ऊपर जाने से रोकती हैं और कहती हैं कि यहीं पर अमरता है। सारी रचना का बीज व कारण यहीं पर मौजूद है। इससे ऊपर आज तक कोई नहीं गया, आदि बातें कहकर सावित्री को निरूत्साहित करने की कोशिश करती हैं। बहुत सी ताकतों के साथ संवाद होते हैं लेकिन सावित्री उन सबके तर्क को काटती हुई आगे बढ़ती

जाती है। आखिर मृत्यु का देवता अपनी हार स्वीकार कर लेता है और सावित्री को सत्यवान सौंप देता है, तब जाकर होता है इस महाअंधकार व महामौत के खेल का अंत।

श्री अरविन्द तीन स्तर पर पुरूष की व्याख्या करते हैं। सबसे पहले क्षर पुरूष जो जीव बनकर हृदय चेतना में विराजमान है। यह क्षर पुरूष परिवर्तनशील है, नाशवान है। शारीरिक इच्छाओं व कामनाओं के अधीन होकर यह आवागमन के चक्कर काटता रहता है। अपने असली स्वरूप को भूल गया है लेकिन अपने असली लक्ष्य व स्वरूप के बारे में जानने के बाद यही जीव चैत्य पुरूष बनकर प्रकट हो जाता है। यह चैत्य पुरूष (Psychic being) हर जीव के हृदय की अन्तरतम गहराईयों में बैठा हुआ है। यही व्यष्टि रचना का अधिष्टाता है तथा हर जीव व कण की कार्यशैली का संचालन करता है। अतः सबसे पहले हमें अपने हृदय के अन्दर बैठे चेतन पुरूष का साक्षात्कार करना है। इसके बाद दूसरे स्तर पर सारी रचना व ब्रह्माण्ड का संचालन करने वाली शक्ति 'एक आत्मा' का साक्षात्कार करना है जो समष्टि तौर पर सारी रचना का अधिष्ठाता है। अपनी शक्ति के द्वारा सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसे उन्होंने 'उर्ध्वमन' कहा है जो आध्यात्मिक शक्ति का प्रणेता है, विश्व स्तर की रचना का मालिक है, अपरिवर्तनीय है, अनाशवान है। यही अक्षर पुरूष है, और सारी रचना के कार्य को विश्वकर्मा बनकर तराश रहा है। साक्षी रहकर अपनी योगमाया शक्ति द्वारा सम्पूर्ण लीलाएं कर रहा है। यह योगमाया सारी रचना को तीन गुणों द्वारा धार रही है। साधक इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से निकल नहीं पाता है। यह ऐसी भंवर है जो अपनी शक्ति से साधक को भ्रमित कर देती है और आगे का रास्ता बंद कर देती है। सहस्र दल कमल (Thousand petalled Lotus) का यह पुरूष किसी भी कार्य में स्वयं सीधे तौर पर हिस्सा नहीं लेता है, बल्कि रचना का सारा कार्य इसकी

सामान्य चेतना के स्तर से हो रहा है। यह स्वयं निराकार है लेकिन सभी आकारों व आकृतियों को धारण करने वाला है। यह निर्गुण है लेकिन अपनी शक्ति के द्वारा सभी गुण धारण करने वाला है। भौतिक मण्डलीय अनेकता से निकलकर यह पुरूष तीन गुणों से ऊपर शांत रहता हुआ सारी रचना को धार रहा है। इसका साक्षात्कार करने से आत्मा विश्व चेतना का अनुभव करती है और अनेकता का अनुभव भूलकर एकता के अनुभव में आ जाती है। इसे ही ईश्वर, आत्मा, अक्षर पुरूष या काल कहकर पुकारा है। यह अनुभव होने पर मनुष्य को हर वस्तु और हर कण के अन्दर स्वयं की अभिव्यक्ति अर्थात् एक ही आत्मा का प्रसार नजर आने लगता है। श्री कृष्ण का विश्व-स्वरूप देखने पर अर्जुन को अपने चारों तरफ व कण-कण में वासुदेव ही वासुदेव के दर्शन होने लगते हैं। ऐसा ज्ञान होने पर साधक ज्ञानी कहलाता है। यह ज्ञान किसी भी बुद्धि व विचार की पहुंच से परे की वस्तु है। यहां के शब्द को उन्होंने **'चर्च या मन्दिर का घंटा'** तथा **ओ३म्** कहकर सम्बोधित किया है।

Letters on Yoga (part III) के अध्याय 'Experiences of the Cosmic Consciousness' (p:1083) मे लिखा गया है - Both of these (Om and Sound of Church bells) are usually sounds that indicate the opening or attempt to open to the Cosmic Consciousness.

अर्थात् ओ३म् और चर्च की घंटियां दोनों आवाजें ब्रह्मण्डी चेतना के खुलने या खुलने की तैयारी का प्रतीक हैं।

श्री अरविन्द-योग में इसके बाद मातृ-शक्ति की भक्ति आरम्भ होती है। आत्मा मातृ-शक्ति के साथ एकता स्थापित करती है। अक्षर पुरूष से ऊपर एक ऐसा अन्धकार का मण्डल है जहां सारी गति थम जाती है लेकिन यही मण्डल अतिमन की शक्ति अर्थात् Godhead का परम धाम है। सारी रचना का कारण है। यहां पर सारी नाशवान व

अनाशवान प्रकृति बीज रूप में अव्यक्त अवस्था में विराजमान है। Essays on the Gita में उन्होंने इसे ही पराप्रकृति या पराशक्ति या ऊंची प्रकृति (Higher Nature) कह कर पुकारा है। इसी के अन्दर विश्व आत्मा व जीवात्मा बीजरूप बनकर सो रही है। सावित्री में इसी विशाल मण्डल को '**अनंत रात्रि**' का नाम दिया है और यहीं पर ओ३म् शब्द गूंज रहा है जिसे अक्षर पुरूष की शान्ति और पुरूषोतम के आनन्द के बीच का सेतू कहा गया है अर्थात् यही शब्द इन दोनों को जोड़ने वाला शब्द है। सावित्री में इसी अंधकार व अगति के मण्डल को शक्ति का निवास स्थान (House of the Spirit) कहा है। जिसके माध्यम से अतिमन या पुरूषोतम सारी रचना में व्याप्त है और सबसे अलग भी।

Letters on Yoga (part III, p:1079) में लिखते है: It is the Purusha and Prakriti sides of the nature one leading to pure consious existence, static, the other to pure conscious force, dynamic. The past darkness they have come out of is that of ignorance, the future darkness that is felt above is super conscience. But of course, the super conscience is really luminous-only its light is not seen.

कहने का तात्पर्य है कि पुरूष और प्रकृति के ऊपर ऐसा अतिचेतन मण्डल है जो बहुत प्रकाशवान है, लेकिन इसका प्रकाश दिखाई नहीं देता है। नीचे के अज्ञान मण्डल की चेतना की तरह यहां भी अंधकार है। इसी को सावित्री में सभी कुछ को नकारने वाला पूर्ण अस्तित्व या पूर्ण शून्य, कुछ नहीं, खाली (All-negating Absolute, Nought, Nihil, Emptiness, void etc.) आदि नामों से पुकारा है। इसी पूर्ण शून्य से ब्रह्मण्डी व पिण्डी चेतना (Comic and individual consciousness) अस्तित्व में आती है। सावित्री की Book7 के Canto7 में लिखते हैं :

The Miraculous Nihil, the origin of our souls
And source and sum of the vast world's events
The Womb and grave of thought, a cipher of God
A zero circle of beings totality.

संत-मत में इसी अंधकार के मण्डल को बंकनाल कहा गया है, जिसका वर्णन यहां किया जा रहा है।

यहां पर मुख्य तौर पर दो प्रकार के शब्द हैं। एक शंख की धुन जो कभी-कभी सुनती है और दूसरा मध्य में गूंज रहा बिना धुन का शब्द जो हर समय सुनाई देता रहता है, इसी को पकड़कर आत्मा को ऊपर चढ़ना है क्योंकि किसी भी अंधकार के मण्डल में धुन स्थायी नहीं होती है। धुन तो केवल प्रकाश के मण्डल में खुलकर प्रकट होती है।

श्री अरविन्द Letters on Yoga, Part III(P:980) में यहां शंख की धुन का वर्णन करते हैं - The sound of conch is the call for realisation, फिर कहते हैं - The conch is perhaps the proclamation of victory अर्थात् शंख ध्वनी सम्भवत: जीत की घोषणा है, शंख की आवाज पूर्ण अनुभूति के लिए निमन्त्रण है। स्पष्ट है कि शंख अनन्त रात्री को पार करते समय या पूर्ण अनुभूति के दिव्य दर्शन से पहले मण्डल का शब्द है। श्री अरविन्द के अनुसार यह अंधकार की अनन्त रात्रि पार करने के पश्चात् तीसरे स्तर पर पुरूषों में श्रेष्ठ पुरूषोतम विराजमान है, इसे ही उन्होंने अतिमन (Supermind) कहा है और इसके अनुभव को अतिमानसीकरण (Supramentalisation) का अनुभव। यह पुरूष सारी ब्रह्मण्डी चेतना से ऊपर (Above all cosmic consciousness) अपनी महाप्रकाशवान सत्ता के साथ विराजमान है। यहां आकर सारे कर्म व ज्ञान अर्थात् सत्त व चित्त प्रेम के आनन्द में समा जाते हैं और भक्ति योग की पूर्णता पर श्री अरविन्द का समग्र योग भी पूरा हो जाता है। शेष रह जाता है इस अनुभव को

क्रियात्मक स्तर पर उतारना अर्थात् आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक व शारीरिक स्तर पर फलीभूत करना अर्थात् समस्त भौतिक और आत्मिक संबंधों का अतिमानसिक रूपान्तरण।

तीन पुरूषों के अनुभव के आधार पर ही सम्पूर्ण योग को तीन भागों में बांटा गया है। Essays on the Gita के अध्याय 'The core of the Teaching' (p:35) में लिखतें हैं, ''पहला चरण कर्म योग का है जिसमें कर्मो का इच्छारहित होकर समर्पण किया जाता है। दूसरा चरण ज्ञान योग का है जिसमें स्वयं का अनुभव और स्वयं की प्रकृति (Self Nature) का ज्ञान पूर्ण हो जाता है। यहां पर ज्ञान को मुख्य माना है लेकिन कर्म योग भी जारी रहता है। अन्तिम चरण भक्ति योग है जहां परम पुरूष की भक्ति व मांग की जाती है। यहां पर भक्ति की मुख्यता है लेकिन फिर भी ज्ञान योग व कर्म योग जारी रहते हैं और उनकी भी पूर्ति हो जाती है।''

इन्हीं तीन मण्डलों का वर्णन 'The Synthesis of Yoga के अध्याय 'Ananda Brahman' अर्थात् आनन्द ब्रह्म (p:570-572) में प्रेम योग की पूर्णता को कुछ इस प्रकार वर्णन करते है:- ''ब्रह्म हमेशा तीन तरह से प्रकट होता है, हमारे अन्दर, हमारी स्तह से ऊपर और हमारे चारों तरफ इस ब्रह्माण्ड में। हमारे अन्दर पुरूष के दो केन्द्र हैं, एक हृदय कमल और दूसरा सहस्रदल कमल। आनन्द पुरूष का अनुभव इनमें से किसी भी केन्द्र के खुलने से हो सकता है। जब हमारे हृदय का कमल खुलता है तो प्रकाश के फूल की तरह सारे शरीर व मन को प्रकाश से चमका देता है, परन्तु जब तक हमारी पुरानी प्रकृति रूकावट डालती है तब तक यह अनुभव टूट-टूट कर आता है और हम उसी पुरानी अवस्था में जाते रहते हैं लेकिन लगातार अभ्यास से यह असाधारण अनुभव हमारी स्वाभाविक चेतना का हिस्सा बन जाता है।

जब दूसरा इससे ऊपर का कमल खुलता है तो पूरा शरीर, मन

व बुद्धि परमात्मा के प्रकाश, आनन्द और ताकत से भर जाते हैं। यह हमारा स्वामी है और आत्मा धीरे-धीरे उसकी एकता के आनन्द में समाती चली जाती है। इस अनुभव में भी बीच-बीच में अंधकार का अनुभव लौटकर आता रहता है और हम प्रकाश से दूर जाते रहते हैं। यह अनुभव तभी हमारी नींव बनता है जब हमारा प्यार और विश्वास पूर्ण हो जाते हैं और हमारी सत्ता पूर्ण प्रेम और विवेक से परिपूर्ण ताकत की गोद में समा जाती है। यह प्रेम पुरूष पुरूषोतम का अनुभव है जो सारी ब्रह्मण्डी चेतना से ऊपर (Above our plane) है और जो हृदय चेतना के माध्यम से खुलता है।

परमात्मा हमारे चारों ओर (Around) प्रकट होता है जब हम आध्यात्मिक इच्छा से उसे सभी चीजों में विद्यमान मानकर उसकी पुकार करते हैं, यही Thousand petalled lotus अर्थात् सहस्रदल कमल है। यह अनुभव आत्मा, विश्व शांति, विश्व अनन्तता, सब के अन्दर विराजमान ताकत का अनुभव है। सारी बाहरी अभिव्यक्ति में उसी की झलक नजर आती है। सभी कुछ केवल आत्मा है।

हमारे चारों तरफ (Around) का अनुभव करने के बाद भी सबसे ऊपर का (पुरूषोतम) अनुभव खुल सकता है। यदि हम अपनी प्रकृति को ऊंचा उठा लेते हैं या परिवर्तित कर लेते हैं और **परम् पुरूष** के आनन्द को अनुभव करते रहते हैं तो फिर हम उस आनन्द का झरना बन जाते हैं लेकिन फिर भी हम उसी पुरानी नाशवान प्रकृति में जाते रहते हैं (अतिमन का यह अनुभव सहस्रदल कमल के माध्यम से खुलता है)। जब आनन्द पुरूष की इस चेतना को हम तीनों स्तर पर (ऊपर, अन्दर व चारों तरफ) उतार लेते हैं और इसके साथ पूर्ण एकता स्थापित कर लेते हैं तथा उनके प्रेम, आनन्द व शांति में समा जाते हैं तो फिर ब्रह्माण्ड के सारे अस्तित्व इस पुरूष का शरीर बन जाते हैं''

इस ओंकार पुरूष (पुरूषोतम) का और अधिक वर्णन त्रिकुटी

के मण्डल में किया जाएगा क्योंकि यहां पर उससे पहले पड़ने वाले अंधकार के मण्डल '**बंकनाल**' का वर्णन किया जा रहा है। बंकनाल सहस्रदल कमल तथा त्रिकुटी के बीच सेतु का काम करता है। संतों के अनुसार यह मण्डल माया के छल बल का मजबूत किला है।

राधास्वामी पंथ के संत महाराज सांवन सिंह जी इस स्थान के बारे में कहते हैं:- ''इसके ऊपर (सहस्रार से) त्रिकुटी की ओर जाने के लिए बंकनाल का मार्ग (टेढ़ा मार्ग) है जो अति सूक्ष्म नाड़ी है। रोम के दसवें भाग से भी अधिक बारीक है। इसमें पहुंचकर पहले सीधा जाना पड़ता है, फिर ऊपर और फिर नीचे। इसके बीच में से होकर आगे जाना है। यह स्थान सहस्रदल कंवल और त्रिकुटी के मध्य में है। इसको पार करके आत्मा त्रिकुटी मण्डल में पहुंच जाती है यह ब्रह्म का देश है जो अति सुहावना है।''

इस मण्डल में सुरत को कुछ नहीं दिखाई देता है, केवल शब्द को पकड़कर ऊपर चढ़ती है जो ऊपरी मंजिलों से आ रहा है। बंकनाल में जब सुरत जाती है तो उसे ऐसा लगता है जैसे वह ऊपर चढ़कर नीचे की तरफ चली गई है। साधक इसे अपने ध्यान में गिरावट समझता है लेकिन यह गिरावट नहीं बल्कि रास्ते की एक जरूरत है। यदि साधक में लगन बनी रहती है तो वह स्मरण करता हुआ इस अंधकार में भी **सतगुरू मुर्शिद** के शब्द स्वरूप को पकड़कर पार निकल सकता है। यह अंधकार या लय मण्डल यहां तक की रचना का कारण स्वरूप है, यहां तक की रचना के बीज इस मण्डल को बनाने वाली चेतना के अन्दर विद्यमान हैं, इसलिए यहां सुषुप्ति की तरह अंधकार है। सहस्रार के स्थान पर आकर ये बीज सूक्ष्म रूप में प्रकट हो जाते हैं और नीचे की तरफ स्थूल रचना में आकर यही संस्कार रूपी बीज कार्य या कर्म बनकर प्रकट हो जाते हैं और स्थूल रचना की उत्पत्ति होती है। यहां तक की रचना प्रलय के समय इस अंधकार में जाकर समा जाती है।

परिणामस्वरूप कार्य फिर कारण में तबदील हो जाता है अर्थात् कार्य-कारण का यह सिलसिला क्रमशः चलता रहता है। यह उसी तरह से है जैसे जागृत से स्वप्नावस्था और स्वप्नावस्था से सुषुप्ति का आनन्द, जहां से शरीर ताजगी लेकर वापिस आता है और कार्य में लग जाता है। जब कार्य करता-करता थक जाता है अर्थात् कार्य करने की शक्ति खर्च हो जाती है तो वह पुनः जागृति से स्वप्नावस्था और स्वप्न से सुषुप्ति के व्यवहार में चला जाता है जहां ताजगी व आनन्द का भण्डार मौजूद रहता है। यही है प्रलय और उत्पत्ति का रहस्य तथा कार्य और कारण की व्याख्या। अतः स्पष्ट है कि कारण नष्ट होने पर ही कार्य या कर्म के बीज जल सकते हैं। इसलिए इस मण्डल को पार करने के बाद यहां तक की रचना की चेतना पर अंकित संस्कारों के बीज जल जाते हैं और सुरत का दामन उजला होता जाता है।

यहां पर शंख की ध्वनि है जिसे पहले ही बता दिया गया है। एक बात यहां बता देनी आवश्यक है कि हर एक मण्डल में, चाहे वह प्रकाश का मण्डल है या अंधकार का मण्डल सभी में सिर के मध्य के आसपास एक शब्द अधिकता या न्यूनता के साथ सुनाई देता रहता है जो एक लय के साथ अर्थात् बिना उतार-चढ़ाव (निःस्पन) के साथ सुनता रहता है। नए मण्डल के साथ जब प्रकाश व धुनी प्रकट होती है तो यह शब्द कमजोर पड़ सकता है। ज्यों-ज्यों धुनी बढ़ती जाती है यह कम होता प्रतीत होता है लेकिन धुन के कमजोर पड़ते ही फिर गूंजने लगता है। अतः यदि धुन नहीं है तो केवल यही एक साधन रह जाता है जिसे पकड़कर अंधकार का किला तोड़ा जा सकता है। कहने वाले इसी शब्द को बांसुरी या वीणा की धुन कहकर साधक तथा स्वयं को भी भ्रमित करते रहते हैं। वे यह नहीं जानते कि बांसुरी, वीणा या बीन की धुन महाप्रकाशवान मण्डलों की धुनी है, अंधकार में ये नहीं सुनाई देती। अनेक आध्यात्मिक पुरूषों ने इस निःस्पन शब्द को ही **ओ३म्** या

प्रणव नाद कह कर पुकारा है।

श्री अरविन्द इसी शब्द को **ओ३म्** कहते हैं। Essay on the Gita के अध्याय "The Two Natures' (p:261) में कहते हैं :- ''मैं सभी वेदों का प्रणव हूं अर्थात् मूल मंत्र **ओ३म्** जो व्यक्त संसार के सभी शक्तिशाली शब्दों का आधार है, इसी के अन्दर से सब कुछ निकलता है और इसी के अन्दर समा जाता है। फिर कहते हैं कि यही परा प्रकृति है, यही ताकत अनन्त बीज रूप है, जहां से सारी भौतिक सत्ता का विकास हुआ है।'' सावित्री के अध्याय 'The Adoration of the divine Mother' में वे लिखते हैं:-

"The symboled Om, the Great assenting Word,
The bridge between the rapture and the calm,
The passion and beauty of the Bride,
The chamber where the glorious enemies kiss."

अर्थात् ओ३म् ऊपर की तरफ चढ़ता हुआ शब्द है जो आनन्द व शांति के बीच का सेतु है, ऐसी कोठरी है जहां पर तेजस्वी शत्रु (विरोधी ताकतें) प्रेम लीला करते हैं। ईसाई व इस्लाम संतों ने इसे सिनाई पर्वत का दर्शन कहा है, ना कुछ या अंधकारमय रहस्य (डार्क मिस्ट्री) या आत्मा की काली रात्री (डार्क नाईट ऑल सोल) कहा है।

परमानन्द जी महाराज यहां की रचना का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

सुची अगु छिद्र में होकर, बंकनाल घुस जावो।
तिरछा मार्ग बंकनाल का, बिन सतगुरू कुछ नहीं पावो।
ऊंचा नीचा ऊंचा होकर, त्रय मण्डल पर चढ़ जावो।
प्रत्याहार धारणा धारो, सिमट बीच सुखमन आवो।
पी-पी पपीहा ऊपर बोल्यो, कूर्म बनकर छिप जावो।
और मरे सब जन का मरना, तुम जीते जी मर जावो।
भृंगी गुरू का शब्द सुनो, तुम चरण गुरू के चित्त लाओ।

तन-मन सौंपो अपना उनको, हो जावो स्वस्व दानी।
सातों रंग निखरता यहां पर, हो जावे पूर्ण ज्ञानी।

राधास्वामी मत के प्रवर्तक स्वामी जी महाराज इस स्थान का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

सुनरी सखी तोहि भेद बताऊं।
प्रथम स्थान खोल कर गाऊं।।
सहस कंवल दल नाम सुनाऊं।
ज्योति निरंजन बास लखाऊं।।
करता तीन लोक यह ठाऊं।
वेद चार इन रचे जनाऊं।।
ब्रह्मा विष्णु महादेव तीनों।
पुत्र इन्हीं के हैं यह चीन्हों।।
कुल वैराट रचा इन मिलके।
जीवन घेर लिया इन पिलके।।
जाल बिछाया जग में भारी।
इनकी पूजा जीव सम्हारी।।
फंसे जाल में पचे कर्म में।
धोखा खाया पड़े भरम में।।
अब जो इनको कोई समझावे।
सतपुरूष का भेद लखावे।।
तो नहीं माने झगड़ा ठाने।
पक्षपात कर ढिंग नहिं आवें।।
या ते मैं तोको समझाऊं।
यह सब ठग खुल कर जतलाऊं।।
इनके मारग तू मत जाय।
तू संतन की शरन समाय।।

सतगुरू कहें सोई तुम मानो।
इनका वचन न कर परमानो।।
राह रकाना देऊं दरसाई।
पता भेद अब कहूं जनाई।।
मन और सुरत जमाओ तिल पर।
घेर घुमर घट जाओ पिल कर।।
निरखो खिड़की देखो चौका।
चित्त जगाओ राखो रोका।।
पचरंगी फुलवारी निरखो।
दीपदान घट भीतर परखो।।
कोई दिन ऐसी लीला देखो।
नील चक्रता आगे देखो।।
विरह प्रेम बल ताको फोड़ो।
जोत निहारो मन को मोड़ो।।
अनहद घण्टा सुन सुन रीझो।
शंख बजाओ रस में भीजो।।
यह पहला अस्थान बताया।
राधास्वामी वरन सुनाया।।

त्रिकुटी

आत्मा तीसरे तिल पर अपनी शारीरिक, प्राणिक और मानसिक चेतना को समेटने के बाद सहस्रदल कंवल को पार करती हुई अब त्रिकुटी के मण्डल में आ जाती है। यह ओंकार पुरूष का मण्डल है। इस मण्डल की यात्रा पूरी होने के बाद सुरत के सिमटाव का पहला चरण पूरा हो जाता है। त्रिकुटी के मण्डल तक शरीर व मन की चेतना की धार खिंचकर चेतनघन बनाकर आत्मा में सिमट जाती है लेकिन इतनी नहीं खिंचती कि इसमें मृत्यु वाली अवस्था की प्रक्रिया आरम्भ हो। यहां तक शरीर का सुन्न होना महसूस हो सकता है। हाथ-पैरों या दूसरे अंगो की चेतन अनुभूति समाप्त हो सकती है लेकिन फिर भी शरीर की सारी चेतना नहीं खिंच पाती है। बहुत से महात्मा इसे ही 'जीते-जी-मरना' कह देते हैं। यह अवस्था तो असली 'जीते-जी-मरने' की झलक मात्र है। इसमें हाथ व पैर सुन्न होकर बेजान हो सकते हैं। कभी-कभी कीड़ी चलने या कांटे चुभने की अनुभुति हो सकती है। चेतना का पूर्ण सिमटाव उस समय आरम्भ होता है जब हाथ-पैरों की उंगलियों के पोरे अकड़ कर दर्द करने लगें और खिंचकर मुड़ने लगें जिस तरह मृत्यु के समय आरम्भिक लक्षण प्रकट होने लगते हैं लेकिन ऐसी अवस्था त्रिकुटी को पार करने के बाद सुन्न मण्डल में आरम्भ होती है। अत: त्रिकुटी का ध्यान प्रकाश का ध्यान कहा गया है, शब्द भी निखर कर आने लगता है परन्तु चेतना का सिमटाव ऊपरी स्तर का है। त्रिकुटी के प्रकाश को सतगुरू के चरण कहा गया है। त्रिकुटी में आने पर ही सतगुरू के असली स्वरूप की झलक मिलती है लेकिन यहां भी काल व माया का बहुत जोर है।

त्रिकुटी के मण्डल तक की चेतना तीन लोक की चेतना है जो सृष्टि की संभाल करती है। ओंकार पुरूष (ओ३म्) इस लोक का

स्वामी है। यह लाल रंग का चेतन सूर्य है जिसके रोम मात्र से पल भर में लोक-परलोक बन और बिगड़ सकते हैं। सारी आकाश-गंगाएं, सारे दृष्टिगोचर अण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्ड इसी सूर्य की अभिव्यक्ति हैं। सहस्रार की सूक्ष्म रचना के माध्यम से ही यह पुरूष स्थूल संसार की रचना करता है। ओंकार पुरूष से तीन चेतन धाराओं (शक्तियों) का जन्म होता है जो सहस्रार में जाकर हजारों धार बन जाती हैं। वही आज्ञा चक्र पर जाकर कई सहस्रार धाराओं में बंट जाती हैं व इस तरह से मूलाधार चक्र तक जाते-जाते ओंकार पुरूष की धार लाखों धाराओं में बंट जाती है और हर मण्डल पर जाते-जाते उन पर स्थूलता के आवरण चढ़ते जाते हैं। इसी आधार पर **84** लाख योनियों की उत्पत्ति हुई। ओंकार पुरूष की यही धार नीचे आकर जेरज, अण्डज, स्वीदज और उद्‌भिज योनियों में बंट जाती है और तरह-2 के जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।

ओ३म् अ, उ तथा म् तीन मात्राओं से मिलकर बना है। यहां से तीन धाराओं का उदभव होता है जिन्हें सत्,रज व तम कहा जाता है। इन्हें ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूल धाराएं भी कहा जाता है। सांख्य दर्शन में कहा गया है कि मूल प्रकृति में यही तीन अवस्थाएं (सत्, रज व तम) विद्यमान रहती हैं। ये तीन अवस्थाएं मूल प्रकृति में साम्यवस्था में रहती हैं। जब ये विषम अवस्था में आ जाती हैं तो प्रकृति में विकार आना आरम्भ हो जाता है। इस तरह से **25** प्रकृति (**23** विकृति, एक मूल प्रकृति तथा प्रकृति के संबंध में पुरूष) अस्तित्व में आ जाती हैं और सुख-दु:ख, क्लेश, ताप आदि दु:खों का जन्म होता है तथा पुरूष अज्ञानवश होकर जन्म-मरण के भंवर में फंसा रहता है लेकिन पुन: जब यही तीन गुण अपनी सम अवस्था में आ जाते हैं तो इनका विलय मूल प्रकृति में हो जाता है और पुरूष, प्रकृति के बंधन से सर्वदा अलग हो जाता है। जब सतोगुण की प्रधानता होती है तो मनुष्य सात्विक बन

जाता है और जब रजोगुण व तमोगुण बढ़ जाते हैं तो वह राजसिक और तामसिक बन जाता है। यदि इन तीनों धाराओं को समेट लिया जाए तो ये अपनी मूल अवस्था में समा जाती हैं और पुरूष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सांख्य का यही ज्ञान गीता के दूसरे अध्याय में श्री कृष्ण अर्जुन को देते हैं।

अत: स्पष्ट है कि त्रिकुटी के स्थान से प्रकृति का उतार तीन धाराओं के रूप में हुआ है। यहीं पर पुरूष-प्रकृति की गांठ बंधी है। इससे ऊपर अर्थात् तीन गुणों से ऊपर जाने के बाद ही आत्मा प्रकृति के बंधन से मुक्त होती है। त्रिकुटी व ओ३म् का अर्थ तीन गुणों को दर्शाता है। इसलिए यहां पूर्णता का अनुभव होना संभव नहीं है। राधास्वामी पंथ के अनुसार, प्रकृति के इन तीन गुणों की साम्यवस्था इस मण्डल से भी ऊपर जाकर सुन्न और उससे भी ऊपर जाकर महासुन्न के अंधकार में आती है। अत: राधास्वामी योग में समाधि का दर्जा बहुत ऊंचा है। लगभग सभी शास्त्र व दर्शन इस साम्यवस्था का वर्णन आज्ञा चक्र से ऊपर पड़ने वाले अंधकार अर्थात् पहले शून्य मण्डल में करते हैं। कोई विरला धर्म या सम्प्रदाय इसका वर्णन सहस्रार से ऊपर आने वाले दूसरे शून्य मण्डल में कर पाता है। इसी को निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात समाधि या लय अवस्था कहा जाता है लेकिन राधास्वामी योग का आरम्भ ही सहस्रार से होता है। यह रचना की सातवीं मंजिल है, अर्थात् चेतन ऊर्जा का सातवां मण्डल या चक्र है। राधास्वामी पंथ इससे ऊपर 11 मंजिलों का और भी स्पष्ट वर्णन करता है। अत: सुरत-शब्द योग की असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि का स्वरूप भिन्न है। असम्प्रज्ञात समाधि को सभी मतों में समाधि की उच्चतम अवस्था कहा गया है लेकिन राधास्वामी योग की उच्चतम अवस्था सच्चखण्ड में जाकर पूर्ण होती है, जहां अंधकार की छायामात्र भी नहीं रहती। सारा शरीर प्रकाश की धार से अन्तर में जगमग करने लगता है। यह उज्जवल धार

कभी भी रूकने का नाम नहीं लेती है। इसका वर्णन क्रमबद्ध तरीके से किया जाएगा। यहां पर ऐसे ध्यान की केवल एक झलक दी गई है।

जब त्रिकुटी मण्डल का प्रकाश खुलता है तो लगता है कि प्रकाश का भण्डार खुल गया है। इस प्रकाश का रंग लाल होता है जो धीरे-धीरे नारंगी लाल होता जाता है। ऐसा लगता है जैसे सारा शरीर प्रकाश में बदलने लगा है। प्रकाश की गति काफी तेज होती है। यह प्रकाश स्वत: ही बहता रहता है। इसे ध्यान में लाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है बल्कि आंख बंद करते ही प्रकाश की बाढ़ सी आ जाती है। अब मन इसे देखता हुआ इसमें खो जाता है, अपने आपको भूल जाता है। ऐसा लगता है जैसे शरीर की सारी इन्द्रियां व मन प्रकाशरूप हो गए हैं और उनमें शारीरिक, प्राणिक, मानसिक या उर्ध्वमानसिक चेतना की धार बहने की बजाय इस मण्डल की महाप्रकाशवान चेतना का लगातार प्रवाह हो रहा है तथा नीचे की सारी चेतना अपनी सत्ता व संकल्प को भूलकर ओंकार पुरूष की चेतना में समा गई है। शरीर की हर कोशिका और हर कण में यह प्रकाश से लथपथ चेतना की धार जैसे समा जाना चाहती है और उनका पुराना संकल्प तोड़कर उसे बदल देना चाहती है। शारीरिक व मानसिक चेतना भी इस आनन्द के भण्डार से ओतप्रोत हो जाना चाहती है, अपने पुराने संस्कार भूल जाना चाहती है। सहस्रार का प्रकाश जो एक समय मन को मोह लेता था अब इस प्रकाश के सामने फीका मालूम होने लगता है। ऐसा लगता है जैसे इसके बाद अंधकार के मण्डल का कोई अस्तित्व नहीं रह जाएगा। इस प्रकाश के सामने कोई अंधकार का मण्डल ठहर ही कैसे सकता है लेकिन इसका अन्दाजा इसकी गति से लगाया जा सकता है कि जहां तक प्रकाश में गति रहेगी वहां तक स्थिरता का होना संभव नहीं है। यहां की रचना इतनी प्यारी है कि मन को अपनी सुंदरता और आनन्द से विभोर कर देती है, सब कुछ भुला देती है। ध्यान से

उठने के बाद भी इसी में समा जाने को मन करता रहता है। इस अवस्था को बार-बार जीने के लिए मन की तड़फ बढ़ने लगती है। मन अपनी पुरानी आदतें भूल जाता है।

ध्यान में सूर्य, चांद और सितारे दिखते हैं तो वे भी बहुत ही मनमोहक दृश्य प्रस्तुत करते हैं क्योंकि यह एक प्रकाशित मण्डल है और साकार रचना होने के कारण यहां सूर्य और चन्द्रमा भी विद्यमान हैं। इस तरह इस ब्रह्माण्ड में असंख्य सूर्य और उनके चन्द्रमा हैं, जिनका साक्षात्कार ध्यान में किया जा सकता है। इनका वर्णन कबीर साहब, स्वामी जी महाराज, हुजूर महाराज व दूसरे संतों ने अपनी वाणियों में किया है। ध्यान में आत्मा उन सभी सौर मण्डलों को देखती चलती है जो ऊपर उसकी यात्रा की सीध में आते जाते हैं। दाएं या बाएं भी असंख्य सौर मण्डल रह जाते हैं जो मध्य में रहने वाली सुरत की धार से ही निकलते हैं लेकिन सुरत-शब्द योग में इन पर ध्यान देने की मनाही है क्योंकि ऐसा करने से सुरत अपने असली मकसद से बिछुड़ जाती है।

इस तरह से अरब-खरब सौर मण्डल, चांद, सितारों का वर्णन संत अपने सत्संग व वाणियों में करते रहते हैं।

गुरू नानक कहते हैं:

सौ चन्दा उगमियां, सूरज कई हजार।
इता चांदण होनियां, गुरू बिन घोर अंधियार।।

कबीर साहब कोटि सूरज, चंदा और दामनी का वर्णन करते हैं जो यहां की रचना को बहुत ही खूबसुरत बना देते हैं। ब्रह्मण्ड की चेतना के 18 मण्डल मुख्य हैं जिनके आधार पर कबीर योग, राधास्वामी योग या सुरत-शब्द योग का वर्णन किया जाता है। पूर्ण संत दीक्षा देते समय इनके बारे में क्रमवार तरीके से सारा भेद खोलते हैं ताकि एक अभ्यासी रास्ते में न अटक सके तथा काल का ग्रास न बन सके। सत्संगों में भी इनकी व्याख्या की जाती है। कौन सी धुन कहां बज रही है, कैसा

प्रकाश है, ये सब बताते हैं।

इस मण्डल की धुन हुंकार या ओंकार है जो बहुत ही प्यारी और मीठी होती है। पतली, ऊंची आवाज जिसमें एक पैनापन होता है। मुसलमान फकीरों ने इसे अल्लाहू कह कर पुकारा है। यही वह सुलेमानी तलवार है जो खुदा के बन्दों की शैतानी व पिशाची ताकतों से रक्षा करती है। नापाक इरादों के साथ यदि कोई ताकत इसकी तरफ देखने की कोशिश करती है तो इसमें से बिजली फड़कती है। इस में कोई विशेष उतार-चढ़ाव नहीं होता है। एक ही लय के साथ गुंजायमान रहती है। इतनी सुरीली व मनमोहक होती है कि इसकी उपमा किसी भी बाहरी धुन से नहीं दी जा सकती है। यहां से शरीर में बिजली के करंट के चलने जैसी अनुभूति होने लगती है। ऐसा लगता है जैसे शरीर में नीचे से ऊपर की तरफ कुछ चढ़ रहा है। नीचे के अंगों से सिर की तरफ कुछ चेतन तत्व चढ़ता हुआ प्रतीत होता है। कभी-कभी अचानक शरीर या शरीर के किसी अंग में ऐसा झटका लगता है जैसे करंट लगने से होता है। इस झटके में कभी किसी प्रकार का दर्द नहीं होता है इस लिए इससे डरने की आवश्यकता नहीं है। यह इसलिए प्रतीत होता है कि मस्तिष्क में प्रकाश की विद्युत-चुम्बकीय तरंगों का प्रवाह बढ़ने लगता है। विज्ञान इसकी पुष्टि करता हुआ कहता है कि हमारे मस्तिष्क की आन्तरिक गहराई में चेतना का केन्द्र बिन्दू होता है जिसे थैलेमस कहते हैं। इस थैलेमस के आसपास हमारी इन्द्रियों जैसे हाथ, पैर, आंख, कान आदि तथा स्मृति के केन्द्र बिन्दू होते हैं जहां पर हमारे पुराने संस्कार संचित रहते हैं। जब कृत्रिम बिजली की तरंग से इन बिन्दुओं को उत्तेजित किया जाता है तो बिन्दू में विद्यमान संस्कार (ऊर्जा) जाग जाते हैं और वह प्रकट रूप में कर्म बनकर प्रकट हो जाते हैं। उदारहण के तौर पर यदि हाथ वाले बिन्दू को उत्तेजित किया जाता है तो हाथ अपने आप ही तेजी से हिलने लगता है और यदि किसी स्मृति के बिन्दू को उत्तेजित कर

दिया जाए तो उसमें संचित सभी संस्कार व यादगार अपने आप ही जागने लगते हैं। यदि हम बचपन की किसी घटना को भूल जाते हैं तो वह घटना हमारे मस्तिष्क में संस्कार बनकर विद्यमान रहती है। स्मृति केन्द्र को जगाकर उस घटना को याद किया जा सकता है। अत: ध्यान द्वारा मस्तिष्क में विद्युत-चुम्बकीय तरंगों के बढ़ने से शरीर का कोई हिस्सा अचानक फड़क सकता है। इसके साथ ही हमारी चेतना पर विराजमान संस्कारों के बीज भी धीरे-धीरे सूक्ष्म रूप से हमारे सामने ध्यान या स्वप्न में प्रकट होने लगते हैं। ये वही स्मृतियां है जो हमारे मस्तिष्क की चेतना के ऊपर जमा हैं। यह तो ध्यान की आरम्भिक अवस्था में ही होने लगता है जब ध्यान आज्ञा चक्र अर्थात् तीसरे नेत्र पर होता है। इस समय हमारे अन्दर बीज रूप में पड़े ऐसे संस्कार प्रकट होने लगते हैं जिन्हें देखकर या जानकर अपने से घृणा होने लगती है। कई बुजुर्ग व्यक्ति ये शिकायत करते हैं कि अन्दर में प्रकाश भी बढ़ रहा है और शब्द भी सुन रहा है लेकिन कभी-कभी विचार गन्दे आने लगते हैं। कुछ सत्संगी शिकायत करते हैं कि सत्संग में आने पर विचारों में गिरावट आ जाती है। इसका जवाब देते हुए परम् संत ताराचन्द जी महाराज कहते हैं कि हमारे संस्कार हमारे अन्दर चिंगारी बनकर हर समय मौजूद रहते हैं। सत्संग की हवा लगने पर ये चिंगारी आग बन जाती है लेकिन आग बनने के बाद ये चिंगारी राख बन कर भस्म हो जाती है। इसलिए कहा जाता है कि परम् पुरूष का सत्संग बहतरणी नदी है, ऐसी त्रिवेणी व अमृत सरोवर है जहां स्नान करने से जन्म-जन्म के पाप कट जाते हैं। यही कारण है कि मृत्यु के समय हमारा एक-एक कर्म हमारे सामने प्रकट हो जाता है, उन्हीं कर्मों के आधार पर मरने वाले की चेतना का स्तर निर्धारित होता है और धर्मराज अर्थात् उस स्तर की चेतना का स्वामी उसके लोक-परलोक का फैसला करता है। यदि ध्यान द्वारा हम ऊंचे मण्डलों पर चढ़ जाते हैं तो धर्मराज या सभी

देवी-देवताओं की सीमा से ऊपर चले जाते हैं जहां हम **सतपुरूष** का अंश बनकर उसके आनन्द में सहभागी हो जाते हैं।

श्री अरविन्द ने इस मण्डल की चेतना को अतिमन (Supermind) का नाम दिया है और इसे अतिमानसिक चेतना कहा है जो ज्ञान की पहुंच से परे है। ऊंची से ऊंची चेतना का भण्डार है, प्रेम का लगातार बहने वाला स्रोत व झरना है। सारा संसार इसी प्रेम की अभिव्यक्ति है। यही प्रेम पुरूष है, आनन्द पुरूष है जो शुद्धतम, सुन्दरतम, समतायुक्त, महाप्रकाशवान है व पूर्ण आनन्द से भरपूर है। सारे ज्ञान, विज्ञान और कर्मों की उत्पत्ति इसी से होती है। इसी प्रकाशवान मण्डल को उन्होंने '**सावित्री**' में कभी न खत्म होने वाला दिन (The Eternal Day) कह कर पुकारा है। यहां आकर सावित्री अपने पूर्ण स्वरूप के दर्शन कर लेती है और उसे अपने अनुभव में उतार लेती है लेकिन नीचे के मण्डलों की शक्तियों की तरह सतपुरूष भी उसे परीक्षा में डाल देता है और उसे इस आनन्दमयी चेतना में अमरता का सुख भोगने के लिए आमन्त्रित करता है और कहता है कि यही उसकी मंजिल है, यहां का सुख व आनन्द आज तक किसी को नहीं मिला। इसलिए इस रचना का भोग कर और अपने आप को भी मेरी इस मस्ती में भूल जा। इस तरह सतपुरूष सावित्री के समक्ष अनेक प्रलोभन प्रस्तुत करता है लेकिन सावित्री कहती है कि जिस सत्ता, ज्ञान व आनन्द की प्राप्ति के लिए वह यहां तक आयी है, उसे स्वयं भोगने के लिए नहीं आयी है। इसी सुख व आनन्द में वह सारी भौतिक सत्ता को डूबो देना चाहती है। इस अतिमानसीकरण के अनुभव को वह सम्पूर्ण भौतिक अस्तित्व में उतार देना चाहती है। सतपुरूष उसकी ये बातें सुनकर खुश होता है और उसे अपना काम पूरा करने के लिए अर्थात् नीचे की चेतना के उत्थान तथा पूर्ण रूपान्तरण के लिए अपना यंत्र बनाकर वापिस पृथ्वी (भौतिक जीवन) पर भेज देता है और सावित्री सतपुरूष के महाप्रकाशवान स्वरूप

सत्यवान की पराशक्ति बनकर वापिस आ जाती है तथा इस भौतिक संसार में सतपुरूष की ताकत बन कर इसके रूपान्तरण में लग जाती है।

श्री अरविन्द ने इस मण्डल में वीणा की धुन (Lyric sound) का वर्णन किया है। सावित्री के अध्याय The Eternal Day (कभी न खत्म होने वाला दिवस) में अलग-अलग स्थान पर वे इसे ही सायरन (Siren), तुरही (Trumpet) या शादी में बजने वाला गीत अर्थात् शहनाई (Nuptial hymn) कह कर पुकारते हैं। अपनी पुस्तक The Synthesis of Yoga में इसे अतिमानसिक शब्द, अतिमानसिक लोगोस कहकर वर्णन करते हैं। सावित्री की 11वीं पुस्तक (The Book of Everlasting Day) के अध्याय The Eternal Day में लिखते हैं: कि आत्मा सतपुरूष का चोला धारण करके, वीणा की संगीतमय धुन सुनती हुई, खुशी और बहादुरी का इजहार करती हुई जिसमें जीवन का कोई खतरा बाकी नहीं रहता है, एक ऐसी भूमि पर पदार्पण करती है जहां सायरन की अद्‌भुत धुन लयबद्धता के साथ हमेशा गुंजायमान रहती है।

The lyric voyage of a divine soul
Mid spume and laughter tempting with its prow
The charm of innocent Circean isles,
Adventures without danger beautiful
Inlands where siren Wonder sings its lures
From rythmic rocks in ever-foaming seas.

यहां के प्रकाश व शब्द का वर्णन करते हुए कबीर साहब कहते हैं :

त्रिकुटी महल में विद्या सारा,
घनहर गरजें बजे नगारा।
लाल वर्ण सूरज उजियारा,
चतुर कंवर मंझार शब्द ओंकारा है।

वे कहते हैं कि त्रिकुटी में लाल रंग का प्रकाश व शब्द धुन ओंकार है।

परमानन्द जी महाराज इस मण्डल का वर्णन इस प्रकार करते हैं:

यह ब्रह्मण्ड फोड़ अण्डे से, त्रिकुटी का मण्डल साजा।
योजन लक्ष लक्ष का घेरा, सरे जीव का सब काजा।
हास्य विलास यहां पर अदभूत ओ३म-2 हू हू बाजा।
अमृत रस में नहाकर यहां पर विश्वनाथ दर्शन पाजा।
योजन कोटी सुरत फिर जाकर, दसों सुन्न में मगनानी।
सातों रंग निरखता यहां पर, हो जावे पूर्ण ज्ञानी।

सांवन सिंह जी महाराज ओंकार धुन व प्रकाश का वर्णन करते हुए कहते हैं: ''ब्रह्म का देश समस्त विद्या का भण्डार है, जैसे तबले (मृदंग) में से अति प्यारी गूंज निकलती है और मीठी से मीठी गूंज निकलती है, वह ही ओ३म् है, अक्षर ओ३म नहीं। यहां चार दल का कमल है और यहां का प्रकाश लाल, रक्तमय है जिस प्रकार प्रभात का सूर्य निकलता है और उसका प्रकाश रक्तमय होता है और **ऊँ-ऊँ** की निर्मल ध्वनी कमल के मध्य से उठ रही है। ''

स्वामी जी महाराज इस प्रकार वर्णन करते हैं :

अब चलो सजनी दूसर धाम।
निरखो त्रिकुटी गुरू का ठाम।
ओंकार धुन जहं विसराम।
गरजे बादल और घनश्याम।।
सूरज मण्डल लाल मुकाम।
गुरू ने बताया गुरू का नाम।।
पंचम वेद नाम यहि गाया।
चंहु दल कंवल संत बतलाया।।
घंटा शंख तजी धुनि दोई।
गरज मृदंग सुनाई सोई।।

सुरत चली और खोला द्वार।
बंकनाल धस हो गई पार।।
ऊंची नीची घाटी उतरी।
तिलकी उलटी फेरी पुतरी।।
गढ़ भीतर जाए कीन्हा राज।
भक्ति भाव का पाया साज।।
करम बीज अब दिया जलाई।
आगे को फिर सुरत चढ़ाई।।
नौबत झड़ती आठों जाम।
सुरत पाया मूल कलाम।।
महाकाल और कुरम बखाना।
उत्पत्ति बीजा यहां से जाना।।
सुरज चांद अनेकन देखे।
तारा मण्डल बहु विधि पेखे।
पिण्ड अण्ड से न्यारी खेली।
ब्रह्मण्ड पार चली अलबेली।।
बन और परबत बाग दिखाई।
चमन-चमन फुलवारी छाई।।
नहरें नदियां निर्मल धारा।
सुन्दर पुल चढ़ हो गई पारा।।
मेर सुमेर देख कैलाशा।
गई सुरत जहं विमल विलासा।।
राधास्वामी कहत पुकारी।
दूसर मंजिल करली पारी।।

स्वामी जी महाराज कहते हैं कि यहां आकर सुरत को भक्ति का साज मिल जाता है और कर्मों के बीज जल जाते हैं। यहां पर लाल रंग का

प्रकाश है और ओंकार तथा मृदंग की धुन है।

गीता का पुरूषोतम भी इसी मण्डल का पुरूष है जिसे केवल भक्ति द्वारा पाया जा सकता है। श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि उनके इस स्वरूप का दर्शन ज्ञान द्वारा संभव नहीं है। केवल मेरा अनन्य भक्त ही मेरे इस रूप के दर्शन कर सकता है। श्री कृष्ण विराट स्वरूप दिखाने के बाद अर्जुन से कहते हैं ''तेरी भक्ति अब शुरू होती है। अब तक तू मुझे सखा समझता था, मेरे साथ एक चारपाई पर बैठता था तथा एक ही साथ खाना खाता था अर्थात् मैं तेरे लिए एक व्यक्ति से अधिक कुछ नहीं था।'' अर्जुन अपनी इस धृष्टता के लिए श्री कृष्ण से माफी मांगता है और उनका अनन्य भक्त बन जाता है। उसे कण-कण व रोम-रोम में **'वासुदेव सर्वम्'** के दर्शन होने लगते हैं। उसके लिए अब श्री कृष्ण व्यक्ति न रहकर परमात्मा का स्वरूप बन जाते हैं। इस ज्ञान के द्वारा श्री कृष्ण अर्जुन को सतगुरू के साकार रूप का महत्व दर्शाते हैं। साकार तथा निराकार रूप के महत्व का विवरण इस पुस्तक के 11वें अध्याय में किया गया है।

राधास्वामी योग भी दूसरे अर्थों में भक्ति योग ही है लेकिन इस योग में ध्यान व भजन की महता होने के कारण कर्म व ज्ञान योग स्वत: ही पूर्ण हो जाते हैं तथा यह ओंकार का स्वरूप भी प्रेमभक्ति द्वारा ही अपने अन्दर उतारा जा सकता है। बुद्धि की कांट-छांट करने वाले मनुष्यों की यहां पहुंच नहीं है।

अब त्रिकुटी के स्थान पर सुरत ओंकार पुरूष का प्रकाशवान रूप देखते-देखते मग्न हो जाती है, उसके मधुर संगीत में खो जाना चाहती है लेकिन तभी उसकी शब्द के साथ लय अवस्था आने लगती है। प्रकाश का बहाव कम होने लगता है, धुन भी कमजोर पड़ने लगती है और त्रिकुटी कमल के मध्य से उठ रहे शब्द के साथ लय अवस्था प्राप्त करने लगती है। जहां एकपना होता है, वहीं लय की अवस्था होती

है। जहां भी एकपने का विचार है वहीं शुद्ध ताकत निवास करती है और जहां एकपने का तनिक भी अभाव है वहीं खिंचाव है, प्रकाश है, धुन है। जब किसी भी मण्डल की डयोढ़ी पर पांव रखा जाता है तो उस मण्डल का प्रकाश तथा नई धुन आरम्भ हो जाती है। शरीर में भी खिंचाव होने लगता है। ऐसा इसलिए होता है कि मण्डल की बाहरी सीमा पर लय अवस्था नहीं है। यहां पर दो ताकतों का खिंचाव है और खिंचाव हमेशा दो के भाव में रहता है, वहीं पर प्रकाश व शब्द की गति भी अधिक रहती है लेकिन ज्यों-ज्यों उस मण्डल के मध्य की तरफ सुरत जाती है उसकी लय अवस्था आती जाती है। नीचे के मण्डलों में यह लय अवस्था प्रकाश के हर मण्डल से ऊपर पड़ने वाले अंधकार या शून्य मण्डल में जाकर आती है लेकिन सच्चखण्ड में जाकर लय अवस्था में भी अंधकार नहीं रहता है यद्यपि वहां भी धुन के मण्डल से ऊपर जाकर सुरत लय अवस्था प्राप्त करती है। लय अवस्था हर मण्डल का केन्द्र है, शब्द का मण्डल है, वहां धुन नहीं है। हर लय अवस्था में प्रकाश, धुन और खिंचाव शांत पड़ जाते हैं। यही कारण है कि पिण्ड, ब्रह्मण्ड और सच्चखण्ड अर्थात् हर खण्ड में तीन मण्डल शब्द के हैं और तीन ही मण्डल धुन के। इस तरह हर खण्ड में छ: मण्डल बनते हैं। कुल मिलाकर 18 मण्डलों के रूप में रचना का अस्तित्व विद्यमान है।

हुजूर सालिगराम जी महाराज ने 'प्रेम उपदेश राधास्वामी' में लिखा है ''धारा साक्षात शब्द का स्वरूप है और उसमें और आदि शब्द में कुछ भेद नहीं है। सिर्फ धारा के जारी होने से दो दिखाई देते हैं जैसे जल और उसकी तरंग। पर जब प्रकाश दो रूप हुआ तो नाम भी दो हो गए। इस तरह से सुरत की यह धारा (अर्थात् धुन) हर मुकाम से निकली। राधा आदि की वह धार है जो आदि शब्द से प्रकट हुई और जहां से रचना का कार्य शुरू हुआ। इस आदि सुरत या राधा से नीचे के मण्डल की धारा सुरत बनकर जारी हुई। इस तरह से वह आदि सुरत अगम

लोक से निकलकर शब्द में प्रकट हुई, फिर शब्द सुरत की धार में और इस प्रकार वही आदि सुरत अलग-2 मण्डलों की रचना करती हुई नीचे तक आई।''

स्पष्ट कहा गया है कि धारा जो किसी भी मण्डल से जारी हुई है वह धारा उस मण्डल के स्वामी अर्थात् शब्द से भिन्न नहीं है। दोनों एक ही रूप हैं। यदि कोई साधक किसी मण्डल की धुन में पहुंचता है तो यह आवश्यक है कि कुछ समय बाद उसे वह धुन छोड़कर उस मण्डल के केन्द्र में हो रहे शब्द के साथ एकता स्थापित करनी ही पड़ेगी। धुन में लगातार अधिक समय तक नहीं ठहरा जा सकता है लेकिन शब्द की लय अवस्था वह अवस्था है जिसमें जाने पर आसानी से निकला नहीं जा सकता। अनेकों गुरू व धर्म आचार्य इन्हीं अंधकार के मण्डलों में रहते हुए सारा जीवन बिता देते हैं और अपने शिष्यों से कहते हैं कि यह असम्प्रज्ञात, निर्विकल्प व निर्बीज समाधि की अवस्था है। सच्चखण्ड की लय अवस्था में अंधकार नहीं है। सच्चखण्ड से नीचे के मण्डलों की लय अवस्था में अंधकार है। यह इस तरह से है जैसे सुषुप्ति या कारण में लय की अवस्था होती है। सुषुप्ति के अनुभव में एकपने का भाव है, वहीं पर शान्ति भी है लेकिन जब तक यह लय अवस्था ऊंचे मण्डल (सच्चखण्ड) की नहीं है तब तक पूर्ण शान्ति नहीं हो सकती और हम काल व माया की सीमा के अन्दर ही घूमते रहते हैं।

अत: अभ्यास करते-करते जब त्रिकुटी मण्डल पर लय की अवस्था आ जाती है तो प्रकाश में भी काफी हद तक न्यूनता आ जाती है और यह अवस्था सारे जीवन भी बनी रह सकती है क्योंकि सुरत का अब दूसरे चरण का सिमटाव शुरू होता है जो अपने आप में एक अलग तरह का अनुभव है और यह अनुभव तब तक शुरू नहीं होता जब तक गहराई में रमी हुई चेतना को प्रेम और विरह के मजबूत चुम्बक द्वारा नहीं खींचा जाता है। यहां पर आकर कबीर साहब की ये पक्तियां याद आती हैं:

दुनियां खाए और सोए।
कबीरा जागे और रोए।।

सतगुरू में प्रेम और गहरा विरह ही जन्म-जन्म की रमी हुई चेतना को अभ्यास के दूसरे चरण में ला सकता है। इसके बिना दूसरे चरण की यात्रा में शामिल होना संभव नहीं है। अब अगले अध्याय में सुरत की अगले चरण की यात्रा आरम्भ करते हैं।

सुन्न मण्डल

सुरत-शब्द योग में स्थूल रचना से ऊपर ब्रह्मण्ड के मुख्य चार स्थान हैं जिनमें शिवनेत्र (आज्ञा चक्र) शामिल नहीं है। शिवनेत्र को संत मत में स्थूल रचना का हिस्सा माना गया है जहां से सारी भौतिक रचना का पसारा हो रहा है और सहस्रार से इसकी संभाल हो रही है जहां से हजारों धार निकलकर नीचे फैल रही हैं। इन हजारों धारों का संचालन सहस्रार से ऊपर की तीन धार सत् रज, व तम् करती हैं जो त्रिकुटी के ओंकार पुरूष से निकलती हैं। प्रकृति और ज्योति-निंरजन का मण्डल सहस्रार त्रिकुटी मण्डल में आकर त्रैतवाद बनकर सिमट जाता है। यहां की तीन धार प्रकट होकर सुरत के साथ गांठ बांधती हैं, सुरत को बंधन में बांधती हैं। यहां पर प्रकृति का सूक्ष्म स्वरूप पराप्रकृति है। सुन्न में आकर वह कारण रूप है जहां पर सुरत व माया की गांठ खुलनी शुरू होती है। अतः राधास्वामी योग का स्थूल, सूक्ष्म व कारण दूसरे मत-मतान्तरों और दर्शनों से भिन्न है जो बहुत ऊपर जाकर पूर्ण होता है।

शिवनेत्र अर्थात् आज्ञा चक्र का प्रकाश जब खुलता है तो लगभग सभी मत व धर्म इसे ही अपनी मंजिल मान बैठतें हैं और ध्यान की इस अवस्था को सम्प्रज्ञात, सविकल्प व सबीज समाधि कहते हैं। इसे ही दिव्य चक्षु, उपयोग तथा विवेकख्याति प्राप्ति कहा जाता है। जब शिवनेत्र से ऊपर अंधकारमय अवस्था या शून्य मण्डल की लय अवस्था आती है तो कहा जाता है कि यहां आकर कर्मों के सारे बीज नष्ट हो जाते हैं। चित्त के ऊपर कोई भी वृति नही रह जाती है अर्थात् प्रकाश रूप भी समाप्त हो जाता है तो ध्यान की इसी अवस्था को मुक्ति, अमरत्व, तुरिय पद, निर्वाणपद, कैवल्य या केवलपद (जिसे केवलज्ञान भी कहा जाता है) और असम्प्रज्ञात, निर्विकल्प व निर्बीज समाधि का परम उत्कर्ष

मानते हैं। इसे ही ब्रह्म व परब्रह्म का साक्षात्कार तथा 'एकोब्रह्म द्वितीय नास्ति' कहकर वर्णन करते हैं। इनमें से कोई विरला मत व दर्शन ही इन अवस्थाओं का वर्णन सहस्रार और सहस्रार से ऊपर पड़ने वाले शून्य मण्डल (बंकनाल) में करता है लेकिन राधास्वामी पंथ शिवनेत्र तक के ध्यान को स्थूल ध्यान मानता है। यहां तक की रचना स्थूल रचना है। सहस्रार के मण्डल से सूक्ष्म ध्यान आरम्भ होता है। जब आज्ञा चक्र तक की रचना का विनाश या प्रलय होता है तो यह रचना आज्ञा चक्र के ऊपर शून्य मण्डल में जाकर समा जाती है और जब सहस्रार तक की रचना का विनाश होता है तो यहां तक की सारी रचना सहस्रार के ऊपर के शून्य मण्डल अर्थात् बंकनाल में जाकर समा जाती है। लय, प्रलय का अधिक वर्णन यथोचित स्थान पर किया जाएगा।

आत्मा शरीर त्यागते समय अपनी सारी सत्ता को समेटकर जब आज्ञा चक्र पर आती है तो यहां उसे ज्योति का दर्शन होता है और फिर अपने कर्मानुसार ऊपर से नीचे के मण्डलों में जाती है जहां बहुत से लोक हैं जैसे देवलोक, सूर्यलोक, स्वर्गलोक आदि। अत्यंत निम्न स्तर की आत्माएं नीचे के लोकों में आ जाती हैं। जो आत्माएं अधोगति की अवस्था में शरीर छोड़ कर जाती हैं तो ऐसी आत्माएं शरीर छोड़ने के बाद भी मृत्यु लोक में ही गमन करती रहती हैं। इन सभी लोकों में रहते हुए इन आत्माओं के जब सूक्ष्म कर्म समाप्त हो जाते हैं तथा फिर जन्म लेने की प्रबल इच्छा होती है तो कर्मानुसार भिन्न-2 योनियों में इनका जन्म होता है। यदि मनुष्य से नीचे की योनियों में जन्म होता है तो ऐसी आत्माओं ने पूर्व जन्म में आज्ञाचक्र से नीचे के चक्रों में व्याप्त चेतना का आनन्द भोग किया है। उदाहरण के तौर पर यदि पशुवृति में जीवन व्यतीत किया है तो मृत्यु के बाद आत्मा हृदय चेतना के मण्डल पर आकर रूक जाती है और वहां के स्तर पर पशुओं की जितनी योनियां होती हैं उनमें जन्म लेना पड़ता है। ये आत्माएं हृदय चक्र से ऊपर नहीं उठ

सकती हैं। हृदय चक्र पर प्रेम करने वाली चेतना है लेकिन आकाश तत्व की कमी आ जाती है। इसलिए इन जीवों में मन विद्यमान तो रहता है लेकिन विकसित नहीं होता है। इसी वजह से पशु प्रेम तो भरपूर कर सकते हैं लेकिन उनका मन व बुद्धि विकसित नहीं होती है। जो मनुष्य बुरी तरह से मोह में फंसे रहते हैं वे भी हृदय चेतना से ऊपर नहीं उठ पाते हैं, अत: ऐसे मनुष्य भी ऐसी ही योनियों को प्राप्त होते हैं।

मनुष्य में दूसरे सभी तत्वों के साथ आकाश तत्व की मुख्यता पाई जाती है, इसलिए मनुष्य का जन्म विशुद्ध चक्र या आज्ञा चक्र पर आकर मनुष्य योनि में होता है। इसी प्रकार जिन जीवों में आकाश तत्व के साथ-2 वायु तत्व भी कम होता है और पृथ्वी, जल या अग्नि तत्व मुख्य होते हैं तो ऐसे जीव और भी नीचे की नाभि चेतना में व्याप्त योनियों में जन्म लेते हैं। यहां अग्नि तत्व मुख्य होने के कारण उनमें गर्मी की ऊर्जा होती है इसलिए चलने फिरने वाले जीव लेकिन हृदय हीन या कम हृदय वाले कीड़े-मकोड़ों का जन्म होता है। ऐसा नहीं है कि इनमें बाकी के तत्व बिल्कुल नहीं होते हैं, होते तो हैं लेकिन गौण हो जाते हैं, मुख्य नहीं होते हैं। ऐसे जीव दूसरे जीवों को खाकर अपना जीवन यापन करते हैं। इसी प्रकार जल तत्व मुख्य होने पर पेड़-पौधे और केवल पृथ्वी तत्व मुख्य होने पर जीव ईंट व पत्थर की अचेतन धार में बेहोश होकर समा जाता है।

मनुष्य में दूसरे तत्वों के साथ आकाश तत्व मुख्य होता है। इस तत्व की प्रकृति ऊपर उठने की होती है जहां से मन की धार पैदा होती है क्योंकि मन की प्रवृति ऊपर आकाश की ऊंचाइयों पर उड़ने की होती है, कुछ बनने व करने की होती है। हृदय की प्रवृति बीच में रहने की होती है, इसलिए हृदय में वायु तत्व की मुख्यता रहती है। जल तथा पृथ्वी की प्रवृति नीचे गिरने की रहती है। इसलिए तत्वों की अधिकता व न्यूनता के आधार पर योनियां प्राप्त हुआ करती हैं और मृत्यु के बाद

उसी आधार पर सूक्ष्म या स्थूल लोक की प्राप्ति होती है। इसी आधार पर शास्त्रों में 84 लाख योनियों का वर्णन किया गया है।

कहने का अर्थ यह है कि यदि आत्मा में स्थूलता कम और सूक्ष्म तत्व अधिक है और यदि उसने इस जन्म में सूक्ष्म रचना के मण्डलों का ध्यान किया है तो वह आत्मा शरीर त्यागने के बाद भी उसी मण्डल की ताकत के साथ एकता स्थापित करती हुई वहीं से उतरकर अगला जन्म लेती है। अगले जन्म में उसकी आध्यात्मिक यात्रा उसी मण्डल से आरम्भ होती है जहां तक की पहुंच उसने पिछले जन्म में की थी। यदि सुरत में पशुवृति है, प्रकृति में भारीपन या भारी तत्व मौजूद हैं और स्थूल रचना के स्थूल भोग भोगे हैं जो नीचे की इन्द्रियों की तरफ खींचते हैं अर्थात् स्थूलता का ध्यान किया है, इन्द्रियों में से बहने वाली ताकत का भोग किया है, मन को उर्ध्वगति की तरफ नहीं मोड़ा है तो फिर इस हालत में सुरत में हल्कापन कहां से आएगा? सूक्ष्म तत्व कहां से पैदा होगा? अत: ऐसे मनुष्यों का जन्म भी उसी प्रकार की योनी में होगा जहां स्थूलता का वास होगा, बुद्धि तथा विवेक की कमी होगी। इसी आधार पर शास्त्रों का यह कथन सच है कि जिस प्राणी ने जैसे कर्म किए हैं और मरते समय उसकी वृति जहां टिकी है, वैसा ही अगला जन्म होता है और जैसी आत्मा की वृति है, जैसी पसन्द है, कर्मों के जैसे संस्कार उसमें विद्यमान हैं, वैसी ही प्रकृति के तत्वों से उसका शरीर व मन निर्मित होंगे। वैसे ही तत्व वह आत्मा माँ के शरीर से खींचेगी। यदि तामसिक वृति है तो वह आत्मा अपना शरीर बनाने के लिए तामसिक खाने की मांग करेगी। यदि सात्विक वृति है तो सात्विक और यदि राजसिक है तो चटपटा और स्वाद खाना मांगेगी और उसकी मांग पूरी करने के लिए मां को उसी तरह का खाना खाने पर मजबूर होना पड़ेगा क्योंकि गर्भ में सुरत की परवरिश तथा पालन-पोषण उसी तरह के तत्वों के द्वारा हो रहा होता है। इन बातों की समझ केवल अभ्यास द्वारा ही आ सकती है क्योंकि

अभ्यास में भिन्न-2 मण्डलों पर तत्वों में लय अवस्था की प्राप्ति होती है जिससे ऐसे रहस्य खुलते चले जाते हैं।

सांसारिक व्यवहार की ये बातें लिखने का अभिप्राय यहां केवल इतना है कि ब्रह्म की परा-प्रकृति जो सुन्न मण्डल में ब्रह्म की शक्ति बनकर विराजमान है, वही शक्ति आज्ञा चक्र से नीचे आकर स्थूलता के रिश्ते-नातों में फंस जाती है और सुरत इस स्थूल प्रकृति के साथ गांठ बांधकर आवागमन के चक्र काटती रहती है। सुन्न मण्डल में यह गांठ सूक्ष्म रूप से बंधी हुई है। इस गांठ को खोलना सुरत का बहुत ही बारीक द्वार में से निकलना है। सुरत-शब्द योग का दशवां द्वार यही है, जिसे पार करते समय सुरत का रोम-रोम तड़फ उठता है। सुन्न मण्डल का अर्थ शून्य का अनुभव नहीं है। शून्य का अनुभव महासुन्न के घोर अंधकार की लय अवस्था में जाकर होता है। जड़ का अर्थ सांख्य तथा योग दर्शन की व्याख्या नहीं है, बल्कि सतपुरूष के चैतन्य (शब्द) का ही नीचे के स्तर पर विस्तार है अर्थात् चेतना में चेतनता की कमी आने से ब्रह्मण्ड और पिण्ड का विस्तार होता जाता है। यह जड़-चेतन की जो गांठ लगी हुई है उसमें जन्म-2 के संस्कार रमे हुए हैं। समझ लीजिए कि यह गांठ एक चेतन रस्सी की ऐसी गांठ है जिसे बनाने के लिए पहले कई सहस्रार पतले-2 धागों को बांटकर एक सहस्र मोटे धागे बनाए गए हैं और इन एक सहस्र धागों को फिर कातकर तीन मोटे सूत बनाए गए हैं, उसके बाद इन तीन सूतों को फिर बांटकर एक मोटी रस्सी बनाई गई है और मौसम के बेरहम थपेड़ों अर्थात् आवागमन के चक्कर ने इस रस्सी को और भी कठोर व गठीली बना दिया है। अब कल्पना कीजिए कि यदि इस पूरी रस्सी को, जिसमें जीवन है, उधेड़ने की कोशिश की जाए और उसमें व्याप्त जीवन की धार को खींचा जाए तो ऐसा करने से कितना भारी दर्द व तड़फ इसके रेशे-रेशे में होगा, वही अनुभव है सुन्न मण्डल से सच्चखण्ड तक की यात्रा में। इस मण्डल या इससे ऊपर के

मण्डलों का वर्णन केवल सुरत-शब्द योग के भेदी संतों की वाणियों में मिलता है। इनमें से मुख्य **कबीर साहब, गुरू नानक देव, स्वामी जी, सालिगराम जी तथा राधास्वामी पंथ** के कुछ दूसरे संत हैं।

अब तक की यात्रा में सुरत के बाहरी स्वरूप का सिमटाव था, उस चेतना के साथ आत्म-साक्षात्कार व लय थी जो तीन लोक में फैली है। अब सुन्न मण्डल में इसके आन्तरिक सूक्ष्म स्वरूप का सिमटाव है जिसकी वजह से इन तीन लोकों की चेतना का विस्तार है, अस्तित्व है। सतलोक में इसके कारण स्वरूप का सिमटाव है और अनामी धाम में सुरत का अपने निज-स्वरूप अर्थात् राधास्वामी धाम में लय होना है।

सुन्न मण्डल संतमत का दशवां द्वार है इससे नीचे नहीं। इस द्वार का रास्ता इतना तंग है, सूक्ष्म है कि सुरत के साथ जो स्थूल व सूक्ष्म कर्म मन व माया के जुड़े हुए थे उनका संकल्प-विकल्प टूटने लगता है। वे टूट-टूट कर झड़ने लगते हैं। जिसकी वजह से उनमें विद्यमान सुरत की धार कराह उठती है, तड़फने लगती है लेकिन बढ़ता हुआ प्रकाश और शब्द की गूंज उसमें नवजीवन का संचार करने लगते हैं। एक दैविक उज्जवल धारा उसमें बहने लगती है जो उसकी तड़फ और प्यास को तृप्त करती चलती है। प्रकाश व शब्द का अनुभव सुरत को आनन्दित करता रहता है। सुरत का सिमटाव एक लम्बी प्रक्रिया होती है, लेकिन कई गुरू या उनके शिष्य कहते हैं कि यह तो पल में हो जाता है। ऐसी बातें स्वयं व दूसरों को भरमाने के सिवाय कुछ नहीं है।

रचना की उत्पत्ति और प्रलय में चेतना का फैलाव तथा सिमटाव एक विशेष क्रम से चलता है। शक्ति का यह स्वभाव होता है कि वह जब भी गति करती है तो गोलाकार होकर चलती है और अलग-2 स्थानों पर मण्डल बांधती हुई चलती है। लय-प्रलय या रचना की उत्पत्ति के समय एक मण्डल की धार ऊपर वाले या नीचे वाले मण्डल में जाकर समा जाती है। इस तरह से चेतना के फैलाव या सिमटाव में

करोड़ों वर्ष लग जाते हैं। वैज्ञानिक शोध-निष्कर्षों के आधार पर इस सृष्टि का जन्म अरबों वर्ष पहले हुआ था। पृथ्वी की उत्पत्ति लगभग 4.5 अरब वर्ष पहले तथा इस सूर्य की उत्पत्ति लगभव 5 अरब वर्ष पहले मानी गई है। अत: ब्रह्मण्ड तक की पूरी रचना के विकास तथा विनाश के समय का अनुमान लगाना एक असम्भव कार्य है। पहले स्थूल रचना का लय, फिर सूक्ष्म (ब्रह्म) रचना का त्रिकुटी तक का प्रलय और उसके बाद सतलोक से नीचे भंवर गुफा तक का महाप्रलय होता है। इसके बाद भी कोई मनुष्य कहता है कि सुरत कुछ मिन्टों या घंटों या कुछ ही दिनों में मुक्ति धाम या निजधाम में पहुंच जाती है तो ये बातें सच्चाई के निकट नहीं हैं। कोई भी मनुष्य जब शरीर छोड़ता है तो सबसे पहले पैरों या हाथों की उंगलियों की चेतना का सिमटाव आरम्भ होता है, फिर ऊपर जाते-जाते हृदय की गति रूक जाती है, लेकिन उस व्यक्ति को तब तक मृत घोषित नहीं किया जाता जब तक उसका मस्तिष्क चेतना होने का संकेत देता है। अभिप्राय यही है कि नीचे के सभी चक्रों की शक्ति जब आज्ञा चक्र पर आकर विलीन हो जाती है और जब आज्ञा चक्र से भी ऊपर खिंचती हुई इस शरीर से बाहर निकल जाती है तभी जाकर मनुष्य की मृत्यु होती है। अत: स्पष्ट है कि चेतना का फैलाव और सिमटाव एक विशेष क्रमबद्ध तरीके से होता है और यह फैलाव या सिमटाव सभी जीवों में समान तरीके से ही होता है।

कुछ धर्म आचार्यों द्वारा यह प्रमाण भी दिया जाता है कि चेतना का आरोह कोई गणित का विषय नहीं है जो एक विशेष क्रम में चलता हो, यह किसी नियम का पाबंद नहीं है और किसी भी स्तर या चक्र से ध्यान या मनुष्य की चेतना खुल सकती है अर्थात् ऊपर के मण्डलों की चेतना पहले खुल सकती है तथा उसके बाद उससे नीचे या ऊपर के मण्डलों की यात्रा शुरू हो सकती है। कितनी मनमुखता है इन कथनों में, कितने बेरहम तरीके से चेतना को अपने मन का यंत्र बनाया जा रहा

है। यदि इस तरह से संभव होता तो सूर्य से पहले यह पृथ्वी क्यों नहीं बन गई? पेड़-पौधों, कीड़े-मकोड़ों, पशुओं से पहले मनुष्य पृथ्वी पर क्यों नहीं आ गया या पृथ्वी के विकास के बिना ही मनुष्य का जन्म या अवतरण क्यों नहीं हो गया? सभी सूर्य-मण्डल व सितारे अपने विकास कर्म में पैदा हुए और ज्यों-ज्यों चेतना की गर्मी में कमी आती गई, उन्हीं गर्म सूर्य या सितारों से अगले चरण की स्थूल व उनसे ठण्डी रचना या कम ताकत की रचना की उत्पत्ति होती गई, तब कहीं जाकर अपने क्रम में पृथ्वी अपने अस्तित्व में आई। वैज्ञानिक सिद्धांत भी इस बात की पुष्टि करते हैं। वैज्ञानिक सिद्धांत कहता है कि इस ब्रह्माण्ड की रचना एक महानाद (विस्फोट) से हुई जिसे 'बिग बैंग सिद्धांत' कहा गया है। इस विस्फोट के कुछ ही सैकेण्ड बाद इतनी नाभिकीय अभिक्रियाएं आरम्भ हुई कि अलग-अलग तरह के तत्व या द्रव्य बनने आरम्भ हो गए। इसी कर्म में लाखों आकाशगंगाओं, चांद, सितारों आदि खगोलिय पिण्डों का निर्माण हुआ। बाद में हमारा सूर्य मण्डल, जिसमें पृथ्वी भी है, अपने अस्तित्व में आया और इस पृथ्वी पर सबसे पहले पानी के अन्दर एक कोशिकीय जीव बना, फिर उसी कोशिका का आगे विभाजन होते-होते अनेक प्रकार के जीव-जन्तु व मनुष्य बने और इस मनुष्य में भी बुद्धि का विकास होते-होते हजारों वर्ष लग गए। एक कोशिकीय जीव से आज के मानव का स्वरूप प्रकट होने में लाखों वर्ष का समय लग गया। यह तो स्थूल रचना की उत्पत्ति है, फिर अध्यात्म तो इससे बहुत ही ऊपर की बातें कहता है जहां सतपुरूष से परब्रह्म, फिर उससे ब्रह्म की उत्पत्ति हुई और उसके बाद इस पिण्ड लोक की अर्थात् स्थूल रचना की।

रचना के विकास की कहानी इसी तरह से हिन्दू शास्त्रों में दस अवतारों के वर्णन में आती है। पहला अवतार मच्छ (मच्छली) जो केवल पानी का जीव है, फिर कच्छ (कछुआ) जो जल के साथ-2

पृथ्वी पर भी आ जाता है। अत: जल से पृथ्वी का विकास होने पर कछुआ अवतार आया। फिर तीसरा वराह (सुअर) अवतार जो पूरी तरह से पृथ्वी का जीव है और पृथ्वी की गन्दगी की सफाई करता है। पृथ्वी के उद्धार के लिए भगवान ने वराह अवतार के रूप में जन्म लिया। चौथा अवतार नरसिंह जो मनुष्य तथा सिंह के शरीर से बना था अर्थात् पशु से नर के विकास की तरफ प्रकृति का यह पहला कदम था। इसके बाद पांचवां अवतार वामन (बौना मनुष्य) के रूप में आया। छटा अवतार परशुराम के रूप में आया जो आदि मानव के पशु व्यवहार को दर्शाता है। यह परशुराम हर समय अपने हाथों में परशा (बरछा) रखता था और जो भी क्षत्रिय अर्थात् उससे ताकतवर पुरूष प्रतीत होता था, उसी को मार देता था। सातवें अवतार पुरूषोतम भगवान राम (बारह कला भरपूर) आए जिन्होंने जीवन के आदर्श स्थापित किए, सामाजिक जीवन को सूचारू रूप में चलाने के लिए मर्यादा स्थापित की। यहां से जंगली और असभ्य पुरूष से सभ्य पुरूष की कहानी शुरू होती है। श्रीराम के जीवन के मुख्य अति सुन्दर क्षण जंगल के वानरों व रीछों के मध्य ही व्यतीत होते हैं। इसके बाद आठवें अवतार के रूप में भगवान श्री कृष्ण आए जो सोलह कलाओं के पूर्ण अवतार कहे जाते हैं। इस समय मानव बहुत स्वार्थी हो गया था। राज दरबार में धर्मराज युधिष्ठिर जैसे राजा जुआ खेलने में अपनी शान समझते थे तथा घर की औरतों को सबके सामने जुए में दांव पर लगा दिया जाता था। भगवान कृष्ण ने जीवन मुल्यों की स्थापना के लिए शम, दम, दण्ड, भेद आदि सभी तरीके अपनाए। उसके पश्चात नौवें अवतार के रूप में भगवान बुद्ध का अवतार हुआ जो बुद्धि के चरम विकास की कहानी है और दशवां अवतार अभी कलियुग में प्रकट होना है जो आन्तरिक चेतना के उच्चतम विकास की कहानी लिखेगा। इसी तरह से दस अवस्थाएं मनुष्य को माता के गर्भ में आने के बाद जन्म लेने तथा मृत्यु तक क्रमश: पूरी

करनी पड़ती हैं। अवतारों के विवरण से मिलता-जुलता ही डार्विन का ''विकास का सिद्धांत'' है। उन्होंने कहा भी है कि शायद हिन्दुओं के दस अवतारों की कथा सृष्टि के विकास की कहानी है।

ये सब लिखने का अभिप्राय यही है कि चेतना या सृष्टि का विकास एक विशेष नियम से ही हो सकता है। चेतना किसी नियम को तोड़कर नहीं आ सकती है। यहां सब कुछ एक नियम में बंधा हुआ है और वही नियम इस रचना की संभाल कर रहा है। इसका विकास भी नियम से होता है और लय-प्रलय भी नियमबद्ध ही होते हैं। कुछ समय के लिए मनुष्य इस नियम को बदलने की कोशिश कर सकता है लेकिन व्यापक काल का नियम सभी कोशिशों को एक पल में धराशाही कर देता है। सभी मनुष्य असहाय होकर देखते रह जाते हैं। इसलिए संतों ने काल के नियम का सम्मान करने का आदेश दिया, उसमें रम जाने का नहीं। यह काल पुरूष भी दयाल की शक्ति का ही ब्रह्मण्ड के स्तर पर विस्तार है। एक तरह से यह दयाल का ही नियम है, इसे तोड़ने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। दयाल की मौज में रहने से दु:खों का अन्त हो जाता है। हमें काल पुरूष से ऊपर जाकर निज-स्वरूप में स्थापित होना है। यह कार्य काल पुरूष के साथ लड़ाई करके या उसके कार्यों में मन लगाकर नहीं हो सकता है। संसार की कठिन परिस्थितियों से अनुभव रूपी हीरे बटोरते हुए शान्ति के साथ आगे बढ़ते जाना है। यही काल की ताकतें साधक की कमियों को उघाड़ती हैं ताकि वह आत्म शुद्धि के लिए संघर्ष करने पर मजबूर हो तथा जीवन-रहस्य को जान सके, इन ताकतों का स्वामी बन सके और साधारण मनुष्यों का मार्गदर्शन कर सके। अत: यह कहना कि चेतना ध्यान में किसी भी मण्डल से खुल सकती है यह मात्र भ्रम है और यह विचार योगियों को पथभ्रष्ट कर सकता है। चेतना का आरोहण व अवरोहण एक नियमबद्ध तरीके से ही होता है।

जब सुरत नीचे के मण्डलों की चेतना को समेटकर सुन्न मण्डल में प्रवेश करती है तो इसे बाल से भी कई हजारवें हिस्से के समान बारीक छिद्र में से निकलना होता है जहां पर इसकी रग-रग बोलने लगती है, भ्रम की गांठ खुलने लगती है। अक्सर देखा गया है कि साधक आज्ञा चक्र पर किए गए अनुभव को ही सुन्न मण्डल का ध्यान कहने लग जाता है। जब आरम्भ में आज्ञा चक्र के ध्यान में आसन पूरी तरह स्थिर न होने की वजह से साधक के पैरों में दर्द या घबराहट होने लगती है या अंगो की शून्य अवस्था मालूम पड़ती है तो वह उसे ही सुन्न मण्डल का ध्यान समझने लगता है। यह दर्द या खिंचाव नीचे के स्तर पर होता है और यदि आसन बदल दिया जाए तो फिर इस तरह का दर्द या खिंचाव बंद हो जाता है लेकिन सुन्न मण्डल के ध्यान में सुरत का खिंचाव बंद नहीं होता है। किसी भी आसन में बैठो या लेट कर ध्यान करो तब भी सुरत का सिमटाव व खिंचाव आगे बढ़ता जाता है लेकिन यहां पर और भी स्थिर आसन की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि शुरू की अवस्था में इस खिंचाव को शुरू होने में एक घंटा या अधिक समय लग जाता है और यदि हाथ या पैर का कोई भी अंग हिल जाता है तो खिंचाव वापिस चला जाता है। यहां पर ध्यान की अवस्था इतनी आकर्षक होती है कि शब्द और प्रकाश बढ़ते रहते हैं और सुरत का खिंचाव भी धीरे-2 आगे बढ़ता जाता है। इसलिए साधक न चाहते हुए भी आसन को जमाए बैठा रहता है। उसे तीन तरह के ध्यान में अर्थात् शब्द, प्रकाश व चेतना के खिंचाव में बहुत ही आनन्द आने लगता है। दो घंटे का स्थिर आसन लगाना उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं रहती है बल्कि साधक इस रोचक अवस्था को छोड़कर उठना नहीं चाहता है। अत: इस अवस्था में आगे बढ़ने के लिए एक समय में कम से कम डेढ़ या दो घंटे का ध्यान आवश्यक है। क्योंकि खिंचाव शुरू होने में डेढ़ दो घंटे का समय लगता है लेकिन बाद में यह खिंचाव बहुत ही जल्दी शुरू

होने लगता है। अभ्यास में बैठने के पांच या दस मिनट में ही शुरू हो जाता है। ये बातें खोलकर इसलिए लिखी जा रही हैं कि योगी या गुरू अपनी आरम्भिक अवस्था को ऊंची साधना का दर्जा दे देता है, जिससे उसका अहित हो जाता है। वह खुद भी भ्रमित रहता है और दूसरों को भी रास्ता दिखाने में असफल रहता है। अत: साधक को सुरत के खिंचाव के साथ-2 इस मण्डल के शब्द व प्रकाश के अनुभव को भी मिलाकर देख लेना चाहिए।

यह एक बार फिर कहा जाता है कि जो भी शब्द अंधकार का है, वह माया है, छल है। असली शब्द-धुन के साथ तो प्रकाश की बाढ़ सी आ जाती है। जो लोग तर्क-वितर्क में रहते हैं और सरल नहीं हैं उन्हें प्रकाश के दर्शन कम ही हो पाते हैं। उनके समक्ष प्रकाश पूरी आभा के साथ प्रकट नहीं होता है तथा बीच-2 में प्रकाश का आना बंद हो जाता है। इसका कारण है प्रेम की कमी, उनकी बुद्धि में विराजमान संशय, भ्रम तथा अधूरा समर्पण । ऐसे पुरूष ध्यान के एक-एक अनुभव को बुद्धि की तराजू पर रखकर तोलने लगते हैं, उनका ध्यान टूट जाता है। सतगुरू या इष्ट का ख्याल पूरी तरह से हृदय में नहीं समा पाता है। इसलिए ऐसे मनुष्य सतगुरू के नूरी स्वरूप के दर्शन करने से वंचित रह जाते हैं। इसके विपरीत जो साधक अपने सतगुरू से अटूट प्यार करता है वह उस प्रकाश को खींच लेता है और उस प्रकाश के बहाव में बहता चला जाता है तथा अंधकार को अपने निकट नहीं आने देता है। प्रेम वह ताकत है जिसके अन्दर अभ्यास में असंभव को संभव बनाने की शक्ति विराजमान है। प्रेम के स्वरूप का और अधिक वर्णन इस पुस्तक के आखरी अध्याय **''अभ्यास में प्रेम मार्ग व ज्ञान मार्ग का महत्त्व''** में किया गया है। यहां प्रेम की शक्ति को थोड़ा चित्रित करना इसलिए आवश्यक है ताकि यह जाना जा सके कि प्रेम के बिना सुन्न मण्डल में प्रवेश करना बहुत ही कठिन है। सुन्न मण्डल का ध्यान प्रेम की धार का

ही बाहरी स्तर का खिंचाव है।

इस मण्डल में शरीर के अन्दर हर समय कोई ना कोई हरकत या हलचल बनी रहती है। ध्यान से उठने के बाद भी मनुष्य ध्यान की उसी रोचकता का स्मरण करता रहता है। उसके शरीर में कुछ ना कुछ अनुभव चलता ही रहता है। शरीर में सरन-2 होती ही रहती है जैसे अधिक ताकत के बिजली के तारों में से बिजली का प्रवाह होने से होती है। कई बार तो ऐसा लगता है जैसे शरीर के अन्दर कोई मशीन सी चल रही है। ध्यान में सारे शरीर में तार या रस्से से खिंच जाते हैं जैसे मजबूत, मोटे, लम्बे तार ऊपर से नीचे तक खींच दिए गए हों। ध्यान में हाथ-पांव दर्द से फटने को हो जाते हैं। कभी-2 थोड़ा बहुत घुमाव महसूस होने लगता है, जैसे आगे या पीछे या गोलाई में हम घूम रहे हों, आकाश की तरफ उठ रहे हों। शरीर में कभी-2 चेतन ऊर्जा के करंट ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर की तरफ तेज गति से दौड़ने लगते हैं। शरीर की नसों में दौड़ रही प्राण शक्ति अब संकल्पहीन होने लगती है। ऐसा तभी होता है जब दिल से निकल रहे खून तथा प्राण-चेतना के ऊपर बंधन पड़ने लगता है। हृदय की चेतना ऊपर सिर की तरफ चढ़ने लगती है। नसों में खून का बहाव घटने की वजह से नसों तथा शरीर में दर्द महसूस होने लगता है। सुन्न मण्डल का ध्यान **'जीते-जी-मरने'** की आरम्भिक अवस्था है। यहां का ध्यान हृदय की अव्यवस्थित दिशाओं को नियंत्रित करता चला जाता है। इस मण्डल तक पहुंच होने के पश्चात मनुष्य को दिल का दौरा पड़ने की संभावना बहुत ही कम हो जाती है क्योंकि अब हृदय के अन्दर स्वयं ही खून की गति का नियंत्रण होने लग जाता है। ध्यान में शरीर में उसी तरह के लक्षण आने आरम्भ हो जाते हैं जिस तरह से धीरे-धीरे हृदय की गति कम होने से हाथ व पैरों में अकड़न, दर्द और संकुचन आरम्भ होने लगती है लेकिन ध्यान में ये सब अपनी इच्छा से किए जाते हैं ताकि हृदय तथा मस्तिष्क की गति पकड़ में लाई जा सके

और सारे शरीर की चेतना को इकट्ठा कर ऐसा चेतनघन बनाया जा सके जिससे इच्छा शक्ति बढ़ती जाती है और संकल्पमात्र तथा इच्छा करने से ही कार्य अपने आप सिद्ध होने लगते हैं और परमात्मा की शक्ति ऐसे साधक के अन्दर से इस जगत में कार्य करने लगती है क्योंकि परमात्मा भी चेतनघन होकर आत्मिक मण्डलों में विराजमान रहता है और ऐसे साधक की सुरत (आत्मा) भी हर समय इन मण्डलों की शक्ति के साथ लीन रहती है।

सुन्न मण्डल से नीचे के मण्डलों के अभ्यास में ध्यान से उठने के बाद शरीर में एक अनोखी ताजगी महसूस होती थी, विशेषकर आज्ञाचक्र व सहस्रार के ध्यान में। वहां पर ध्यान से उठने के बाद शरीर में एक मजबूती का अहसास होता था, ऐसा लगता था जैसे शरीर बहुत ही हल्का-फुल्का हो गया है और भारहीन हो गया है। योग शास्त्र में पतंजली मुनी ने इसे सिद्धि का नाम दिया है। इस ध्यान में मन का संकल्प बढ़ता था लेकिन सुन्न मण्डल के ध्यान में मन व शरीर के संकल्प टूटने लगते हैं। ध्यान से उठने के बाद शरीर में एक विशेष टूटन महसूस होती है, जिस तरह से कई बार मन में उदासी आने पर होती है, जबकि ध्यान में प्रकाश व शब्द की भरमार रहती है, अपार खुशी मिलती है, गहरी शान्ति मिलती है। मन में उदासी का नामों निशान नहीं होता है। यहां का व्यवहार दुनियां के व्यवहार से उल्टा शुरू हो जाता है। प्रेम का असली रूप यही है कि इसमें आत्मा का संबंध बढ़ता है तथा शरीर और मन अपने स्वरूप तथा संकल्पों को भूलकर आत्मिक रूप होने लगते हैं। तामसिक व राजसिक वृतियों को छोड़कर सात्विक होने लगते हैं तथा प्रेम के आनन्द में अपनी सत्ता के साथ समा जाना चाहते हैं जबकि दुनियां व इन्द्रियों के व्यवहार में शरीर व मन की मजबूती बढ़ती है। इनके संकल्प-विकल्प मजबूत होते हैं। आत्मा का परमात्मा के साथ योग कमजोर पड़ने लगता है। यही है आन्तरिक व बाहरी

व्यवहार में अन्तर।

आत्मा के इसी व्यवहार के कारण शास्त्रों में आत्मा के पांच कोष या आवरण कहे गए हैं: **अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय कोष।** इसी आधार पर आत्मा के पांच स्वरूप व नाम वर्णन किए गए हैं। अन्नमय पुरूष, प्राणमय पुरूष, मनोमय पुरूष, विज्ञानमय व आनन्दमय पुरूष। जब आत्मा अपना निज रूप छोड़कर पूरी तरह से भौतिक स्तर पर आ जाती है, तो उसे अन्नमय कहा जाता है। इसी तरह से जब यह इन्द्रियों व जीवन के स्थान पर प्राणों में शक्ति का संचार करती है तब इसे प्राणमय पुरूष कहा जाता है। जब मन व बुद्धि की दौड़ में शामिल हो जाती है तो मनोमय तथा जब आत्मा ज्योति स्वरूप होकर अपने स्थान पर सिमट कर आ जाती है तो विज्ञानमय और जब समाधिस्थ होकर वहां का आनन्द भोगने लगती है तो इसे आनन्दमय पुरूष कहा जाता है लेकिन इन्हीं कोषों को सुरत की मुक्ति में रूकावट का कारण भी माना गया है क्योंकि जब तक आत्मा के ऊपर से ये पांच कोष या आवरण नहीं उतरते हैं तब तक इसका दामन उजला नहीं होता है। यह सतपुरूष की चेतना में लीन नहीं हो पाती है और साधर्म मुक्ति की अधिकारी नहीं बन पाती है।

अत: सुन्न मण्डल में आकर सुरत के सूक्ष्म आवरण उतरने लगते हैं इसका दामन उजला होता जाता है। अब ध्यान में खिंचाव के साथ-साथ ठण्डक उतरने लगती है। शरीर बर्फ की तरह ठण्डा हो जाता है। जब अभ्यास में बैठते हैं तो शरीर में रस्से से खिंच जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे शरीर एक चमड़ी, मांस व हड्डियों के अन्दर बंधा हुआ अस्तित्व नहीं है, बल्कि खिंचे हुए रस्सों व तारों के सांचे के रूप में है। इस खिंचाव में खूब दर्द होता है। चांद, सूर्य, सितारों के गुच्छे के गुच्छे नजर आते हैं। ऐसे नजारे देखने को ज्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिए। यह तो यहां की रचना से संबंधित होते हैं। शुरू से आखिर तक अनेकों सौर

मण्डल आते हैं। अनेकों मन को लुभावने वाले दृष्य भी दिख जाते हैं। ऐसे में कोई देवी-देवता अवतार या संत महात्मा जो शरीर छोड़ कर जा चुके होते हैं या अब भी विद्यमान हैं, ध्यान या स्वप्नों में आ सकते हैं और अनेकों बातें बता सकते हैं जो सच्च भी हो सकती हैं लेकिन ऐसे किसी भी दृष्य की तरफ आकर्षित होने से हमारा ध्यान खण्डित हो सकता है। यह सब काल व माया का खेल होता है और साधक को अहंकार वश करके उसके ध्यान में रूकावट पैदा करता है। इसलिए **राधास्वामी पंथ** ऐसी किसी भी बात से सचेत करता है जो ध्यान के समय में सतगुरू के स्मरण व ख्याल से हटाए। अभ्यास में हमें केवल अपने **सतगुरू के स्वरूप** का ही ध्यान करना है। सतगुरू के गुरू अर्थात् दादा गुरू के दर्शन भी हमारा ध्यान खण्डित करते हैं क्योंकि जो संत-महात्मा शरीर छोड़कर जा चुके हैं, अब तो केवल उनकी रेडिएशन या विकिरण कार्य करती है। हमारे ख्याल की धार इस रेडिएशन से मिलकर उनका स्वरूप प्रकट कर लेती है, इसलिए ऐसे किसी भी दृष्य में ख्याल या मन लगाना अभ्यासी के लिए अच्छा नहीं है। इसका और अधिक वर्णन इस पुस्तक के दसवें अध्याय **''अभ्यास के विघ्न''** में किया जाएगा। **परम् संत ताराचन्द जी महाराज** नाम-दान देते समय और अपने सत्संगों में सत्संगियों को ऐसे खतरों से परिचित करवाते रहते थे। **परम् संत फकीर चन्द जी महाराज** और **महर्षि शिवव्रतलाल** ने भी अपने लेखों और सत्संगों में बार-बार ऐसी बातों का स्मरण कराया है। इसलिए ध्यान के समय यदि भगवान या अवतार भी किसी रूप में प्रकट होते हैं तो उसे भी भूल जाना चाहिए क्योंकि यह भी काल व माया का हमें ध्यान से भटकाने का एक प्रयास होता है या हमारी अपनी इच्छा का प्रतिबिम्ब होता है। **कबीर साहब** गुरू की महिमा का वर्णन करते हुए स्पष्ट कहते हैं:

गुरू गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरू देव की जिन गोविन्द दियो मिलाय।।

सुन्न मण्डल में प्रकाश अपनी पूरी आभा के साथ बना रहता है। प्रकाश का रंग लाली पर या नारंगी लाल होता है। त्रिकुटी के प्रकाश से और भी गाढ़ा व लाल हो जाता है तथा गति भी लगातार बनी रहती है। झरने की तरह अपने प्रवाह में स्वत: ही बहता रहता है। जब अभ्यासी एकाग्रचित होकर प्रकाश की तरफ देखने लगता है तो उसमें अन्दर ही अन्दर खिंचने लगता है। सुरत की चेतना इस प्रकाश के घुमाव तथा बहाव के साथ उसी का रूप बनकर उसमें समाने लगती है। कुछ ही क्षण में उसके मध्य में जा कर समा जाती है और ऐसे में होश गुम हो जाता है। ध्यान की जागृत अवस्था से हटकर अन्दर की तरफ चले जाते हैं जहां न होश है और न बेहोशी, केवल एक सुख है, आनन्द है, उन्मुन अवस्था है। इस अवस्था में जाने के बाद ऐसा लगता है जैसे किसी अनजाने और विशाल आनन्द व मस्ती के भण्डार में डुबकी लगा कर आए हैं।

हर समय सुरत का रूझान ऊपर की तरह बना रहता है। दूसरे काम करते हुए भी अभ्यासी का ख्याल उसी तरफ खिंचा रहता है और सतगुरू-मुर्शिद का प्रेम हृदय में हिलोरें मारता रहता है। ऐसा अभ्यासी हर वक्त सतगुरू के नूरी स्वरूप में समाया रहता है। वह चलता-फिरता नूर बन जाता है। सुरत के सिमटाव की प्रक्रिया हर समय बनी रहती है। जब रात को सोते समय बीच में आंखें खुलती हैं तो भी शरीर में कोई ना कोई हरकत चलती रहती है। शरीर में सरन-सरन व चस-चस होती रहती है। कई बार तो यह बहुत ही ज्यादा हो जाती है। रात के समय जब आंखें खुलती हैं तो अंधेरे कमरे में आंख खुले हुए भी प्रकाश उसी आभा के साथ आता-जाता व घूमता हुआ दिखता रहता है। आंख बंद करने के बाद भी अभ्यासी सतगुरू के इस नूरी स्वरूप का दर्शन करता रहता है। सतगुरू -मुर्शिद में जितना अधिक प्रेम बढ़ता जाता है उतना ही प्रकाश व शब्द भी बढ़ते ही जाते हैं। अभ्यास में सतगुरू प्रेम तथा नाम

स्मरण सौ दवाओं की एक दवा है जो अभ्यास को किसी भी मण्डल पर रूकने नहीं देती ।

इस मण्डल की शब्द-धुन भी ऊंची व पतली आवाज में दाएं कान की तरफ से सुनती रहती है। यहां पर सारंगी व किंगरी की धुन भी सुनती रहती है लेकिन मुख्य रूप से पहले वाली धुन ही गूंजती रहती है। प्रकाश के बढ़ने के साथ-साथ शब्द-धुन अपने आप ही बढ़ती जाती है। ऊंचे ध्यान की यह अवस्था महाचेतन के विशाल शरीरधारी स्रोत सतगुरू की दात है। सतगुरू या अपने इष्ट की समय-समय पर चर्चा करने से ध्यान में और भी मजबूती होती चली जाती है। कोई शरीरधारी शब्द-भेदी सतगुरू का संग ही इस अवस्था तक पहुंचा सकता है क्योंकि ऐसे गुरू में ऊंचे से ऊंचे महाचेतन मण्डल की धार प्रकट रूप में विराजमान रहती है। कोई पत्थर से बनी मूर्ति या पिछले गुरू का ध्यान या ग्रन्थों को गुरू मानने से या निराकार या आकाश या सर्वदेशीय का ध्यान करने से यह अवस्था कभी प्राप्त नहीं हो सकती है क्योंकि इनके अन्दर सामान्य चेतन की धार है। ब्रह्मण्ड के विशेष चेतन और सच्चखण्ड के महाचेतन की धार नहीं होती है। ये धार इस रचना की किसी भी कृति में विद्यमान नहीं हैं, केवल शब्द-स्वरूपी शरीरधारी सतगुरू में ही हर समय इन धारों (अर्थात् विशेष चेतन और महाचेतन की धार) का अवतरण लगातार होता रहता है क्योंकि ऐसे गुरू ध्यान द्वारा उन मण्डलों की ताकत में लीन रहते हैं। इस स्थूल रचना का सारा कार्य सामान्य चेतना के स्तर से चल रहा है, इसमें विशेष चेतन और महाचेतन की धार मौजूद नहीं रहती है। इसलिए राधास्वामी पंथ में पंचतत्व से निर्मित शरीरधारी सतगुरू का ध्यान ही श्रेष्ठ माना गया है। अत: राधास्वामी पंथ असली रहस्य तक पहुंचाने का साधन-योग है, किसी को गुमराह करने या लूटने का नहीं। यह करणी का मार्ग है, कथनी का नहीं। इसी कारण इस पंथ में सभी मंजिलों का भेद पहले ही खोल दिया गया है।

ध्यान में हाथ, पैर, बाजू, पंजों में खिंचाव व दर्द बढ़ता ही जाता है। कभी-कभी यह खिंचाव शान्त होकर शीतलता में बदल जाता है। हाथ व पैर बर्फ की तरह ठण्डे हो जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे ठण्डी फुवारें शरीर को छू रही हों। कभी-कभी एक या दोनों हाथ व बाजू अचानक फड़क जाते हैं जैसे उनमें अचानक कोई करंट की धार आ गई हो। खिंचाव मुख्य तौर पर हाथ व पैरों तक ही सीमित रहता है लेकिन कभी-कभी यह खिंचाव ऊपर कमर और सिर तक भी जा सकता है। हाथ-पैरों में पहले मजबूत रस्से खिंच जाते हैं फिर वे बर्फ की तरह शीतल हो जाते हैं और सुन्न होकर बेजान हो जाते हैं। कुछ समय तक ऐसा होने के बाद खिंचाव की दूसरी अवस्था आरम्भ होती है। इस अवस्था में हाथ व पैरों की उंगलियां सुन्न होकर अपने आप मुड़ने लगती हैं जिस तरह से मृत्यु के समय सुरत की धार खिंचने से होती हैं। ये उंगलियां सुन्न होकर मिट्टी की तरह बेजान हो जाती हैं। ध्यान से आंखें खोलने के कुछ समय बाद ही ये अपनी पहली अवस्था में आ जाती हैं अब खिंचाव और दर्द ऊपर की तरफ बढ़ने लगता है। उंगलियों से ऊपर कलाई में और पैरों में घुटनों (गोड़ों) तक बहुत ही चीरने वाला दर्द होता है और यह दर्द ऊपर भी पूरे हाथ व पैर में फैलने लगता है। यह दर्द इतना असहनीय होता है कि कोई बिरला ही इस दर्द को सहन करके स्थिरता के साथ बैठा रह सकता है। ध्यान की पहली अवस्था में यह दर्द घंटा या ज्यादा समय में शूरू होता था लेकिन ध्यान की अग्रिम अवस्था में यह 5-10 मिनट के अन्दर होना शुरू हो जाता है और कोई दृढ़ संकल्प व्यक्ति ही लगातार एक ही स्थिर आसन पर एक या सवा घंटा निकाल सकता है। फिर भी यदि दर्द सहन न हो तो ध्यान से उठ जाना चाहिए और फिर कुछ देर बाद घूमते-2 स्मरण करें और फिर ध्यान में बैठ जाएं। इस तरह से ध्यान में सुरत का खिंचाव और सिमटाव आगे बढ़ता जाता है। इस प्रकार पहले पांव घुटनों (गोड़ों) तक सुन्न होते हैं, फिर दर्द

ऊपर बढ़ने लगता है। हर दर्द के बाद शीतलता की लहर ऊपर से आती है और उन अंगों को बर्फ की तरह ठण्डा बना जाती है जिससे उन अंगों में होने वाला दर्द भी पूरी तरह से शान्त हो जाता है और इस तरह साधक ऊपर की ताकत को अपने शरीर में उतारता चला जाता है जो नीचे की चेतना के रूपान्तरण के लिए बहुत ही आवश्यक है तथा यह प्रक्रिया स्वत: ही होती चली जाती है। इसे उतारने के लिए कोई जोर जबरदस्ती नहीं चलती है। चेतना का सिमटाव नीचे से ऊपर की तरफ तथा प्रकाश, शब्द, शीतलता व अमृत का बहाव ऊपर से नीचे की तरफ अपने आप ही बहता रहता है और नीचे के अंगों की चेतना अमृतपान करके तृप्त होती हुई रूपान्तरित होती चलती है, इसमें धीरे-2 ऊपर से परिपूर्णता भरती हुई चलती है। दर्द व खिंचाव शान्त होता चलता है। यहां के फव्वारों की शीतलता को मानसरोवर, त्रिवेणी और अमृतसरोवर का स्नान कहा गया है। कुछ महात्माओं ने इसे मुक्ति-धाम भी कहा है।

ध्यान में लाल प्रकाश की अधिकता होती है। आंख बंद करते ही प्रकाश दिखने लगता है, उसे देखते हुए गुम से हो जाते हैं और ऐसा लगता है जैसे हम प्रकाश के साथ ही घूम रहे हैं, प्रकाश के साथ-2 चल रहे हैं। यह अवस्था आगे जाकर सुरत को प्रकाश के मध्य में खींच लेती है और सुरत इसमें कुछ देर के लिए समा जाती है। यह होश और बेहोशी के बीच की अवस्था होती है। यहां पर सूर्य, चांद और सितारे दिखते हैं तो वे भी लाल होते हैं जिस तरह से निकलते समय और छिपते समय सूर्य का रंग होता है। यहां के दृश्य बहुत ही मनमोहक होते हैं। समय-2 पर चेतन ध्यान अवस्था में ऊपर की तरफ उड़ने लगते हैं और अनेकों प्रकाश के मण्डलों को पार करते हुए ऊपर उठते ही चले जाते हैं। कभी-2 सतगुरू अपने साकार रूप में साथ-2 चलते हैं। किसी मण्डल की सीमा पर जाकर यदि साधक रूक जाता है तो वे अपनी ताकत का सहारा देकर उसे ऊपर ले जाते हैं। इसलिए इस मण्डल के खिंचाव के

दर्द के साथ-2 असीम खुशी व आनन्द भी है जो सुरत को तृप्त करता रहता है। यही है रारंग पुरूष का निज-धाम।

ध्यान की इस अवस्था का वर्णन कबीर साहब और राधास्वामी योग की वाणियों के सिवाय कहीं नहीं मिलता है। यहां तक की पहुंच का अनुभव साधारण अनुभव नहीं है, कोई विरला संत-महात्मा ही इस अवस्था तक पहुंच सकता है। अभ्यास की इस अवस्था का वर्णन हुजूर सालिगराम जी महाराज ''जुगत-प्रकाश राधास्वामी'' में करते हैं। यह पुस्तक हुजूर महाराज के ध्यान संबंधी प्रवचनों में से निकालकर लिखी गई है। राधास्वामी मत की पुस्तकों में केवल यही एक पुस्तक ऐसी है जिसे गैर सत्संगी को देना या पढ़ाने की मनाही की गई है। ये चेतावनी इस पुस्तक के सबसे पहले पृष्ठ पर लिख दी गई है। हुजूर महाराज सुन्न मण्डल की अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं :

''आहिस्ता-2 जिस कदर बर्दाश्त होवे, चढ़ाई करें और जब ऐसा होवे की ब-सबब ज्यादा चढ़ाई के दिल तड़फने लगे तो जितने दर्जे बर्दाश्त होवें, अभ्यास जारी रखें और जब ऐसी हालत दिल की बरदाश्त न होवे तो उस वक्त अभ्यास छोड़ देवें या जो खुद-ब-खुद खिंचाव ज्यादा मालूम होता होवे और उसकी बरदाश्त न कर सकें या कुछ तकलीफ या खौफ मालूम होवे तो भी उस वक्त अभ्यास छोड़ कर उठ खड़ा होवे और फिर थोड़े अरसे बाद अभ्यास करें ताकि आहिस्ता-2 उस हालत की बरदाश्त हो जावे और बाद अभ्यास के कुछ काम काज भी करता रहे जिससे बदन और इन्द्रियां शिथिल और सुस्त न होने पावें''। फिर अगले वचन (168) में लिखते हैं , ''जो किसी अभ्यासी का वक्त ध्यान या भजन के कोई हिस्सा बदन का सुन्न यानि सुस्त या बेकार हो जावे तो जानना चाहिए कि उससे अभ्यास दुरस्त बनता है। ऐसी हालत को देखकर खौफ और वहम न करना चाहिए। बाद अभ्यास के आहिस्तगी के साथ उठ कर दस-पांच मिनट चहल-कदमी करे,

सुस्ती बदन की रफा हो जावेगी''। वचन 78 व 79 में फिर लिखा गया है , ''मालूम होवे कि दर्द पिण्डलियों में इस सबब से पैदा होता है कि सुरत की धार का सिमटाव और खिंचाव ऊपर की तरफ होता है अब जब इस तरह सुरत पिण्डलियों में से खिंचती है तब रगें उसके वास्ते तड़फती हैं सो आहिस्ता-2 उनको सुरत की धार के थोड़े बहुत खिंचाव की आवश्यकता होती जावेगी और तब दर्द भी कम होता जावेगा और कोई तकलीफ अभ्यास में नहीं मालूम होगी। कभी-2 ऐसा होता है कि भजन का अभ्यास करते-2 हाथ और बाहें और पिण्डलियां और पैर सुन्न हो जाते हैं यानि किसी कदर बेकार हो जाते हैं और कभी उंगलियां सुन्न होकर छूट जाती हैं। जब भजन कर चुके, तब थोड़ी देर हाथ और पैर फैलाकर खाली बैठें, और फिर उठकर थोड़ी देर टहलें तो सब अंग ब-दस्तूर हो जावेंगे''।

'चाचा साहब की डायरी' जिसमें संतो के वचन संग्रह किए गए हैं, लिखा गया है, '' इस मन और सुरत के सिमटाव में तन और मन पर क्या गुजरती है इसको हर शक्स नहीं जानता। दशमें द्वार की जंतरी में से जब सुरत रूपी बारीक तार निकलेगा तब मन टूटेगा और मन अकुलाएगा। उस तकलीफ को बरदाश्त करना निहायत मुश्किल काम है। सच्ची चाह वाला ही बरदाश्त कर सकता है''।

संत मत और राधास्वामी पंथ के दूसरे संतों ने भी इस अवस्था का वर्णन अनेक स्थानों पर किया है और अपने सत्संगों में ऐसा वर्णन अकसर करते रहते हैं।

कबीर साहब यहां की रचना का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

आगे सेत सुन्न है भाई,
मानसरोवर पैठी अन्हाई।
हंसन मिल हंसा होई जाई,
मिलै जो अमीं अहारा है।।

किंगरी सारंग बजै सितारा,
अक्षर ब्रह्म सुन्न दरबारा।
द्वादश भानू हंस उजियारा,
षटदल कंवल मंझार शब्द ररंकारा है।।

गुरू नानक कहते हैं :

इस किंगरी धिआनू न लागै, जोगी ना सचु पलै पाई।
विणु बजाई किंगुरी बाजै जोगी सा किंगुरी बजाई।
कहै नानक सुतति होवहि जोगी साचे रहहि समाई।।

परमानन्द महाराज कहते हैं :

द्वादश गुण प्रकाश यहां का, त्रिकुटी से सुन्न में आई।
रूपवन्त देवों से मिलकर, सिन्धु सिखर जा न्हाई।
महासुन्न की छवि कोई, कहो सके कैसे गाई।
मानसरोवर अमृत धारा, आनन्द की नदियां पाई।
सारंगी सितार बजे हैं, श्रुति शब्द में ठहराई।
सूर्य कान्त की भूमि घनी, वहां अमृत रस बरसे पानी।
सातों रंग निरखता यहां पर हो जावे पूर्ण ज्ञानी।

संतों ने इस अवस्था को मानसरोवर, त्रिवेणी, सिन्धु सरोवर आदि नामों से पुकारा है। जहां स्नान करने से सुरत को शीतलता मिलती है, ठण्डक की अनुभूति होती है। सुरत की सारी अकुलाहट मिट जाती है। इसे अमृतसर या अर्मी सरोवर भी कहा जाता है जहां सुरत अमृत पान करती है।

महाराज सांवन सिंह जी इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहते है, ''त्रिकुटी से ऊपर सेत सुन्न है। ब्रह्म की चोटी और परब्रह्म के नीचे का जो भाग है उसको 'सेत सुन्न' कहते हैं। वहां एक सरोवर है जिसे अमृतसर या त्रिवेणी भी कहते हैं।''

स्वामी जी महाराज इस मंजिल का वर्णन करते हुए लिखते हैं :

अब चली तीसर पर्दा खोल।
सुन्न मण्डल का सुन लिया बोल।।
दसवां द्वार तेज परकाश।
छोड़े नीचे गगन आकाश।।
मान सरोवर किये अश्नान।
हंस मण्डली जाय समान।।
सुन्न शिखर चढ़ी सुरत घूम।
किंगरी सारंगी डाली घूम।।
सुन सुन सुरत हो गई सार।
पहुंची जाय त्रिवेणी पार।।

स्वामी जी महाराज फरमाते हैं कि सुन्न मण्डल में सुरत दसवें द्वार में से निकलती है जहां बहुत तेज प्रकाश है। यहां पर सुरत मानसरोवर में स्नान करके आनन्दित हो उठती है और उसकी हंस गति हो जाती है। सुरत घूम-2 कर सुन्न के शिखर पर चढ़ जाती है जहां किंगरी और सारंगी का संगीत बजता रहता है।

महासुन्न

सुन्न मण्डल के ध्यान में शरीर में चेतना का खिंचाव और सिमटाव बढ़ता जाता है। हाथ व पैरों की रग-रग खिंचने लगती है। परिणाम यह होता है कि पहले तो सारे शरीर, हाथ, बाजू, पैर आदि में रस्से से खिंच जाते हैं और धीरे-धीरे दर्द बढ़ने लगता है। हाथ व पैर की चेतना इतनी खिंच जाती है कि वे दर्द से फटने को हो जाते हैं। फिर ऊपर से ऐसी शीतलता आती है कि सारा दर्द गायब हो जाता है और दर्द वाले हिस्से ठण्ड़े पड़कर मिट्टी की तरह सुन्न पड़ जाते हैं। संत-महात्माओं ने ठण्डक के इस अनुभव को मानसरोवर, त्रिवेणी और अमृतसरोवर का स्नान कहा है। इसे ही मुक्ति धाम कहा गया है क्योंकि मानसरोवर में स्नान करने से सुरत के कर्मों के सभी बीज जल जाते हैं और उसमें शीतलता आ जाती है। इसके बाद खिंचाव में हाथ व पैरों की उंगलियां ध्यान में खींच कर मुड़ने लगती हैं, उनकी चेतना अन्दर की तरफ खिंचने लगती है तथा खिंचकर सुन्न हो जाती हैं और ध्यान से उठने के कुछ देर बाद ही अपनी पहली वाली अवस्था में आती हैं। इसलिए आंखें खोलने के पश्चात साधक को थोड़ी देर आराम से पैर फैलाकर बैठ जाना चाहिए। इसी सिलसिले में कुछ दिन ध्यान करने के बाद चेतना का खिंचाव हाथों की कलाई और पिण्डलियों की तरफ चढ़ने लगता है। इससे कभी गोड़ों तक, कभी पूरे पैर ही सुन्न होकर ठण्डे हो जाते हैं। इस तरह की हालत तथा दर्द उस समय भी बढ़ जाते हैं जब साधक बिना ध्यान भी स्थिर आसन में बैठकर अपने सतगुरू की चर्चा करता है या उनकी कोई प्रेम की वाणी पढ़ता है या दूसरों से सुनता है। ध्यान की यह ऐसी प्रक्रिया है जो अपने आप ही चलती रहती है।

अब महासुन्न में आकर एक बार फिर साधक का ध्यान रूक जाता है। स्मरण से भी ऊपर नहीं उठ पाता है। कहने का अभिप्राय यह

है कि इसे रूका हुआ ध्यान भी नहीं कह सकते। अभ्यास की उन्नति या चेतना की चढ़ाई बहुत ही धीरे-2 बढ़ती हुई प्रतीत होती है। यह मंजिल ही ऐसी है कि इसका विस्तार बहुत ही विशाल है। यहां पर परा-प्रकृति या परमात्मा अपनी मूल अवस्था में विद्यमान है। यहां ब्रह्मण्ड की चोटी पर विराजमान सोहम् पुरूष की शक्ति सुषुप्त अवस्था में अर्थात् अव्यक्त व अगति की अवस्था में विद्यमान रहती है। अभ्यासी जब ध्यान में बैठता है तो शरीर के किसी भी अंग में कोई दर्द नहीं रहता है। पैरों व हाथों में तार या रस्से से खिंच जाते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उनमें दर्द नहीं रहता है और एक तरह से शान्ति उतरने लगती है। ऐसा लगता है जैसे सुरत अगले मण्डल के खिंचाव और सिमटाव के लिए शरीर व मन को तैयार कर रही है और सुन्न मण्डल तक की अनुभूति को नीचे की चेतना में पूरी तरह उतारते हुए उन्हें रूपान्तरण करने के लिए समय दे रही है। सुन्न मण्डल में हर बार ध्यान अगली अवस्था में प्रवेश करता था लेकिन यहां पर एक जगह आकर रूक जाता है। कभी-2 ध्यान में या सतगुरू चर्चा में पूरे पैर ऊपर तक सुन्न हो जाते हैं तथा बर्फ की तरह ठण्डे हो जाते हैं। ऐसी अवस्था तब भी आ जाती है जब कोई विरह पैदा करने वाली या सतगुरू में प्रेम बढ़ाने वाली पुस्तक पढ़ते हैं या ऐसे विषय पर चर्चा करते हैं। रात को आंख खुलती है तो भी कभी-2 हाथ व पैरों की यह हालत हुई मिलती है। इस अवस्था में हाथ-पैर उठाने से उठते नहीं हैं, उन्हें सही हालत में लाने के लिए कुछ समय लगता है। ऐसी हालत मुख्य तौर पर पैरों में होती है, कभी-2 हाथों में भी हो जाती है।

महासुन्न का मण्डल पार करने के लिए अभ्यासी को बहुत समय लग सकता है लेकिन समय का लगना तो मनुष्य के प्रेम और सतगुरू से मिलन के विरह पर निर्भर करता है। इसी मंजिल पर सालों या पूरा जीवन भी लग सकता है और यदि साधक परमपिता के प्रेम की

दौलत से भरपूर है तो थोड़े दिनों में भी इसे पार किया जा सकता है।

यह मण्डल घोर अंधकार की घाटी है जिसे अनेक संतों ने खतरनाक व राक्षसी ताकतों का किला भी कहा है। यहां से निकल पाना बहुत की कठिन कार्य है। यहां के अंधकार में केवल शब्द ही ऐसा साधन है जिसे पकड़ कर ऊपर चढ़ा जा सकता है। इस शब्द में कोई धुन नहीं है लेकिन शब्द इतना कमजोर भी नहीं है जितना कि आज्ञा चक्र से ऊपर और सहस्रार से ऊपर पड़ने वाले अंधकार के शून्य मण्डलों में था। यहां तक हर प्रकाश के मण्डल के बाद अंधकार की रात्रि आती है। वह रात्रि कहीं पर अधिक और कहीं पर कम समय के लिए होती है लेकिन महासुन्न की रात्रि सुरत के चढ़ाव के लिए बहुत ही कठिन है। इसे पार करने के बाद आगे दूसरी ही तरह की रचना का द्वार खुलता है जहां सतों की सदा दिवाली रहती है। सदा रहने वाला प्रकाश है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि जहां तक प्रकाश और अंधकार की आंख-मिचौनी है, वहां तक चेतना में अस्थिरता है, चंचलता है, मन व काल की पहुंच है, लय और प्रलय की अवस्था है, कार्य-कारण का अस्तित्व है। जब प्रकाश का मण्डल आता है तो आत्मा प्रकाश में खेलती है और यदि अंधकार का मण्डल है तो आत्मा अंधकार की रात्रि में प्रकाश की खोज करती हुई भटकती फिरती है। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि सच्चखण्ड में सदा दीवाली है या सदा रहने वाला दिवस है तो यहां भी रात्रि का अस्तित्व होना चाहिए क्योंकि पीछे लिखा गया है कि जहां दिन का चढ़ाव है वहीं रात्रि का भी पसारा है। जहां प्रकाश है वहीं अधंकार का होना भी अति आवश्यक है लेकिन सच्चखण्ड में जाकर ऐसा नहीं हैं क्योंकि दिन रात का अस्तित्व या प्रकाश-अंधकार का अस्तित्व वहीं तक रहता है जहां तक साकार रचना का विस्तार है। सूर्य, चन्द्रमा या सितारे मौजूद हैं। जहां इनकी मौजूदगी समाप्त हो जाती है वहां दिन-रात की आंख-मिचौनी भी बन्द हो जाती

है। सच्चखण्ड में निराकार रचना है, जिसमें सूर्य-चन्द्रमा नहीं हैं। बिना सूर्य का प्रकाश आंखों को चकाचौंध करता है। यह वह प्रकाश है जिसके एक रोम से ही अरबों-खरबों आकाशगंगाएँ, सूर्य, चांद व सितारे पल भर में पैदा हो सकते हैं। इसलिए यहां का नूर अखण्ड व अनन्त रचना का आदि है जो कभी लय-प्रलय में नहीं आता। अतः यहां अंधकार का अस्तित्व नहीं है, सदा रहने वाला दिवस है।

अन्नत रात्रि का अस्तित्व सबसे नीचे के स्तर पर अर्थात् भौतिक निश्चेतन और अचेतन में है। सच्चखण्ड में यदि सदा पूर्णमासी है तो यहां पर सदा अमावस्या है। यदि सच्चखण्ड में सदा रहने वाला महाचेतन पुरूष विद्यमान है तो उसके सबसे नीचे के विस्तार में वही पुरूष अपनी अचेतन अवस्था में अन्तः प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान को अपने अन्दर समेटे हुए सो रहा है। योगमाया और प्रकृति की शक्तियों ने इस अन्तर्ज्ञान को हमसे ओझल कर दिया है। सच्चखण्ड में यदि अनन्त प्रकाश है तो नीचे की भौतिक सत्ता में अनन्त रात्रि है। यही है वह रात्रि जिसके लगातार सम्पर्क के कारण हमारे जीवन और मन में अज्ञान समाया रहता है। भौतिक सत्ता की रात्रि में विराजमान अवचेतन और निश्चेतन में ही प्रकृति की जीवन लीला छुपी रहती है। यहीं के पिण्ड लोक में पुरूष-प्रकृति का अज्ञानमय व्यवहार क्रियाशील रहता है और सुरत आवागमन के चक्कर में फंसी रहती है। शारीरिक चेतना भौतिक चेतना का प्रतिनिधित्व करती है जिसे भौतिक चेतना का विकसित रूप कहा जा सकता है। भौतिक चेतना अपने एक विशेष नियम के अधीन काम करती है, उसे बदला नहीं जा सकता है। उदाहरण के तौर पर उचित वातावरण मिलते ही बीज का उगना, मिट्टी के कण द्वारा दूसरे कणों से पानी व तत्वों को खींचना या छोड़ना, शरीर का समय के साथ बढ़ना या एक विशेष समय के बाद उसका क्षोभ होना, भ्रुण का गर्भ में बढ़ना इत्यादि। इस नियम को तोड़ा नहीं जा सकता या इसे बदलना आसान

काम नहीं है। यह निचली प्रकृति का स्वत: संचालित नियम है। यही आत्मा का अन्नमय कोष है। भौतिक सत्ता के अन्दर जो नियम कार्य कर रहा है उसकी पूर्णता को चुनौती नहीं दी जा सकती है, यह अपने आप में अज्ञानता की पूर्णता है। इसलिए अचेतन के इस नियम की पालना में भी चेतनता का बीज विद्यमान रहता है जिसके कारण सृष्टि का कार्य क्रमबद्धता के साथ आगे बढ़ता रहता है। इसी नियम के अधीन सृष्टि की लय-प्रलय या उत्पत्ति की पुन: अभिव्यक्ति होती रहती है। इसी अचेतन प्रकृति में जीवन या शरीर में प्राण फूंकने वाला निश्चेतन या अर्धचेतन पुरूष भी छुपा रहता है, जो प्राण-चेतना का स्वामी है जिसे प्राणमय पुरूष या आत्मा का प्राणमय कोष कहा जाता है। इसी पुरूष के अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि की धार, जो इन्द्रियों को उद्वेलित करती रहती हैं, विराजमान रहती है। अचेतन और निश्चेतन का बहुत ही निकट का रिश्ता है। उदाहरण के तौर पर जब हमें गुस्सा आता है तो एक तलवार की धार जैसी शक्ति शरीर के अन्दर दौड़ने लगती है। एक अलग ही तरह की ऊर्जा या शक्ति निकल कर गुस्से के रूप में उभर आती है। यह कहां से आई? यह आत्मा का गुण तो नहीं है। आत्मा अचेतन या निश्चेतन को केवल जीवन प्रदान करने की शक्ति देती है। फिर ये फुहड़पन कहां से उभर कर प्रकट हुआ? अत: यही निश्चेतन पुरूष जीवनधार बन कर अचेतन में से निकल कर प्रकट हो जाता है। सबसे नीचे के स्तर की प्रकृति प्राण या जीवन बनकर प्रकट हो जाती है। अत: इसी अचेतन में निश्चेतन की आधारशीला छुपी रहती है। यही कारण है कि निश्चेतन की शक्ति प्रकृति के विस्तार का कार्य करती है, उसके फैलाव का कारण बनती है, आत्मा को अनेकवाद में फंसाती है और उसे भ्रमित करती है।

इसी अचेतन और निश्चेतन की संगत में रहने से हमारा मन, जो

सांसारिक व्यवहार में आत्मा का प्रतिनिधी है, इन्द्रियों में बहता रहता है और अपने असली लक्ष्य को भूल जाता है, केवल फैलना चाहता है। आत्मा का तीसरा कोष या आवरण मनोमयकोष है। यह पांच कोष की मध्य की अवस्था है। मन यदि नीचे की इन्द्रियों में चला जाता है तो प्राणमय बन जाता है और यदि आत्मिक हो जाता है तो ज्ञानमय और आनन्दमय हो जाता है। इसलिए इस शरीर, जीवन और मन को दिव्य बनाने के लिए यह जरूरी है कि हमारा शरीर प्रकाश और शब्द का परिपूर्ण स्रोत बन जाए। इनमें प्रकाश के बहाव तथा चेतना के उतार या चढ़ाव में कोई भी रूकावट नहीं आनी चाहिए और यह तब तक नहीं हो सकता जब तक हम प्रकाश व अंधकार के कर्म से आने वाले दिन व रात्रि में अटके रहेंगे। यह अधंकार क्या है? हमारी चेतना का एक अवस्था में रूकना है। चेतना पर अंकित कारण रूप संस्कार हैं जो इसे पूर्ण स्रोत नहीं बनने देते हैं। यह उसी तरह से है जैसे एक सैल, बैटरी या चुम्बक के अन्दर कोई ऐसे कण विद्यमान हों जो बिजली के बहाव में अवरोध पैदा करते हैं और उस बैटरी या चुम्बक को पूरी ताकत बनने से रोकते हैं। चेतना के ऊपर ऐसे कण संस्कार कहलाते हैं। इन्हीं संस्कारों के प्रभाव के कारण साधक ध्यान से कतराने लगता है, किसी न किसी तरह ध्यान से दूर हो जाता है। सतगुरू के प्रति भ्रम या संशय पैदा हो जाते हैं। एक बार यदि सतगुरू के प्रति संशय पैदा हो गए तो महासुन्न जैसे बिखमी घाटी के अंधकार से अभ्यासी जीवन भर नहीं निकल सकता है। महासुन्न के अंधकार को पार करना तो दूर, बंकनाल के अंधकार को पार करना भी बहुत कठिन कार्य है। इसलिए महासुन्न के अंधकार से उभरने के लिए सतगुरू के शब्द स्वरूप का सहारा लेना पड़ता है। यह शब्द परमात्मा की आवाज है जो ऊपर के मण्डलों से आ रही है और हर हालत में कभी धुन बनकर और कभी शब्द बनकर सुरत के साथ रहती है।

संतमत में महासुन्न परा-प्रकृति का कारण है जहां तक ब्रह्म व माया का सूक्ष्म पसारा है। यह माया सच्चखण्ड से नीचे तक सूक्ष्मतम रूप में विद्यमान रहती है। यहीं पर सारी रचना के बीज कारण रूप में सुषुप्ति की अवस्था में विद्यमान रहते हैं। जब महासुन्न तक की प्रलय होती है तो इसे महाप्रलय कहा जाता है। इससे ऊपर की रचना नाशवान नहीं है। जब सुरत सच्चखण्ड में चली जाती है तो सदा-सुहागिन बन जाती है। महासुन्न में कुल प्रकृति की लय अवस्था है अर्थात् शून्य अवस्था है। इसलिए ऋग्वेद में कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति से पहले अंधकार ही अंधकार था, अंधकार ही अंधकार को ढ़के हुए था। न सत्त था, न असत्त। इससे स्पष्ट है कि लय-प्रलय-महाप्रलय में प्रकृति अपने यहां तक के कारण रूप में समा जाती है।

अब इस महासुन्न में आकर सुरत ऐसी लय अवस्था प्राप्त करती है कि इसमें से निकलने का साधन इसे नजर नहीं आता। ध्यान में बैठते ही हाथ-पैरों में तार से खिंच जाते हैं। इनमें किसी तरह का दर्द नहीं होता है। कभी-2 ऊपर से ठण्डक की धार आती है और इसे शीतलता प्रदान कर जाती है। अभ्यास में बार-2 यही अनुभव होता रहता है। इस समय ध्यान में रूची भी कम हो सकती है। अत: इस अवस्था को पार करने के लिए शब्द-स्वरूपी सतगुरू का सहारा लेना पड़ता है, उनके विरह में तड़फना पड़ता है तभी जाकर सुरत इस मण्डल को पार कर पाती है।

इस मण्डल का वर्णन करते हुए परम् संत सांवन सिंह जी महाराज कहते हैं, ''इससे आगे महासुन्न का मण्डल है। महासुन्न वह स्थान है जहां पर निर्मल शुद्ध माया है और उस स्थान पर प्रभू की चेतन शक्ति (सत् शब्द) महा प्रबल रूप में है। यहां की रचना सुरत को अपनी ओर खींचती है। यहां पर गुरू का स्वरूप शिष्य की सुरत को सतलोक में ले जाता है, वह देह नहीं है अर्थात् शब्द-स्वरूप है जो अपने सेवक की सुरत को अपने में लीन करके उस मण्डल को पार करा देता है। जिनको आगे

का गुरू नहीं मिला, वहां ही रूके बैठे हैं। वे आगे नहीं जा सकते।''

कबीर-साहब कहते हैं :

महासुन्न सिन्ध बिखमी घाटी,
बिन सतगुरू पाते नहीं बाटी।
व्याघर सिंह सर्प बहु काटी,
तहँ सहज अचिंत्त पसारा है।
कर नैनों दीदार महल में प्यारा है

परमानन्द महाराज कहते हैं:

स्वयं प्रकाश रूप को लेकर, सुरति फिर आगे को चली।
योजन अरब गई ऊपर को, आगे मिल गई प्रेम गली।
दशों दिशा में घोर अंधेरा, मगन भई नहीं छली बली,
योजन खरब गई नीचे को, यहां से देखो सैर भली।
इस पद में दस मील अंधेरा, यहां से सुरति उल्टानी,
सातों रंग निखरता यहां पर हो जावे पूर्ण ज्ञानी।

स्वामी जी महाराज इस मण्डल का वर्णन करते हुए कहते हैं:

महासुन्न का नाका लीन्ह।
गुप्त भेद जाये लीन्हा चीन्ह।।
अन्ध घोर जहं भारी फेर।
सत्तर पालंग जा का घेर।।

सभी संत महात्माओं ने महासुन्न के मण्डल को घोर अंधकार का मण्डल कहा है। यहां पहुंच कर सुरत खरबों योजन नीचे चली जाती है। कबीर साहब ने इसे बहुत खतरनाक घाटी कहा है। जहां पर शेर, व्याघ और सर्पों की अधिकता होती है।

भंवर गुफा

शब्द ही एक ऐसी ताकत है जो हर मण्डल में सुरत के साथ रहती है। इसी शब्द ने सारी सृष्टि, अण्ड, पिण्ड, ब्रह्मण्ड की रचना की है। बाईबल कहती है कि आरम्भ में शब्द था, शब्द खुदा के साथ था, इसी शब्द ने सकल सृष्टि की रचना की। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां शब्द नहीं रहता। मस्तिष्क में विचार घूमते हैं तो भी शब्द होता है। विज्ञान कहता है कि गर्भ में पल रहा बच्चा माता के दिमाग में चल रहे विचारों से उत्पन्न शब्द को सुनता रहता है और उन विचारों का प्रभाव बच्चे के शरीर, मन और भावी जीवन पर पड़ता है। कोई भी स्थूल या सूक्ष्म गति शब्द अवश्य प्रकट करती है। गति शब्द विहीन नहीं हो सकती। प्रकाश में गति आती है तो शब्द होता है और ऐसी कोई जगह नहीं है जहां पर प्रकाश अधिकता या न्यूनता के साथ मौजूद नहीं रहता। अण्ड, पिण्ड, ब्रह्मण्ड का एक-2 भूगोलिय पिण्ड प्रकाश का ही रूपान्तरित स्वरूप है। मिट्टी के छोटे से कण, जिसे केवल सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखा जा सकता हो, यदि ऊर्जा में तबदील किया जाये तो वह भी प्रकाश की तरंग बन कर प्रकट होता है। महान वैज्ञानिक आईनस्टीन ने तो यह फार्मूला भी बता दिया है कि पिण्ड के कितने पदार्थ से कितनी ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। वह फार्मूला है $E=mc^2$, E का अर्थ है ऊर्जा, M का अर्थ है किसी भी पदार्थ का द्रव्यमान और C का अर्थ प्रकाश की गति जो तीन लाख किलोमीटर प्रति सैकिण्ड है अर्थात् पदार्थ के छोटे से अंश में भी अत्यधिक ऊर्जा समाई रहती है। कहने का अभिप्राय यही है कि सारा दृष्यमान या अदृष्यमान जगत प्रकाश की ही अभिव्यक्ति है और जहां भी प्रकाश की गति विद्यमान रहेगी वहीं पर शब्द का होना अति आवश्यक है। कोई भी गति शब्दविहीन नहीं हो सकती। यही कारण है कि अंधकार और शून्य मण्डल का भी अपना

शब्द होता है। अतः जब सुरत महासुन्न के घोर अंधकार में प्रवेश करती है तो उसे कुछ नजर नहीं आता, केवल एक शब्द की आवाज सुनती है। इसी शब्द का सहारा लेकर सुरत ऊपर के मण्डलों में आ सकती है। यदि साधक को इससे ऊपर के मण्डलों का ज्ञान नहीं है और वहीं तक का गुरू मिला है तो वह इस मण्डल से ऊपर नहीं जा सकता है। इसलिए शब्द-भेदी सतगुरू का साथ होना जरूरी है। यदि मकसद का ही पता नहीं है तो अभ्यासी के अन्दर अन्त तक उतनी जिज्ञासा, विरह और प्रेम नहीं रहते और वह ध्यान की किसी भी अवस्था को पूर्ण समझ लेता है तथा अधूरा रास्ता तय करके ही सन्तुष्ट हो जाता है।

महासुन्न से ऊपर भंवर गुफा का मण्डल आता है जिसका स्वामी सोहंग पुरूष है। यह सतलोक का द्वार है, नाका है। यह एक ऐसा हिंडोला है जो सुरत को बहुत प्यार व दुलार देता है और उसे आनन्द व मस्ती के हिंडोले में झुलाता रहता है। सुरत अपने यहां तक के अनुभव को याद करके हर्षाती रहती है। सुरत ने अपने आरम्भिक ध्यान में आज्ञाचक्र पर ठहर कर चित्तवृति का प्रत्याहार किया। लगातार अभ्यास से चित्तवृति को तीसरे तिल पर धारण (धारणा) करते-2 ध्यान और समाधि द्वारा चित्तवृति का निरोध किया। यहां पर आकर सुरत का अष्टांगिक व कुण्डलीनी योग पूरा हुआ। इस अभ्यास के दौरान सुरत ने आज्ञा चक्र से नीचे के पांच चक्रों की चेतना को तीसरे तिल पर इकट्ठा किया, फिर उसका समुह बनाया जिससे चेतना ताकत बनकर प्रकाश के रूप में प्रकट हो गई। उसके बाद सहस्त्रदल कंवल के स्थान पर, जिसे ब्रह्मरेन्द्र की चोटी कहा गया है, वहां के स्वामी ज्योति-निरंजन के साथ एकता स्थापित की और वहां के प्रकाश में स्नान करती-2 सुरत खुद भी उसी का स्वरूप बन गई। अब यदि सुरत को इससे ऊपर की सत्ता का ज्ञान नहीं है और ऊपर जाने के लिए सुरत में प्रेम और विरह नहीं है या इसी सच्चिदानन्द के स्वरूप में साधर्म मुक्ति प्राप्त करके

सन्तुष्ट हो गई है तो सहस्रार का पुरूष उसे ऊपर नहीं जाने देगा। अन्दर की चेष्टा, सतगुरू में विश्वास व प्रेम यदि सुरत में मौजूद हैं तो वह त्रिकुटी के ओंकार पुरूष (ओ३म्), जो त्रिलोकी का स्वामी है, दर्शन कर सकती है। त्रिकुटी का अस्तित्व अति उज्जवल है, महाप्रकाशवान है, 'हू-हू' की ऊंची आवाज उठ रही है जिसे मुस्लमान फकीरों ने अल्लाहू कह कर पुकारा है। जब सुरत इस धुन को सुन लेती है तो उसे अल्लाह या खुदा के दर्शन हो जाते हैं। यहां के ओंकार पुरूष के अनुभव को सुरत अपने अन्दर उतारकर आनन्द मग्न हो जाती है। तीन लोक की रचना के कारण अस्तित्व तक इसकी पहुंच हो जाती है। अब वह सुन्न मण्डल में प्रवेश करती है, इसका स्वामी रारंग पुरूष है। यहां की रचना बहुत ही मनमोहक है। इस मण्डल का अनुभव सुरत के लिए निराला होता है। यहां आकर जड़-चेतन की गांठ अर्थात् सूक्ष्म प्रकृति की सुरत के साथ गांठ खुलने लगती है। यहां पर निर्मल माया अपने सुक्ष्म स्वरूप में ब्रह्म की शक्ति के रूप में ब्रह्म के साथ विराजमान रहती है। यही संतमत का दशवां द्वार है जिसकी तंग गली में से निकलते समय सुरत के अंग-2 पर चोट लगने लगती है और वह अकुलाने लगती है। इसके दामन पर जमा जन्म-2 के संस्कार और संकल्प-विकल्प टूट-2 कर झड़ने लगते हैं और इसका दामन उजला व प्रकाशवान होता जाता है। सुन्न मण्डल के स्वामी रारंग पुरूष का महाप्रकाशित उज्जवल स्वरूप और उसका मीठा व मनमोहक संगीत सुरत को अमृत पिलाकर तृप्त कर देता है और सुरत उसके आंचल में समा कर धन्य हो जाती है लेकिन सुरत अपना मकसद याद करती हुई, नीचे के मण्डलों का अनुभव अपने अन्दर संचित करती हुई और नीचे की प्रकृति का रूपान्तरण करती हुई शब्द-स्वरूपी सतगुरू की गोद में बैठकर सभी मण्डलों को छोड़ती हुई महासुन्न के मण्डल में आ जाती है। महासुन्न में सुरत का पड़ाव बहुत लम्बा होता है। यह आन्तरिक सफर भी तय करती हुई सुरत

अब भंवर गुफा में आ जाती है।

सुरत ने अब तक जितने प्रकाश के मण्डल देखे थे, यह मण्डल सबसे अधिक उज्जवल, प्रकाशित और खिला हुआ है। सहस्रार, त्रिकुटी और सुन्न मण्डल की सत्ता इसके आगे रोम मात्र है। सुरत सोहंग पुरूष का यह स्वरूप देखकर अपने आप को भी भूलने लगती है तथा उसकी भंवर में फंसकर उसी के साथ-साथ उसकी गुफा में घूमने लगती है। घमरोली काटती हुई उसी के मध्य में आकर समाती रहती है। प्रकाश को देखते-2 उसी का रूप बनने लगती है और उसे देखती हुई अपने आपको भूलकर उसी में समाने लगती है। फिर कुछ क्षणों के लिए उसमें अपने आपको डूबो देती है। अपने आपको प्रकाश के बहाव से अलग नहीं रख पाती है। उसमें समाकर सोहम् स्वरूप बन जाती है।

यहां पर आकर एक साथ दो तरह के शब्द सुनने लगते हैं। एक तो ऊपरी स्तह पर दाई तरफ ऊंची व मनमोहक आवाज सुनाई देती है और फिर कुछ देर इसे सुनने के बाद अन्दर गहराई से एक प्यारी-2 सुरीली बांसुरी की आवाज निकलकर आती है। कुछ दिनों के अभ्यास से पहले वाली आवाज गुम होने लगती है और ध्यान में बैठते ही यह बांसुरी की आवाज सुनने लगती है। बिना ध्यान के एकान्त में बैठे हुए या घूमते हुए या काम करते हुए भी यह धुन सुनती रहती है। इस धुन को सुनकर सूरदास ने कहा था कि इस बांसुरी की आवाज पर कोटि कृष्ण लज्जित हैं। इस मण्डल का प्रकाश भी अपनी पूरी खिलावट में होता है लेकिन सुरत बार-2 इस प्रेमभरी बांसुरी की धुन को ही सुनना चाहती है तथा अपने आप ही इसकी तरफ खिंचती जाती है। अपने से अनजान हुई सी सुरत इस बांसुरी की धुन की तरंगो में व्याप्त होकर बहती रहती है। इस अनुभव को अपने जीवन में उतारकर आनन्द महसूस करती है।

यहां पर सुरत के खिंचाव और सिमटाव के दूसरे चरण की अगली अवस्था आरम्भ होती है। दूसरे चरण का ध्यान सुन्न मण्डल से

भंवर गुफा तक पूरा होता है। दूसरे चरण की अन्तिम मंजिल भंवर गुफा है। यहां से पहले तक की अवस्था में पूरे पैर ऊपर तक सुन्न हो जाते हैं तथा सुन्न होकर उनमें शीतलता की लहर उतरने लगती है और पैर बर्फ की तरह ठण्डे हो जाते हैं। पैरों तक की पूरी चेतना सिमट कर ऊपर तक आ जाती है। हाथों में ऊपर तक खिंचाव और दर्द बना रहता है। महासुन्न में आकर खिंचाव व दर्द शांत हो जाता है। अब भंवर गुफा में आकर एक बार फिर खिंचाव और दर्द बढ़ने लगता है। यह दर्द मूलाधार चक्र से ऊपर कमर में चढ़ना शुरू हो जाता है तथा गुदा चक्र से नीचे भी गोड़ों तक बहुत दर्द होने लगता है। तागड़ी के पास से कुछ ऊपर की तरफ चढ़ता हुआ महसूस होता है। कभी-2 सिर में रस्से से खिंचने लगते हैं। समय-2 पर उसी तरह शीतलता की लहर आकर शरीर व सिर में समाती रहती है और इन्हें आनन्द से तृप्त करती रहती है। इस तरह से शारीरिक, प्राणिक व मानसिक चेतना के पुराने संस्कारों व स्वभाव का किला टूटता चला जाता है। शरीर, जीवन, मन, बुद्धि में अन्तर्ज्ञान व विवेक की धार समाती चली जाती है और नई चेतना के समावेश से इनका रूपान्तरण होता जाता है लेकिन यह धीरे-धीरे चलने वाली क्रिया है जो स्वत: ही आगे बढ़ती रहती है। इसलिए सुरत-शब्द योग को सहज-योग कहा गया है जिसे बच्चे से लेकर बूढ़े तक आसानी से कर सकते हैं। साधक के अन्दर नई व ऊंची ताकत की चेतना के अवतरण से उसे चारों ओर के वातावरण में तबदीली महसूस होने लगती है। साधक के सम्पर्क में जो भी मनुष्य रहते हैं, उनके अन्दर भी रेडिएसन द्वारा नई चेतना का प्रवेश होने लगता है। धीरे-2 अभ्यासी देखता है कि उसके चारों ओर के वातावरण की संयुक्त चेतना भी दिव्यता प्राप्त करने लगती है। यह प्रक्रिया धीरे-2 चलती है लेकिन स्थायी होती है और इसमें चुम्बक जैसा प्रभाव उत्पन्न होने लगता है। एक नई व्यवस्था नए स्वरूप में आने के लिए प्रयत्नशील होने लगती है। इसके लिए

अभ्यासी को अपनी तरफ से कोई विशेष प्रयत्न करने की या जिम्मेदारी उठाने की कतई आवश्यकता नहीं है, ऐसा करने से उसका अहंकार उसकी सुरत के आरोहण को अवरूद्ध कर देगा और साधक वहीं पर रूक जाएगा। अत: साधक के चारों तरफ एक सामुहिक परिवर्तन या रूपान्तरण की लहर उठने लगती है और यह रूपान्तरण तभी तक जारी रहता है जब तब ऊंची ताकत का महाचेतन स्रोत सामाजिक चेतना के मध्य में शरीर धारण किए हुए विराजमान रहता है। उसके बाद परिवर्तन की यह प्रक्रिया ठण्डी पड़ने लगती है और धीरे-2 अनेकों स्वार्थी लोग उस व्यवस्था में आने से उसका असली स्वरूप और लक्ष्य भूल जाते हैं। यही कारण है कि कबीर साहब द्वारा बताया गया सुरत-शब्द योग कबीर के अनुयायी मतों से लगभग लुप्त हो चुका है। इसी तरह से दूसरे धर्म और मजहबों का हाल है। कोई भी धर्म तभी तक जीवित रहता है जब तक रास्ते का पूर्ण भेदी व जानकार विद्यमान रहता है। उसके जाते ही वह धर्म कर्मकाण्डी बनकर उसकी मूर्ति की पूजा करने लगता है और धीरे-2 अध्यात्म के खोजी व्यक्तियों के लिए रूकावट का साधन बन जाता है। इसी कारण राधास्वामी मत जिन्दा मत है जहां वक्त के संत सतगुरू की महिमा को स्वीकारा गया है। राधास्वामी मत के प्रर्वतक स्वामी जी महाराज ने 'सार वचन राधास्वामी' में स्पष्ट लिखा है कि वक्त का संत सतगुरू ही मनुष्य को भव सागर से पार लगा सकता है, इसके बगैर कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इसलिए भौतिक चेतना के रूपान्तरण के लिए परम पुरूष का जीवित शरीरधारी स्रोत इस पृथ्वी पर मौजूद रहना अति आवश्यक है, वरना परिवर्तन का यह कार्य केवल एक स्वप्न बनकर रह जाएगा। इसके बिना चेतना का यह उत्थान केवल बौद्धिक स्तर पर लाया जा सकता है। बौद्धिक स्तर पर लाया गया बदलाव संसार के लिए विनाश का कारण भी बन सकता है। सतगुरू के अन्दर विशेष चेतना का भण्डार होता है, जिस तरह से हर कण और

वस्तु में अग्नि छुपी रहती है लेकिन अग्नि का काम नहीं लिया जा सकता, यह अग्नि की सामान्य ऊर्जा का स्तर है लेकिन यदि इसी छुपी हुई अग्नि को प्रकट कर लिया जाए तो इससे बड़े-बड़े कारखाने और यंत्र चलाए जा सकते हैं और रूके हुए जीवन की प्राणशक्ति बनाया जा सकता है, यही है अग्नि की विशेष चेतना का स्तर और जब इसी अग्नि से बिजली की शक्ति पैदा कर ली जाए तो यह है अग्नि की महाचेतना का स्तर। अत: सतगुरू के अन्दर सच्चखण्ड के महाचेतन और ब्रह्म के विशेष चेतन की धार सजीव बनकर बहती रहती है। सीधे तौर पर उसका लाभ उठाया जा सकता है। लेकिन यदि गुरू के अन्दर सच्चखण्ड से नीचे के मण्डलों की धार है तो इस रूपान्तरण की तैयारी में वह धार मदद अवश्य कर सकती है लेकिन इस रूपान्तरण के कार्य को पूर्णत: सम्पन्न नहीं किया जा सकता है। यदि हम उन देवताओं या गुरूजनों की उपासना करते हैं जो इस संसार को छोड़कर अपने धाम में जा चुके हैं तो यह उसी तरह से है जैसे हम पुराने समय के गुजरे हुए विश्वविख्यात वैद्य से बिमारी का इलाज करवाएं या गुजरे हुए पति से औलाद पैदा करने की इच्छा रखें। गुरू के शरीर छोड़ने के बाद वह उस मण्डल की चेतना में जाकर समा जाते हैं जहां तक की चढ़ाई उन्होंने अपने जीवनकाल में की होती है। गुजरे हुए वैद्य, पति या राजा अपने समय में कितने भी महान हुए हों, उनसे अब फायदा नहीं उठाया जा सकता है। यह सच है कि उनकी रेडिएशन उनके जाने के पश्चात यहां घूमती रहती है लेकिन उससे विशेष चेतन की मदद की आशा नहीं की जा सकती है। वह विकिरण या रेडिएशन हमारी श्रद्धा और विश्वास के अनुसार एक स्तर तक ही लाभ पहुंचा सकती है। जिस तरह से टेलिविजन या बिना तार के यंत्र घर से कार्यक्रमों या विचारों की लहरें उठाई जाएं तो ये लहरें दूर रखे टेलिविजन या बिना तार के यंत्र द्वारा उसी समय पकड़ी जा सकती हैं। समय निकल जाने के बाद फिर दोबारा इन लहरों को पकड़ पाना

कठिन कार्य है। जबकि ये लहरें फिर भी वातावरण में किसी न किसी रूप में दौड़ती रहती हैं या ऊर्जा के एक रूप से दूसरे रूप में बदलकर वातावरण में सोख ली जाती हैं। इसकी पुष्टि आईनस्टाईन का 'ऊर्जा संरक्षण का सिद्धांत' भी करता है। अत: गुजरे हुए गुरू या महापुरूष या देवता हमारे लिए आदर्श बन सकते हैं लेकिन हमें मुक्ति का रास्ता नहीं दे सकते हैं।

शरीरधारी सतगुरू के अन्दर ऊंचे मण्डलों की धार बराबर उतरती रहती है और उनकी रेडिएशन हर समय चारों तरफ फैलती रहती है। सतगुरू के अन्दर उच्चतम भण्डार का स्रोत मौजूद रहता है। उनके अन्दर प्रकाश और शब्द की भरमार रहती है जिसकी तरंगें दूरगामी स्थानों तक पहुंचने की क्षमता रखती हैं। ऐसी तरंगों में सारे ब्रह्मण्ड में फैलने की ताकत होती है। तरंगों के इसी नियम के आधार पर आज का विज्ञान दूर-दूर के स्थानों से सूचनाएं एकत्र कर रहा है। हजारों-लाखों मील ऊपर उड़ रहे सैटेलाइट के द्वारा पृथ्वी के अन्दर भरे खजानों का पता लग रहा है। यह कार्य ज्यादा ऊर्जा वाली कम लम्बाई की तरंगों से नहीं किया जा सकता है। इन गर्मी देने वाली छोटी लम्बाई की तरंगों में इतनी ताकत नहीं होती कि ये लम्बी दूरी तय कर सकें। ये तरंगें बहुत जल्दी बिखर जाती हैं। इसी आधार पर टेलिविजन और रेडियो के कार्यक्रम अधिक लम्बाई की तरंगों के स्रोत के माध्यम से दूर-दराज के स्थानों तक पहुंचाए जाते हैं। छोटी लम्बाई की तरंगें जलाने वाली होती हैं जिनसे पृथ्वी के अन्दर छुपे हुए राज को या पर्दो में ढकी हुई सच्चाई को बेपर्दा नहीं किया जा सकता है। विज्ञान इन तरंगों का प्रयोग शरीर में बिमारी के किटाणुओं को मारने के लिए कर रहा है।

विज्ञान की खोज बताती है कि हम ज्यों-2 जागृत से स्वप्न और सुषुप्ति की तरफ जाते हैं तो हमारे मस्तिष्क से निकलने वाली रेडिएशन की तरंगों की लम्बाई बढ़ती ही जाती है, अमेरिका में एक संस्था 'ड्रीम

रिसर्च लैबोरेटरी' मनुष्य की नींद और स्वप्नों के बारे में खोज कर रही है। नींद में प्रकाश की विद्युत-चुम्बकीय तरंगों को ई.ई.जी. ग्राफ पेपर पर अंकित किया जाता है। इसके अनुसार नींद की प्रारम्भिक अवस्था में नींद का स्तर 10 हर्टज पाया गया है। ग्राफ पर जैसे- जैसे हर्टज का स्तर गिरता जाता है, वैसे-2 नींद की गहराई भी बढ़ती जाती है। हल्की नींद में यह स्तर 7 हर्टज और गहरी नींद में जाकर यह स्तर 3 हर्टज तक गिर जाता है। इसका अर्थ यह है कि तरंगों की लम्बाई अन्तर में बढ़ती जाती है अर्थात् सुषुप्ति की अवस्था में विद्युत-चुम्बकीय तरंगों का प्रवाह मस्तिष्क में बढ़ जाता है। जिससे मस्तिष्क की सक्रियता भी बढ़ जाती है। ध्यान-अभ्यास करने वाले मनुष्यों के मस्तिष्क परीक्षण में पाया गया है कि जैसे-2 ध्यान की अवस्था उत्तम होती जाती है, मस्तिष्क में 'अल्फा तरंगों' की मात्रा बढ़ती जाती है। ये वही तरंगें हैं जो सुषुप्ति की अचेतन अवस्था में पायी जाती हैं। यह तरंगें अतीन्द्रिय या परलोक व्यवहार का कारण मानी गई हैं। ऊंचे दर्जे के अभ्यासियों के मस्तिष्क में विद्युत-चुम्बकीय तरंगों का प्रवाह अधिक पाया जाता है। सतत् अभ्यास के बाद मनुष्य के अन्दर यह अवस्था आ जाती है कि उसे पलक झपकते ही सतगुरू का नूर ही नूर दिखाई देता है। ऐसा होने के बाद अभ्यासी सतगुरू का सनातन् अंश बन जाता है। उनके साथ उसका अटूट और अवाक् संबंध हर समय जुड़ा रहता है। यही रहस्य प्रदान करने के बाद कबीर साहब ने जहांगश्त (जो बगदाद से रूहानी दौलत की खोज में भारत आया था) को कहा था कि अब वह संसार के किसी भी कोने में जाकर रहे उसका संबंध सतगुरू के साथ अटूट बना रहेगा। वह जब भी उन्हें याद करेगा, अपने निकट ही पाएगा।

सतगुरू-शिष्य के इस सनातन और अवाक् संबंध का कारण यह है कि जब साधक तीसरे तिल पर आकर प्रकाश प्रकट कर लेता है और समाधि की आरम्भिक अवस्था में होता है तो उसके ध्यान में जामुनी,

आसमानी, नीले, मटमैले व हरे रंगों की अधिकता होती है लेकिन ज्यों-2 ध्यान में सफाई आती जाती है उसमें पीले, नारंगी और लाल प्रकाश की मात्रा बढ़ती जाती है। इन सब रंगों में लाल रंग की तरंगों की लम्बाई सबसे ज्यादा होती है और जामुनी व नीले रंग की सबसे कम। जामुनी व नीले रंग में बिखराव सबसे ज्यादा होता है जबकि इनमें से लाल में यह सबसे कम होता है। यही कारण है कि सुबह निकलते समय और छिपते समय हमें सूर्य लाल या नारंगी लाल दिखाई देता है। इस समय सूर्य हमसे अधिक दूरी पर होता है, केवल लाल तरंगें ही हमारी आंखों तक पहुंच पाती हैं, बाकि तरंगें टूटकर आसमान में बिखर जाती हैं जिसके कारण आसमान का रंग नीला दिखाई देता है। अत: धीरे-2 साधक लम्बी व उससे भी लंबी तरंगों वाले प्रकाश का धनी स्रोत बनता जाता है और एक समय यही शान्ति का स्रोत अभ्यासी के अन्दर से झरना बनकर दूर-2 तक अदृष्य होकर बहने लगता है और जीवन परिवर्तन की प्राणचेतना बनकर आसपास तथा संसार के वातावरण को प्रभावित करने लगता है जिससे सम्पूर्ण भौतिक संसार के रूपान्तरण की प्रक्रिया अविरल् रूप से स्वत: ही चलती रहती है। ऐसा अभ्यासी सारे संसार के लिए शान्ति तथा अन्त: प्रेरणा का स्रोत बन सकता है। जिस जगह पर ऐसे शरीरधारी स्रोत मौजूद रहेंगे वहां पर पूरी तरह जीवन की हानि कभी नहीं होती, वह स्थान हमेशा दूसरों के लिए जीवन शक्ति बना रहेगा, दूसरों को पालता रहेगा। इसमें हो सकता है कि उसे काफी हद तक कुर्बानी देनी पड़े। सारा अस्तित्व समाप्ति की तरफ जा सकता है लेकिन ऐसी भरपूर सत्ता को अंतिम घड़ी तक मौजूद रहना ही पड़ेगा जहां से जीवन धारा का उदय होता है। भारत एक ऐसी ही भूमि है जहां की आध्यात्मिक शक्ति आरम्भ से ही यह कार्य कर रही है और करती रहेगी।

सामान्य चेतना में रूपान्तरण की ऐसी ताकत नहीं है जो सम्पूर्ण

व्यक्तित्व का विकास कर सके। सामान्य चेतना के स्तर पर शक्तियों की एक दूसरे से आगे जाने की दौड़ चलती रहती है क्योंकि यहां से हजारों धार निकलकर नीचे फैलती रहती हैं। इस स्तर की चेतना का गुण सिर्फ फैलना है। शरीर, इन्द्रियों और मन में फैली चेतना सिर्फ भोगना चाहती है, फैलना चाहती है। यदि इन पर बुद्धि का विवेकबल व आत्मा का योगबल नहीं लगाया जाता तो ये लगातार फैलती ही रहेंगी और कभी न समाप्त होने वाली कामनाओं की दौड़ में अनथक दौड़ती रहेंगी, क्योंकि इन पर अज्ञानता का आवरण चढ़ा रहता है। यही माया का बाहरी स्वरूप है। यदि इस स्तर से रूपान्तरण होगा तो उसमें गति आने से क्लेश उत्पन्न होगा, मारकाट होगी, जीवन मूल्यों की हानि होगी, क्योंकि अचेतन और निश्चेतन की जीवन शक्तियां अपना संकल्प नहीं छोड़ना चाहती हैं। ये अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए संघर्षरत रहती हैं।

रूपान्तरण की सच्चे अर्थो में प्राप्ति तभी होगी जब महाचेतन से भरपूर कोई शरीरधारी स्वरूप इस पृथ्वी पर विराजमान रहेगा और सामाजिक व भौतिक चेतना में अपनी परिपूर्णता भरता रहेगा तथा बिगड़ते हुए जीवन मूल्यों को संभालता हुआ परमात्मा की शक्ति को पृथ्वी पर स्थापित करता रहेगा। अन्यथा सामान्य चेतना के स्तर से यह परिवर्तन केवल ऊपरी तौर पर होगा, कहने के लिए होगा, पेट पालने के लिए तथा चंदा इकट्ठा करने के लिए और आश्रम स्थापित करने के लिए होगा। यह पिछले गुरूओं या महापुरूषों की बांधी हुई लीक पकड़ कर चलने से कभी नहीं होगा। अपने जीवन का रास्ता स्वयं तलाशने से होगा। खुद के अन्दर प्रकट होने वाले ज्ञान से होगा। पिछले आदर्शो व ग्रन्थों का अध्ययन करने से और उन्हें गुरू बनाने से नहीं बल्कि अपने अनुभव के आधार पर मंजिल तलाशने से होगा। अन्यथा अनेक धर्म-सम्प्रदाय बनते रहेंगे और बिगड़ते रहेंगे। बहुत से मनुष्य अपने विश्वास के अनुसार अपने इष्ट, किसी देवता या पिछले गुरू का स्वरूप

अपने अन्दर प्रकट कर लेते हैं और एक नए धर्म, संस्था या सम्प्रदाय को जन्म दे देते हैं। ये लोग मनमुखी होते हैं। गुरू बनने की लालसा और व्यर्थ की ख्याति प्राप्त करने की इच्छा ऐसे लोगों को पथभ्रष्ट कर देती है। राधास्वामी पंथ कहता है कि साधक के अन्दर जब तक कोई भी रूप रंग या आकार प्रकट होता है तब तक काल और माया का खेल है। हमारा ही मन हमें ऐसे-ऐसे खेल दिखाकर भ्रमित करता रहता है। इसी कारण अधिकतर धर्म और सम्प्रदाय काल और माया की सीमा के अन्दर ही रह गए। इसके बारे में श्री अरविन्द अपनी पुस्तक ''The Synthesis of Yoga'' के अध्याय 'The Mystery of Love' अर्थात् 'प्रेम का रहस्य' (P: 574-75) में वर्णन करते हैं :

''आरम्भ में ईश्वर साधक की सीमित धारणाओं और उसकी प्रकृति के अनुसार प्रकट होता है जिसे वह समझ सके और उसका दिल व दिमाग उसका जवाब दे सके या स्वीकार कर सके। वह साधक उस शक्ति को कोई नाम दे देता है, इसे योग में इष्ट देवता कहते हैं जिसे हम अपनी प्रकृति के अनुसार नाम देते हैं और उसकी पूजा करते हैं। यही शक्ति साकार रूप में उन्हीं गुणों के साथ प्रकट हो जाती है और पूजा करने वाले के लिए यही ईश्वर का सजीव शरीर बनकर प्रकट होती है। यही विष्णु, शिव, कृष्ण, काली, दुर्गा, ईसा मसीह, बुद्ध के रूप में आ जाती है, जिन्हें मन पूजा के लिए अपना लेता है''। इसी प्रकार श्रीमद् भगवत गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं '' योगी जिस रूप में मेरी वन्दना करते हैं, मैं उसी रूप में उनके सामने प्रकट हो जाता हूं और जो जन केवल मुझे पूजते हैं तथा अन्य का चिन्तन नहीं करते उनको मैं शान्ति देता हूं और उनकी पूरी रक्षा करता हूं। हे अर्जुन! दूसरे देवताओं के श्रद्धायुक्त भक्त प्राचीन विधि के विरूद्व मुझे ही पूजते हैं। मैं ही सम्पूर्ण यज्ञों का भोगने वाला स्वामी हूं। वह मुझे तत्व से नहीं जानते। इसी से गिर जाते हैं।''

राधास्वामी पंथ की शिक्षा इसी बात पर जोर देती है कि जब तक हम ब्रह्म की रचना के देवी-देवताओं की पूजा करते रहेंगे तब तक हमें शान्ति नहीं मिल सकती। सच्चखण्ड से नीचे तक हमारे सामने ब्रह्म की शक्ति हमारे विश्वास के अनुसार हमारे मन में विभिन्न रूप व आकारों में प्रकट होती रहती है और भ्रमित करती रहती है। इसलिए भंवर गुफा तक के ध्यान में पूर्णता नहीं है। भंवर गुफा परब्रह्म की चोटी है अत: यहां तक मन सूक्ष्म माया के चराचर जगत में फंसता रहता है तथा अपने दाव-पेंच चलाता रहता है। इसीलिए रूपान्तरण के कार्य को सम्पन्न करने के लिए भंवर गुफा तक का ध्यान पर्याप्त नहीं है। इसके लिए सच्चखण्ड की शक्ति का अवतरण आवश्यक है। अभ्यासी के ध्यान की पूर्ण परिपक्वता अलख, अगम से भी ऊपर जाकर राधास्वामी धाम में होती है, जहां पहुंचकर सुरत अपने निज-स्वरूप में समा जाती है और राधास्वामी धाम के अनुभव को इस शरीर, जीवन, मन और बुद्धि में उतारकर इन्हें भी उसी शब्द और प्रकाश का जीवित व लगातार झरने की तरह बहता हुआ स्रोत बना देती है।

कबीर साहब भंवर गुफा के मण्डल का वर्णन करते हुए कहते हैं:

दो पर्वत के सिन्ध निहारो,
भंवर गुफा तहँ संत पुकारो।
मुरली बजत अखण्ड सदाये,
तहं सोहं झुनकारा है।।
कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।

स्वामी जी महाराज इस मण्डल का वर्णन करते हुए कहते हैं :

मोती महल और रतन अटारी।
हीरे लाल जड़े जहं भारी।।
गुप्त भेद यह दिया जनाई।
जानेंगे कोई संत सिपाही।।

भंवर गुफा का परवत निरखा।
सोहं शब्द जाय जहां परखा।।
धुन मुरली जहं उठत करारी।
सेत सूर सूरत निरखारी।।
तेज पूंज वह देश भला री।
धुन अपार तहं होत सदारी।।
लोक अनन्त भक्त जहं वसें।
नाम अधार अमी रस रसें।।
राधास्वामी यह भी गाई।
चौथा परदा लीन्हा जाई।।

कबीर साहब और स्वामी जी महाराज इस मण्डल में अत्यंत अनोखी रचना का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यहां पर करारी मुरली की धुन उठती रहती है और प्रकाश का तेज पुंज है।

सतलोक

सतलोक संतो का निवास स्थान है। यहां की रचना किसी भी तरह के लय-प्रलय के अधीन नहीं है। सभी आत्माएं यहां का अंश हैं और यहीं से उतर कर रचना के आवागमन में आई हैं। हर आत्मा का संबंध सूक्ष्म रूप से इस लोक के साथ है। आरम्भ में इसी मण्डल से शब्द की धार सुरतों का बीज लेकर उतरी और सारी सृष्टि की रचना की। सुरत किसी भी योनी में जन्म ले, शब्द के साथ उसका निजी संबंध बना रहता है। शब्द की डोरी के साथ सुरतें बंधी रहती हैं। राधा आदि सुरत है जो स्वामी की शक्ति है, दूसरी सुरतें राधा का अंश हैं। राधा और दूसरी सुरतों का संबंध इस प्रकार है जैसे सूर्य और उसकी किरणों का। शब्द की धार के साथ ही हमारी सुरत नीचे उतर कर आई है और इसी शब्द की डोरी को पकड़कर इसे अपने निज धाम 'राधास्वामी धाम' तक पहुंचना है। नीचे के मण्डलों में व्याप्त मन, माया के आवरण के कारण ऊपर तक पहुंचने का रास्ता सुरत की आंखों से ओझल हो गया है। सुरत अंधी और बहरी हो गई है। न इसे वह रास्ता दिखाई देता है और न ही अपने स्वामी की आवाज इसे सुनाई देती है। इसके ऊपर आवागमन के कारण अनेकों आवरण और पर्दे चढ़ गए हैं जिसके कारण जीवात्मा की दृष्टि सीमित हो गई है। यह अनेकता के खेल को अपना खेल समझने लग गई है। इन्द्रियों के स्थान पर बैठकर क्षर पुरूष की रचना को ही अपना असली धाम समझने लग गई है। इसी नाशवान और सीमित संसार के अन्दर व्याप्त भिन्नता से भरपूर विराट स्वरूप को अपना अन्तिम ध्येय बना लिया है। सुरत अपने तैजस और प्राज्ञ स्वरूप को भूल गई है। इसने परोक्ष रूप से शब्द को पकड़ तो रखा है लेकिन उस शब्द की धार को जो नीचे की तरफ इन्द्रियों और उससे भी नीचे की रचना में फैल रही है, जहां का अन्तर्ज्ञान सुषुप्ति में सो

रहा है और अपने निश्चित समय पर ही जागृत होकर विकास की प्रक्रिया में आ सकता है क्योंकि इसकी अन्तः प्रेरणा स्थूल रचना में आकर गौण हो गई है। नीचे की भौतिक सत्ता में आकर यह शब्द अशब्द गति में बदल गया है लेकिन शब्द इसके अन्दर व्याप्त रहता है, क्योंकि ऊर्जा की गति तो मिट्टी के बेजान कणों में भी रहती है और जहां गति होती है वहीं शब्द का होना भी अनिवार्य है। विज्ञान इस तथ्य को स्वीकार करता है। इस ब्रह्मण्ड में हर वस्तु, हर कण ऊर्जा है, उसमें कार्य करने की शक्ति विद्यमान रहती है। अतः शब्द ही ऐसा तत्व है जो सृष्टि की हर जगह मौजूद रहता है। शब्द होश है, शब्द क्रिया करने का स्रोत है, यही साधन बन कर प्रकट हो रहा है और यही क्रिया को करने वाला है। क्षेत्र यही है, क्षेत्रज्ञ भी यही है। शब्द आकाश का गुण है लेकिन नीचे की सत्ता में आकर आकाश तत्व गौण हो जाता है और आकाश से निकले दूसरे तत्वों या विकृतियों की मुख्यता हो जाती है। अतः यहां आकर होश बेहोशी में बदल जाता है, प्रकाश अंधकार में बदल जाता है लेकिन बेहोशी होश की और अंधकार प्रकाश की सुषुप्त अवस्था है। अपने समय पर जब यह अवस्था समाप्त होती है तो इनमें व्याप्त सोई हुई ताकत क्रिया बनकर प्रकट होती है। इसी आधार पर मनुष्य और सारी सृष्टि क्रमशः जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं में से गुजरकर आते-जाते रहते हैं।

नीचे की सत्ता में ज्ञान अज्ञान का रूप ओढ़ लेता है, यहां सदा रहने वाली रात्रि है, अंधकार है, लेकिन अपने समय पर इसका विकास भी निश्चित है। इसके विपरीत इसके दूसरे सिरे पर सबसे ऊपर ज्ञान है, सदैव चमकने वाला दिव्य प्रकाश है, जो पूरी आभा के साथ सदा उज्जवलित रहता है, जिसकी उपमा इस संसार की किसी भी चीज से नहीं दी जा सकती है। इसके प्रकाश में ज्ञान और आनन्द की धारा स्वतः ही बहती रहती है। इसे सोचने या निश्चय करने की आवश्यकता नहीं

है। सोचने की या कुछ करने की आवश्यकता वहां होती है जहां मिलावट है, द्वैतवाद है, दो चीजों या दो ताकतों का खिंचाव है, दो विरोधी धार या दो ऊर्जा के स्तर आकर मिलते हैं और किसी क्रिया शक्ति या इच्छा शक्ति को पैदा करते हैं। ऐसा ही स्थान ब्रह्म का ब्रह्मण्ड है जहां पर ऊपर की महानिर्मल, महाप्रकाशवान सत्ता और नीचे के अचेतन और निश्चेतन की धार आकर मिलती हैं। इस शरीर के अन्दर यह स्थान मन का है जहां पर ऊपर की आत्मिक चेतना और नीचे की शारीरिक चेतना मिलकर बीच में मानसिक चेतना की क्रिया शक्ति को जन्म देती हैं । सतोगुण और तमोगुण मिलकर रजोगुण पैदा करते हैं। जहां दो शक्तियों का मिलन है वहीं पर क्रिया उत्पन्न होती है। एक के भाव में क्रिया नहीं रहती है, खिंचाव नहीं रहता है। शान्ति और मुक्ति, एकता में समाने के बाद ही मिल सकती हैं। अत: शान्ति प्राप्त करने के लिए अभ्यासी के लिए सतलोक तक के ध्यान में पहुंचना अति आवश्यक है। सतलोक की रचना में शुद्ध और महा निर्मल चेतना का निवास है, वहां पर काल और माया की कोई मिलौनी नहीं है। सिर्फ एक का भाव है। इसलिए यहां पहुंच कर अभ्यासी को शान्ति मिलती चली जाती है।

जो धर्म, मत या सम्प्रदाय इस स्थान तक नहीं पहुंचे वह चेतना की यात्रा का क्रमबद्ध तरीके से वर्णन नहीं कर पाते हैं। लगभग सभी मत-मतान्तरों की उत्पत्ति का स्थान आज्ञा चक्र या शिव नेत्र है। किसी-2 की पहुंच सहस्रार तक हुई है। संत मत के अलावा केवल श्री अरविन्द ने सहस्रार से आगे के केवल एक प्रकाश के मण्डल का वर्णन किया है जिसे उन्होंने अतिमानसिक अनुभव कह कर पुकारा है। सुरत-शब्द योग में इस मंजिल का नाम त्रिकुटी है। त्रिकुटी में त्रिलोकी नाथ ओंकार पुरूष विराजमान रहता है। संतों ने इसे ब्रह्म का मण्डल कहा है। इससे ऊपर परब्रह्म और सच्चखण्ड का अनुभव बाकी रह जाता है। लगभग सभी मत-मतान्तर स्वीकार करते हैं कि आत्मा के तीन शरीर होते हैं:

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर। ये मत यह भी स्वीकार करते हैं कि स्थूल शरीर के छ: मण्डल या चक्र होते हैं। जब स्थूल शरीर में छ: चक्र हैं तो सूक्ष्म और कारण शरीर में भी तो छ:-छ: मण्डल होने चाहिए लेकिन कोई भी धर्म या सम्प्रदाय सूक्ष्म व कारण के मण्डलों का वर्णन नहीं कर पाता है। इसका पूरा जवाब राधास्वामी योग देता है और रचना व शरीर की पूरी 18 मंजिलों का अलग-2 निर्णय करता है। ये सभी मत-मतान्तर केवल सहस्रार के ध्यान में आत्मा के सूक्ष्म व कारण शरीर के अनुभव को लपेट देते हैं और असम्प्रज्ञात, निर्विकल्प, निर्बीज समाधि की प्राप्ति की घोषणा कर देते हैं। अनेकों धर्म आचार्य तो आज्ञा चक्र का ध्यान प्रकट होते ही समाधि की उच्चतम अवस्था मान लेते हैं और इसे ही मुक्ति कह कर लोगों को भ्रमित करते हैं लेकिन राधास्वामी योग कहता है कि हम अभ्यास द्वारा सूक्ष्म और कारण रचना के छ:-छ: मण्डलों का भी स्पष्ट साक्षात्कार कर सकते हैं।

अनुभव की पूर्णता सच्चखण्ड में आकर होती है। सतलोक तक की रचना का स्वरूप साकार माना गया है। यहां तक सूरज और चांद अपने चैतन्य स्वरूप में मौजूद हैं। इन्हीं की शक्ति से इन मण्डलों का कार्य चलता है। अब सतलोक में आकर अभ्यासी के लिए एक बिल्कुल ही अलग तरह का अनुभव खुलता है। पहले चरण में मुख्य तौर पर प्रकाश व शब्द का अनुभव था। ध्यान का पहला चरण आज्ञा चक्र से त्रिकुटी तक पूरा हुआ। दूसरे चरण में प्रकाश व शब्द के साथ-2 सुरत की चेतना के खिंचाव व सिमटाव का अनुभव था जो सुन्न मण्डल से भंवर गुफा तक पूरा हुआ। अब तीसरे चरण में प्रकाश, शब्द और सिमटाव के अनुभव के साथ-साथ एक तीसरा अलग तरह का अनुभव खुलने लगता है। हर चरण में पिछले चरण का अनुभव और भी खिलावट के साथ प्रकट होता है। अब तीसरे चरण में नीचे की सारी चेतना धार के रूप में ऊपर चढ़ने लगती है और सिर के अन्दर

चेतना का एक समुह बनने लगता है जिसे चेतनघन कह कर पुकारा जा सकता है। नीचे के स्थूल व सूक्ष्म चक्रों में कार्य कर रही चेतना खिंचकर ऊपर चढ़ने लगती है और इन चक्रों की कार्य शक्ति धीमी पड़ने लगती है क्योंकि अब ध्यान पेट और कमर के स्थान को अपना केन्द्र बनाने लगता है जिसका असर मेरूदण्ड पर स्थित छः चक्रों की कार्यशैली पर पड़ता है और उनकी चाल में कमी आती जाती है। ध्यान की अवस्था में भी परिवर्तन आता जाता है।

यहां की रचना प्रकाश ही प्रकाश है। इतना प्रकाश देखकर सुरत मग्न हो जाती है। अब इस प्रकाश का रंग कुछ पीला होने लगता है। बीच-2 में सफेद आभा भी आने लगती है और पीले व सफेद प्रकाश की मिश्रित अवस्था भी आती रहती है। प्रकाश बहुत ही साफ और उजला होता है। इसमें लगातार गति बनी रहती है। ध्यान की गहराई में उतरने पर प्रकाश की गति कुछ स्थिर होने लगती है, साधक जब ध्यान में बैठता है तो ध्यान की आरम्भिक अवस्था में प्रकाश में गति अधिक होती है क्योंकि सतह पर इसमें गति बने रहना स्वाभाविक है लेकिन जैसे-2 ध्यान आगे बढ़ता जाता है, चेतना का सिमटाव बढ़ता जाता है तो ध्यान की गहराई भी बढ़ती जाती है और ऐसी अवस्था में प्रकाश के बहाव की गति में कमी आने लगती है। फिर जब ध्यान से उठने का विचार मन में आने लगता है तो एक बार फिर इसकी गति में तेजी आ जाती है। इसका कारण यह है कि जब यह आन्तरिक चेतना इस मानसिक और शारीरिक चेतना के स्तर पर उतर कर आती है तो इसमें विचार पैदा होने से इसकी गति में तेजी आ जाती है, लेकिन जब यही चेतना शारीरिक और मानसिक चेतना को अपने अन्दर समेटकर अपने निज भण्डार की तरफ खिंचती है तो इसकी गति में स्थिरता आने लगती है। इस तरह से एक ही समय के ध्यान में दो तरह का अनुभव होने लगता है। अतः इस शरीर के अन्दर व्यष्टि स्तर पर महाचेतन व

महाप्रकाशवान मण्डल के प्रकाश के अवतरण का अनुभव संचित होने लगता है जो इसकी सम्पूर्ण चेतना का रूपान्तरण करने में मदद करता है और यह शरीर परम्पिता परमात्मा की ताकत का शुद्ध व पूर्ण यंत्र बनने लगता है। जिस शरीर के अन्दर सतपुरूष की सत्ता, ज्ञान व आनन्द का अवतरण हो जाता है वह मनुष्य सतपुरूष का अवतार होता है। इसलिए संत सतपुरूष का अवतार होते हैं। ऐसे पुरूषों में महाचेतन मण्डल की धार सारे शरीर में ऊपर से नीचे तक स्वतः ही बहती रहती है और उनके शरीर, प्राण, मन और बुद्धि में सच्चखण्ड का प्रकाश हर समय हिलोरें मारता रहता है। नीचे की चेतना में जो अंधकार का देवता अपनी जड़ जमाए बैठा था वह प्रकाश की देवी की चकाचौंध देखकर विस्मित हो जाता है और इसके सामने अपने आपको असहाय पाता है। अपने संकल्प, विकल्प भूलकर अपने आपको इसके सामने समर्पित कर देता है और अपने दिव्य परिवर्तन के लिए स्वीकृति दे देता है। सारा शरीर एक सैल या बैटरी के समान शक्ति अर्थात् प्रकाश व शब्द का सुचालक बन जाता है। जिसमें से विद्युत-चुम्बकीय तरंगों की धार बिना रोक-टोक के अपनी पूरी ताकत के साथ ऊपर से नीचे तक बहती रहती है। बैटरी या सैल की स्थूल बिजली की धार तो एक समय के बाद कमजोर पड़ जाती है लेकिन शरीर में बहने वाली यह धार बढ़ती ही जाती है। इसका लगातार विस्तार होता जाता है। नीचे के विभिन्न स्तर की चेतना की सारी दिवारें मिलकर एक हो जाती हैं और रूकावट का कोई सामान बीच में नही रहता है।

शरीर का खिंचाव एक बार फिर बढ़ने लगता है। ध्यान में पैरों, हाथों और कमर में दर्द बढ़ता जाता है। कमर में मेरूदण्ड के निचले सिरे से शुरू होकर ऊपर तक यह दर्द बढ़ता ही जाता है। शरीर में ठण्डे-ठण्डे करंट नीचे से ऊपर तक आते रहते हैं। ध्यान में मुंह मीठा होने लगता है। मुंह में मीठा रस इकट्ठा होता रहता है। यही असली

अमृत पान है, यही पंचामृत है और गुरू की प्रसादी है। इसी अमृत को चखकर गुरूओं ने अमृतसर की नींव रखी थी और उसमें स्वर्ण मन्दिर की स्थापना की थी ताकि अन्दर का कुछ-2 नक्शा जीवों की भलाई के लिए बाहर उतारा जा सके और गुरू नानक देव जी के ''पंच शब्द धुनकार'' का असली अर्थ समझ में आए। इसी आधार पर पंचामृत की प्रसादी का रिवाज चला। असली पंचामृत या प्रसाद तो अन्दर की पांच धुन (पंच शब्द धुनकार) सुनने से प्राप्त होता है। अन्दर की पांच मंजिलें (ज्योत-निरंजन, ओंकार, रारंग, सोहंग और सतनाम) तय करने के बाद ही मनुष्य इस अमृत को पाने का हकदार हो सकता है। अन्दर के भेद को बाहर प्रकट करने का मूल कारण यही था कि सतगुरू के बाहरी रूप को पकड़कर सूक्ष्म और कारण रूप का साक्षात्कार किया जा सके लेकिन कुछ ही जीव इसका लाभ उठा पाए।

चेतना के खिंचाव के समय तागड़ी बांधने के स्थान पर अधिक दर्द रहता है। यहां से ऊपर की तरफ कुछ उठता और चढ़ता हुआ महसूस होता है। यह खिंचाव इस तरह होता है जैसे किसी कपड़े को पकड़कर निचोड़ा जा रहा हो। इसका कारण है कि धार चक्राकार होती हुई ऊपर की तरफ सिमटने लगती है और जन्म-2 की रमी हुई चेतना ऊपर की तरफ चढ़ने लगती है। हाथों में भी दर्द बढ़ता जाता है। आकाश में सुनहरे या सफेद रंग के सूर्य और पूर्ण चन्द्रमा दिखाई देते हैं। सतगुरू के साकार रूप के दर्शन पीले या सफेद प्रकाश के अन्दर होते रहते हैं। कभी-2 सुरत दिव्य प्रकाश के अन्दर ऊपर आकाश में उड़ती हुई भ्रमण करने लगती है। प्रकाश इतना प्रबल होता है कि बिना ध्यान भी आंख बंद करते ही प्रकट हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि सुरत 24 घंटे परमात्मा के योग से जुड़ जाती है, सतगुरू का अखण्ड व सनातन अंश बनने लगती है। सोते समय भी आंखों में प्रकाश की बाढ़ सी आई रहती है। साधक प्रकाश में ही सोता है, प्रकाश में ही भ्रमण करता है। रात को

जब भी आंखें खुलती हैं तभी सतगुरू का नूरी स्वरूप अपनी दिव्य आभा के साथ मौजूद रहता है। शिष्य सतगुरू के अन्दर समाने लगता है या कह सकते हैं कि शिष्य सतगुरू का रूप बनने लगता है। शब्द तो हर समय ही तृप्त करता रहता है।

पेट में भी इसी तरह का खिंचाव होने लगता है जैसे कुछ निचोड़ा जा रहा हो। हाथ-पांव अकड़ जाते हैं। गर्दन व सिर की भी खिंचाव के कारण जान सी निकल जाती है। प्रकाश में पीलेपन व सफेदी की मात्रा बढ़ जाती है।

यहां से शब्द एक अनोखे रूप में उभरने लगता है। बांसुरी की धुन के बाद अब सिर के मध्य में थोड़ा दाई तरफ एक बहुत ही तीव्र, ऊंची व मीठी आवाज निकल कर आती है। इसी आवाज के अन्दर से कभी-2 ऐसी आवाज उभर कर आती है जैसे अन्दर में कोई तूफान चल रहा है और उस तूफान की गति के कारण बहुत ही तीव्र सूं-सूं की आवाज आती है। यही आवाज कुछ समय के पश्चात् जलतरंग के मीठे संगीत की ध्वनि में बदलने लगती है और फिर सितार तथा वीणा की धुन की तरह लयबद्ध होकर अपनी मस्ती का गीत सुनाने लगती है। पहले एक दम तूफान की सूं-सूं और फिर वीणा का मधुर संगीत उस तूफान के उबाल को एक दम शांत कर देता है। इस मण्डल के ध्यान के आरम्भ में कुछ दिनों तक ऊंची व मीठी आवाज के साथ सूं-सूं की आवाज इतनी ऊंची उठती है कि इसी के अन्दर से एक मधुर संगीत फूट पड़ता है और फिर वह सूं-सूं की आवाज भी बंद हो जाती है, केवल वीणा के तारों पर थिरकता मधुर संगीत उठता रहता है जो सुरत को मंत्रमुग्ध कर देता है। यही है सतलोक में विराजमान सतपुरूष की वीणा की धुन जो सुरत को खींच लेती है और सुरत खुद ही वीणा के तारों पर मुग्ध होकर नृत्य करने लगती है तथा इसके मधुर संगीत में समाकर अपनी खुद की हस्ती भी भूल जाती है। इसके साथ-2 यहां का

प्रकाश भी इतना भरपूर होता है कि सुरत इसकी धार में समाती चली जाती है। यहां पर आकर महर्षि शिवव्रतलाल जी महाराज के ये शब्द याद आने लगते हैं:

ना अपना नाम रखो, ना नामो निशां रखो।
हो जाऊं गुम किसी को ना मिले मेरी खबर।
मुझको खुद अपनी जात की जुस्तजू ना हो।।

यहां की रचना का वर्णन करते हुए कबीर साहब कहते हैं:

सोहं हद तजी जब-जब भाई,
सतलोक की हद पुनि आई।
पोडष भानू हंस को रूपा,
बीना सत धुन बजे अनूपा।
हंसा करत चंवर सिर भूपा,
सतपुरूष दरबारा है।
कोटिन भानू उदय जो होई,
ऐत ही पुन चन्द्र खलोई।
पुरूष रोम सम एक न होई,
ऐसा पुरूष दीदारा है।
कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।

कबीर साहब कहते हैं कि यह सतपुरूष दरबार है। यहां वीणा की धुन बज रही है और करोड़ों सूर्य का प्रकाश सतपुरूष के रोम के बराबर भी नहीं है। फिर कहते हैं कि इस मण्डल में पूर्णमासी का चांद खिल जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यहां की रचना में अंधकार बिल्कुल नहीं है। अभ्यास में अनेकों बार आकाश में खिला हुआ पूर्ण चन्द्रमा दिखाई देता है। सुनहरा सूर्य और कभी-2 सुनहरा आकाश सितारों के साथ भव्य दृष्य प्रस्तुत करते हैं। सूर्य और पूर्ण चन्द्रमा तो अनेकों बार दिखते रहते हैं। यहां के चन्द्रमा पर कोई छाया

नहीं होती है। सदा ही पूर्णमासी का चन्द्रमा चमकता रहता है। यही है संतो की सदा रहने वाली दिवाली। इस अनुभव के बाद साधक स्वत: ही सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी बन जाता है।

यहां पर एक बात समझने की यह है कि यह वीणा की धुन बीन का लहरा नहीं है। अकसर वीणा की धुन को बीन का लहरा कह दिया जाता है लेकिन बीन का लहरा यहां नहीं है, यह ऊपर के मण्डल की धुन है। अब सच्चखण्ड के भी छ: मण्डल हैं जिनमें तीन मण्डल शब्द के और तीन ही धुन अर्थात् सुरत के हैं। यह सतनाम के मण्डल की धुन का वर्णन चल रहा है। इस मण्डल में वीणा की धुन जो सितार की धुन से मिलती जुलती होती है उठ रही है।

आरम्भ में जब सुरत इस मण्डल में प्रवेश करती है तो वीणा की धुन कुछ समय बाद प्रकट होती थी, इससे पहले दूसरी धुन आती थी, जिनका वर्णन पहले कर दिया गया है, लेकिन अब कुछ दिनों के अभ्यास के बाद वीणा का मधुर संगीत ध्यान के आरम्भ में ही खुल जाता है, बाकि धुन लोप हो जाती हैं। उसी तरह खिंचाव भी कुछ-2 आगे बढ़ता जाता है। ध्यान करते समय हाथ व पांव अकड़ जाते हैं। पेट व कमर से चक्राकार खिंचाव ऊपर की तरफ बढ़ने लगता है। छाती व कंधों में भी खिंचाव होने लगता है। गर्दन व सिर में भी खिंचाव बढ़ता जाता है। गर्दन की जान सी निकल जाती है और सीधी नहीं रखी जाती है। इसके अलावा शरीर के दूसरे हिस्सों में भी बहुत भारी खिंचाव होता है। जब ध्यान गहराई की अवस्था में चला जाता है यानि कि पूरा खिंचाव होने लगता है तो प्रकाश व शब्द दोनों ही कम होकर लगभग तीसरे या चौथे हिस्से के रह जाते हैं अर्थात् ध्यान की गहराई में शब्द और प्रकाश काफी कम हो जाते हैं लेकिन बाद में जब ध्यान से उठने को होते हैं तो प्रकाश व शब्द एक बार फिर पूरी तरह प्रबलता के साथ आ जाते हैं और आखिर तक बने रहते हैं। बिना ध्यान भी दूसरे समय में भी प्रकाश व

शब्द उसी प्रबलता के साथ बने रहते हैं। जब पूरा खिंचाव होता है तो वह वीणा की धुन भी कमजोर होकर बन्द हो जाती है और वीणा के आधार में बजने वाला शब्द सुनता है जिसमें धुन या लय का उतार चढ़ाव नहीं है।

जैसे-2 ध्यान आगे बढ़ता है, सिर का खिंचाव बढ़ने लगता है। अब खिंचाव ध्यान में बैठते ही शुरू हो जाता है। गले की जान सी निकलकर गला रूंध जाता है। ऐसा लगता है जैसे गले में बन्द लगा दिया गया हो। फिर भी मूंह में ऊपर से मीठा रस इकट्ठा होता रहता है। सुरत प्रकाश के साथ-2 उसे देखती हुई उसी का रूप बनने लगती है और शरीर के अन्दर अचेत अवस्था की तरफ ले जाने वाला चक्कर सा बनने लगता है। शब्द और प्रकाश को देखने का मन नहीं करता है और ऐसा लगता है जैसे सुरत आनन्द के समुंद्र में अपने आप को डूबो देना चाहती है। आन्तरिक गहराई में जाकर प्रकाश की गति शब्द की गति के समान काफी कम हो जाती है। ध्यान के आरम्भ और अन्त में अर्थात् सतह पर वही वीणा का मधुर संगीत और गहराई में बिना धुन का शब्द।

अभ्यास और आगे बढ़ने पर दिल व दिल के आसपास की जगह पर खिंचाव बढ़ने लगता है। यह खिंचाव सिर के ऊपर तक पहुंच जाता है। कंधों और बाजुओं के ऊपरी हिस्से में और अधिक दर्द बढ़ने लगता है। सिर में आंखों के ऊपर खिंचाव होने की वजह से दर्द व चेतना का संग्रह बढ़ने लगता है। ध्यान से उठने के बाद शरीर की जान सी निकली हुई होती है। ध्यान के एक दम बाद नहीं उठा जाता है। गला रून्ध जाता है। प्रकाश व शब्द की अवस्था वही रहती है जो पहले वर्णन कर दी गई है।

खिंचाव में सारा शरीर बंध जाता है, ऐसा लगता है जैसे सारे शरीर की ऊपर से नीचे तक खींचकर गांठ बांध दी गई हो। कलेजा बहुत अन्दर की तरफ खिंचने लगता है और उससे ऊपर गर्दन तक

गोलाई में चलता हुआ खिंचाव होता है और ठीक इसी की सीध में पीछे कमर में भी मेरूदण्ड के पास खिंचाव होता है। अमृत पान करती हुई सुरत सारे दर्द को भूल जाती है। ध्यान की ऐसी रोचक अवस्था आ जाती है कि अभ्यास से उठने को मन नहीं करता है। ध्यान स्वयं ही पकड़ कर बिठा लेता है और उठने नहीं देता है। अन्दर में इतनी तृप्ति आ जाती है कि ध्यान से उठने के बाद भी आंखें खोलने और बोलने को मन नहीं करता है। ऐसी मस्ती पैदा हो जाती है कि दुनियांदारी का कोई भी व्यवहार अच्छा नहीं लगता है। ध्यान करने की लगन और बार-2 उसी अवस्था में जाने के लिए तड़फ बनी रहती है। जब ध्यान में बैठने का समय नजदीक आता है तो शरीर व मन के अन्दर अपने आप ही वही हालत पैदा होने लग जाती है और साधक को पकड़ कर ध्यान की तरफ खींच लेती है। अब साधक ध्यान को नहीं, बल्कि ध्यान साधक को खींचता है और इस अवस्था से निकलने नहीं देता है। ध्यान इतना रोचक हो जाता है कि साधक फिर-2 से इसकी तरफ खिंचता जाता है और तृप्त होता जाता है । मन और इन्द्रियां हर तरफ से हटकर बस ध्यान में ही समा जाना चाहते हैं।

इस मंजिल का वर्णन करते हुए स्वामी जी महाराज लिखते हैं:

पंचम किला तक्त सुलतानी।
बादशाह सच्चा निज जानी।।
चली सुरत देखा मैदाना।
अजब शहर अदभुत् चौगाना।।
अमृत कुण्ड अमी की खाई।
महल सुनहरी रचे बनाई।।
चौक चांदनी दीप अनुपा।
हंसन शोभा अचरज रूपा।।
पोडष भान चन्द्र उजियारा।

सुरत चढ़ी देखा निज द्वारा।।
द्वारपाल जहां बैठे हंस।
कहीं-2 अंश कहीं-2 बंस।।
सहज सुरत वहां वचन सुनाए।
कहो भेद तुम यहां कस आए।।
सुरत नवीन कही तब बानी।
सन्त मिले उन कही निशानी।।
इतना कह तब भीतर धंसी।
सतनाम दर्शन कर हंसी।।
पुहुप मध्य से उठी आवाजा।
को तुम हो आये किहि काजा।
सतगुरू मिले भेद सब दीना।
तिनकी कृपा दास हम लीना।।
दर्शन कर अति कर मगनानी।
सतपुरूष जब बोले बानी।।

स्वामी जी महाराज फरमाते हैं कि इस मण्डल में सतपुरूष का सुल्तानी तक्त है जहां से वह रचना की संभाल करते हैं। यहां पर अमृत कुण्ड भरे रहते हैं। यहां की रचना सुनहरी व भव्य दृष्यों से भरपूर है। हमेशा सूरज और चांद की चांदनी जगमग करती रहती है। स्वामी जी महाराज ने इसे सुरत का निज द्वार कहा है जिसे पार करने पर सुरत निज धाम में पहुंचती है। फिर कहते हैं कि यहां तक वही पहुंच सकते हैं जिन्हें शब्द-भेदी सतगुरू मिले हैं जिन्हें यहां तक का भेद मालूम है। अत: सतगुरू से अखण्डित प्रेम और पूर्ण विश्वास ही इस पुरूष का दर्शन करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

सतलोक का वर्णन अभ्यास की 13वीं मंजिल का वर्णन है, अब 14वीं मंजिल पर शब्द की लय अवस्था आ जाती है। 13वीं मंजिल

की धुन का मण्डल समाप्त हो जाता है। 13वीं और 14वीं मंजिल अलग-2 नहीं हैं। प्रकाश व शब्द का स्वरूप अलग होने के कारण ये दोनों मण्डल शब्द और सुरत के मण्डल कहलाते हैं। 13वीं मंजिल सुरत की धार का मण्डल है तो 14वीं मंजिल उस धार को प्रकट करने वाले शब्द का मण्डल है। इसी शब्द के मण्डल के मध्य में सतपुरूष विराजमान रहता है। 13वीं मंजिल पर चढ़ने के बाद सुरत को 14वीं मंजिल की लय अवस्था में जाना पड़ता है। यह सुरत-शब्द योग का नियम है कि सुरत (धुन) के हर मण्डल का अनुभव शब्द के मण्डल में जाकर पूर्ण होता है। धुन के मण्डल में खिंचाव है, उतार-चढ़ाव है, शब्द के मण्डल में इनकी लय अवस्था है।

अब 14वीं मंजिल पर शब्द की धुन समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर बिना धुन का शब्द अपनी प्यारी-2, ऊंची-2 आवाज में सिर में दांयी तरफ या ऊपर चोटी की तरफ गूंजता रहता है। ध्यान में बैठते ही प्रकाश का समुंद्र ही उमड़ आता है। प्रकाश लाली पर होता है। उसमें कुछ सफेद व पीलेपन की झलक होती है लेकिन ध्यान की गहराई में प्रकाश काफी कम होता जाता है। उसी तरह से ध्यान में ऊपर से खूब मीठा रस आता रहता है और कई बार जब एकान्त में होते हैं तो बिना ध्यान भी ये अमृत रूपी रस टपकता रहता है और नीचे की सारी चेतना अमृत पान करती हुई तृप्त होती रहती है।

नीचे से ऊपर की तरफ कुछ चढ़ता हुआ महसूस होता है और 2-4 मिनट में ही सिर इतना भारी हो जाता है कि जैसे सब कुछ नीचे से सिमटकर सिर में इकट्ठा हो गया है। पहले यह धीरे-2 होता था और ज्यादा समय लेता था लेकिन अब कुछ ही मिनटों में सिर में चेतना इकट्ठी होकर समूह बनाने लगती है और सिर भारी हो जाता है। चेतना का नीचे से ऊपर की तरफ चढ़ाव साफ-2 शरीर में महसूस होता है और बाद में जब ध्यान से उठते हैं तो सारी चेतना वापिस शरीर के नीचे के

अंगो में उतरती हुई महसूस होती है। चेतना का यह समूह आंखों के पास ऊपर की तरफ बनता और बढ़ता ही जाता है। यह चेतनघन आंखों के आसपास और ऊपर की तरफ बहुत ही खिंचाव पैदा कर देता है और इस समूह का दायरा बढ़ता ही जाता है। ऐसा होने के बाद सिर के अन्दर चेतना में घुमाव सा आने लगता है और ऐसे में कई देर तक गुम होने जैसी अवस्था रहती है जिसे बेहोशी या अचेत अवस्था नहीं कहा जा सकता है बल्कि सुरत मस्ती के आलम में समा जाती है। थोड़ा होश आने के बाद फिर प्रकाश की तरफ देखने या शब्द सुनने से वही गुम होने जैसी अवस्था अनुभव होती है। ऐसा बार-2 लगभग सारे ध्यान में होता रहता है।

इस मण्डल का शब्द पहले के मण्डलों की लय अवस्था जैसा शब्द नहीं है। यह शब्द इतना मधुर होता है कि सुरत को अपनी तरफ खींच लेता है। लगभग सारे ध्यान में अपनी मीठी आवाज के साथ लगातार एक ही लय के साथ बना रहता है। कई बार ऊपर से प्रकाश की कोई धार उतरकर सारे शरीर में समाने लगती है जिससे शरीर का रोम-रोम पुलकित हो उठता है। अभ्यास के दौरान एक अजीब सी तृप्ति होती रहती है। ध्यान से उठने के बाद भी वह तृप्ति बनी रहती है और काफी देर तक कुछ भी खाने-पीने को मन नहीं करता है। कुछ समय तक चुप रहते हुए उसी शान्ति में समाए रहने को मन करता है। अब शरीर के किसी हिस्से पर कोई ज्यादा दबाव या खिंचाव नहीं रहता है। कभी-2 ऐसा होता है कि हम प्रकाश रूप बनकर अनेकों प्रकाश मण्डलों को पार करते हुए ऊपर जा रहे हैं। ऐसे में कई बार सतगुरू भी प्रकाश रूप बनकर हमारे साथ-साथ चलते हैं और अनेकों मण्डलों की यात्रा करवाते हैं। हमारा कोई शारीरिक या साकार रूप नहीं होता है, वही आत्मिक प्रकाश सतगुरू के प्रकाश स्वरूप से अनेकों प्रश्न करता रहता है और सतगुरू प्रकाश स्वरूप में सारा भेद समझाते चलते हैं। कई बार

अभ्यास में उनका साकार रूप प्रकाश की आभा के अन्दर प्रकट होकर दिव्य दर्शन देता रहता है।

ध्यान से उठने के समय जब आंखें खोलते हैं तो भी ध्यान की अवस्था बनी रहती है। शरीर के सारे अंग कुछ देर तक काम करने में असहाय से होते हैं। दिमाग में कोई विचार आता है तो लगता है जैसे कोई पराई व असंबंधित वस्तु हमारे अन्दर आ रही है। मालिक की इस अवस्था में बार-बार जीने का मन करता रहता है। आंखें खोले-खोले और कुछ काम-काज करते हुए भी जब सतगुरू की दया और मेहर का ख्याल आ जाता है तो भी वही अवस्था छाने लगती है। वही शान्ति मन व शरीर में उतरने लगती है। इस अवस्था से निकलने के लिए इसका ख्याल छोड़ना पड़ता है क्योंकि यह अवस्था सिर्फ प्रेम की होती है, इसमें कुछ सोचा नहीं जा सकता है। किसी भी विचार का आना नीचे की अवस्था को दर्शाता है। एकता की ताकत में कोई विचार नहीं होता है, सिर्फ आनन्द और मस्ती होती है। जहां विचार है वहीं होश है, क्रिया शक्ति है, बीच की अवस्था है लेकिन यही विचार या ख्याल हमें ध्यान की उस गहराई के आनन्द और मस्ती की याद दिलाता रहता है और उसी में बार-2 जीने के लिए उकसाता रहता है। इसी ख्याल की वजह से वही मस्ती की अवस्था आनी शुरू हो जाती है और बिना ध्यान में बैठे भी एक अजीब नशा पैदा कर देती है। सतगुरू के चरणों में जितना प्रेम बढ़ता जाता है उतना ही नशा और मस्ती अन्दर में उतरते जाते हैं। मस्ती और आनन्द तो हर मण्डल के स्वामी के साथ साधर्म योग करने से पैदा होते हैं लेकिन यहां की मस्ती और नशा तो अपने आप में अनोखा है।

जैसे-जैसे ध्यान-भजन का अभ्यास बढ़ता जाता है, शब्द उसी दृढ़ता और स्थिरता के साथ सुनता रहता है, प्रकाश में अब भी ध्यान के आरम्भ और अन्त में गति बनी रहती है लेकिन अब उसमें कुछ स्थिरता

आने लगती है, लेकिन प्रकाश भरपूर मात्रा में दिखता रहता है। अन्दर, ऊपर, चारों तरफ इतना भरपूर प्रकाश होता है जैसे सब कुछ प्रकाश ही प्रकाश है, प्रकाश में से ही सब कुछ निकल रहा है और प्रकाश में ही समा रहा है। ध्यान के आरम्भ में प्रकाश पीला, लाल व सुनहरी सा होता है लेकिन गहराई में जाकर यह गाढ़ा लाल व सफेद होता जाता है और प्रकाश के होने का केवल आभास होता है लेकिन सतह पर फिर इसकी गति बढ़ जाती है। ध्यान में बैठते ही शरीर में से एक चेतन धार नीचे से ऊपर की तरफ बहने लगती है तथा सिर में चेतनघन आंखों के ऊपर इकट्ठा होकर ऊपर की तरफ खिंच जाता है। इसी प्रकार ध्यान से उठते समय यह चेतना का पिण्ड सारे शरीर में उतरता हुआ और फैलता हुआ महसूस होता है।

सारे शरीर में खिंचाव बना रहता है, लेकिन अब इस खिंचाव में ज्यादा दर्द नहीं रहता है, शान्ति के साथ खिंचाव आगे बढ़ता जाता है। सारे शरीर में सिर से लेकर पैरों की उंगलियों तक इतना भारी खिंचाव हो जाता है, ऐसा लगता है जैसे नीचे से ऊपर तक तार या रस्से कस दिए गए हों और शरीर के अन्दर कोई हाड, मांस या खून न होकर इनके स्थान पर खिंचे हुए तारों का सांचा बना हुआ हो। कमर, छाती, गर्दन, हाथ व पांव खिंचकर अकड़ जाते हैं।

अब आंखों के पास ज्यादा दबाव व खिंचाव बनने के कारण सारा सिर भारी होकर सुन्न होने लगता है जिसमें सुरत विचारों व भागदौड़ की अवस्था भूलकर विचारहीन होकर उसी में समाती चली जाती है। ऊपर की तरफ खिंचाव बढ़ने के कारण आंखें भी ऊपर की तरफ खिंचकर सुन्न होने लगती हैं और ठहर सी जाती हैं तथा ऐसा लगता है जैसे उनमें कोई हलचल ही नहीं है। ध्यान से उठने के बाद भी कई देर तक आंखें बेगानी सी बनी रहती हैं। सारा चेहरा और जीभ भी अन्दर की तरफ खिंचने लगते हैं। उसके बाद ध्यान में इतनी गहराई में चले

जाते हैं जहां ध्यान करने का, प्रकाश देखने व शब्द सुनने का कोई ख्याल नहीं रहता है, बस एक विशेष मस्ती सी छाई रहती है। गर्दन के पास व सिर के अन्दर इतने अधिक रस्से से खिंच जाते हैं कि ऐसा लगता है जैसे सिर व गर्दन जाम होते जा रहे हैं और उनमें खून का दौरा नहीं है।

अब धीरे-2 सुरत इस मण्डल की पूर्ण लय अवस्था की तरफ बढ़ने लगती है। शब्द की स्थिरता के साथ प्रकाश में भी स्थिरता आने लगती है। प्रकाश की गति व चमक कम हो जाती है। इस चमक का कम होने का कारण प्रकाश का गाढ़ा होना है। अब ध्यान के आरम्भ व ध्यान से उठते समय भी प्रकाश की गति में स्थिरता आ जाती है और यही स्थिरता सारे ध्यान में बनी रहती है। पहले सुरत के सिमटाव में चेतना का समुह बनकर ऊपर की तरफ खिंचने लगता था, लेकिन अब उसमें भी कमी आ जाती है और उसकी जगह सिर में व गर्दन के पास तार से खिंच जाते हैं लेकिन शब्द उसी तरह से अपनी ऊंची व मीठी आवाज उठाता रहता है। यहां पर आकर एक बार फिर ध्यान में स्थिरता आ जाती है लेकिन इस ठहराव में नीचे के मण्डलों के ठहराव की तरह अंधकार नहीं है। यहां पर आकर सुरत को सतपुरूष के साथ लय अवस्था प्राप्त हो जाती है। सुरत को यहां से निकलने में भी कठिनाई आती है, वह कोशिशों के बाद भी इस लय अवस्था को नहीं तोड़ पाती है। एक बार फिर उसे अपने हृदय में सतगुरू प्रेम की हिलोरें उठाने की जरूरत है। सतगुरू प्रेम और स्मरण ही ऐसी ताकतें हैं जो सुरत को रूकी हुई अवस्था में से निकाल सकते हैं। ऐसे समय में सतगुरू का आशीर्वाद सर्वोपरि है। उनके आशीर्वाद की धार सुरत को गति प्रदान कर देती है, रास्ते की रूकावटें तोड़ देती है। जिस तरह लोहे के टुकड़े को चुम्बक के पास लाने से उसकी शक्ति बढ़ जाती है, उसी तरह सतगुरू के आशीर्वाद का स्पर्श अभ्यासी का आगे का रास्ता खोल देता

हैं लेकिन यह तभी हो सकता है जब सतगुरू के अन्दर इससे भी ऊपर के मण्डलों की धार मौजूद हो। यदि गुरू की रसाई ऊपर के मण्डलों में नहीं है और यहीं तक का भेद मालूम है तो वह धार इस मण्डल की लय अवस्था से ऊपर उठाने में सक्षम नहीं होती है और अभ्यासी यहीं तक की यात्रा करके इसी अवस्था को अपनी आखरी मंजिल मानकर संतुष्ट हो जाता है। अतः सतनाम की इस अवस्था से उभरने के लिए ऐसे सतगुरू की आवश्यकता है जिसकी पहुंच कम से कम अलख या अगम लोक तक की या अनामी धाम तक की हो। सतनाम का जाप करने से इस मण्डल तक की रसाई हो सकती है। इससे ऊपर जाने के लिए सुरत को ऊपर के नाम और सतगुरू का सहारा लेना पड़ता है। इनके बगैर अगम लोक और राधास्वामी धाम में जाकर सुरत निज स्वरूप में अवस्थित नहीं हो सकती है।

इस मण्डल का वर्णन करते हुए सतगुरू ताराचन्द जी महाराज ''कंवल भेद निर्णय का अंग'' में लिखते हैं:

अमृत होती है आत्मा, कर लिया अमृतपान।
इससे आगे आ गया, सतलोक अस्थान।।
करोड़ सूरज का हो गया, यहां पर अब प्रकाश।
सुरत सतपुरूष की अंश है, यही बात है खाश।।
यहां पर बीणा बज रही, सतनाम की धुन।
बाग बगीचे देखकर, हो गई सुरत मगन।।
करोड़ सूरज और चन्द्रमा, पुरूष रोम सम नाँय।
सतपुरूष दीदार है, सतलोक के माँय।।

अलख लोक

यहां तक के अभ्यास में सुरत-शब्द योग की 14 मंजिलों का वर्णन कर दिया गया है। इनमें 6 मण्डल पिण्डलोक के और 6 मण्डल ब्रह्म व परब्रह्म लोक अर्थात् ब्रह्मण्ड के और दो मण्डल सच्चखण्ड के हैं। स्थूल रचना (पिण्डलोक) के छः मण्डल है: मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र और आज्ञा चक्र। इन्ही छः चक्रों से शरीर में कार्य करने वाली छः प्रणालियों का जन्म हुआ है। ये हैं : मूलाधार चक्र से मल-निष्कासन प्रणाली (Excretory System), स्वाधिष्ठान चक्र से प्रजनन प्रणाली (Reproductive System), मणिपूरक चक्र से पाचन प्रणाली (Digestive System), अनाहत चक्र से रक्तवहनी प्रणाली (Blood Circulatory System), विशुद्ध चक्र से श्वास प्रणाली (Respiratory System) और आज्ञा चक्र से नाड़ी प्रणाली (Nervous System)। ये छः मण्डल या प्रणालियां आत्मा के स्थूल संसार में छः स्थानों पर ठहराव हैं। जैसे-जैसे नीचे से ऊपर की तरफ जाते हैं, हर मण्डल की चेतन शक्ति भी बढ़ती जाती है। सबसे अधिक चेतना आज्ञा चक्र पर मस्तिष्क में क्रियाशील रहती है लेकिन सारे के सारे मण्डल और प्रणालियां एक दूसरे के कार्य पर आधारित हैं। यदि एक प्रणाली की कार्य शक्ति बिगड़ जाती है तो सारी प्रणालियों का कार्य प्रभावित होने लगता है। परन्तु ऊपर की प्रणालियां ज्यादा संवेदनशील होती हैं। अतः इनका कोई भी विकार मनुष्य को पल में शक्तिहीन कर सकता है। स्थूल रचना के ये छः मण्डल सतपुरूष के विराट स्वरूप की अभिव्यक्ति हैं। ये छः मण्डल ब्रह्मण्ड के छः सूक्ष्म मण्डलों का स्थूल रूप में विस्तार हैं। ब्रह्मण्ड के छः सूक्ष्म मण्डल इस प्रकार हैं: सहस्रार, बंकनाल, त्रिकुटी, सुन्न, महासुन्न, और भंवर गुफा। इसके बाद महाचेतन और

महाप्रकाशवान सच्चखण्ड के भी छः मण्डल हैं। ब्रह्मण्ड के छः मण्डल सच्चखण्ड के छः मण्डलों की छाया हैं, इनकी सूक्ष्म रूप में अभिव्यक्ति है। ब्रह्मण्ड के छः मण्डलों में से नीचे के तीन मण्डल ब्रह्म के हैं और ऊपर के तीन मण्डल परब्रह्म के हैं। ब्रह्मण्ड तक के ध्यान में माया का योग सूक्ष्म रूप से बना रहता है। अब सच्चखण्ड के छः मण्डलों में तीन मण्डल शब्द के व तीन मण्डल सुरत के हैं। सुरत के तीन मण्डल सतलोक, अलख और अगम लोक हैं, और शब्द के तीन मण्डल सुरत के हर मण्डल से ऊपर इनकी लय अवस्था के मण्डल हैं। हर सुरत के मण्डल के बाद शब्द का मण्डल आता है। इसका और अधिक वर्णन आगे किया जाएगा। यहां तक सच्चखण्ड के दो मण्डलों का वर्णन कर दिया गया है। एक सतलोक की धुन का मण्डल और दूसरा सतपुरूष का धाम अर्थात् सतलोक से ऊपर शब्द या सतपुरूष के साथ लय अवस्था। सतलोक में पहुंचकर सुरत सतपुरूष के साथ सालोक मुक्ति या सालोक योग का भोग करती है और सतपुरूष के धाम में जाकर उसके साथ साधर्म मुक्ति या साधर्म योग का सुख प्राप्त करती है।

अब सुरत की चढ़ाई के 15वें मण्डल अर्थात् अलख लोक में एक बार फिर धुन के मण्डल का विस्तार आ जाता है। यह सुरत का मण्डल है, इसी सुरत की धार से नीचे के मण्डल का शब्द प्रकट हुआ था। जिसे सतपुरूष का धाम कहा गया। उस शब्द से फिर सुरत की धार यानि कि धुन का मण्डल वजूद में आया जिसे सतलोक अर्थात् सतपुरूष की शक्ति का लोक कहा गया। अलख लोक अलख पुरूष की शक्ति का मण्डल है। यहां पर आकर सुरत की चेतना में एक बार फिर गति पैदा हो जाती है। शरीर में चेतना की कार्यवाही बढ़ने लगती है। शब्द-धुन का रूप भी बदल जाता है। जहां धुन प्रकट होती है, वहां की रचना सुरत और मन को ज्यादा सुहावनी लगती है क्योंकि यहां पर कुछ उतार-चढ़ाव पैदा हो जाते हैं और जहां पर शब्द धुन नहीं होती,

केवल शब्द होता है, वहां पर सुरत की लय अवस्था होती है और सुरत उस लोक के स्वामी के साथ समाधिस्थ होकर उसमें लीन हो जाती है। कोई भी साधक जब किसी जगह रूकता है तो वह शब्द के मण्डल में रूकता है, धुन के मण्डल में नही। धुन की पूर्णता उसके पैदा करने वाले शब्द के मण्डल में है। सुरत को शब्द के मण्डल में जाना ही पड़ता है। ब्रह्मण्ड के जितने भी अंधकार के मण्डल हैं, उन सब के अन्दर शब्द का विस्तार है अर्थात् वे शब्द के मण्डल हैं। इन मण्डलों में धुन की मुख्यता नहीं होती है। धुन के मण्डल प्रकाश के मण्डल हैं, सुहावनी रचना के मण्डल हैं, यहां पर सुरत का मन बहुत लगता है। इसलिए संतों ने सुरत या धुन के मण्डलों का विशेषतौर पर वर्णन किया है जैसे ज्योति-निरंजन, ओंकार, रारंग, सोहंग, सतनाम, अलख और अगम। ये सारे मण्डल धुन के मण्डल हैं। आखरी मण्डल अर्थात् अनामी धाम शब्द का मण्डल है जो राधास्वामी योग की आखरी मंजिल है। यहां आकर सुरत-शब्द योग का अनुभव पूर्ण हो जाता है। यही आदि शब्द है, स्वामी स्वरूप है, सृष्टि का कुल मालिक है।

अब सुरत अभ्यास करती हुई अलख पुरूष का दीदार करने के लिए अलख लोक में प्रवेश कर जाती है। यह सुरत के आरोहण की 15वीं मंजिल है। साधक जब ध्यान में बैठता है तो आरम्भ में ऐसा शब्द सुनता है जो अपनी ऊंची व मीठी आवाज की गूंज से तर करता रहता है। फिर कुछ ही क्षण बाद एक लहरेदार बीन का लहरा निकल कर आता है। जो शुरू-2 में थोड़े समय के लिए होता है लेकिन ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है धीरे-2 यह शब्द भी बढ़ता जाता है और एक समय ऐसा आता है जब सारे अभ्यास में यही धुन लगातार सुनती रहती है और अभ्यास का अंग बन जाती है। सुरत इस बीन के लहरे के ऊपर अपना सब कुछ वार देती है और इस लहरेदार धुन के ऊपर नाचती हुई अपने आपको पूरी तरह भूल जाती है तथा इसमें समाती चली जाती है। इस

मण्डल की शब्द-धुन सुनकर मन-रूपी सर्प अपने सारे संकल्प-विकल्प भूल जाता है और सुरत के अन्दर समाकर इस धुन पर नृत्य करने लगता है। जिस प्रकार सपेरा सांप पकड़ने के लिए बीन बजाता है, इस मण्डल की धुन उस बाहरी बीन के लहरे से बहुत कुछ मिलती-जुलती है बल्कि अन्दर की बीन उससे कहीं अधिक मनमोहक और लहरेदार होती है। मन अपनी पुरानी चाल को भूल जाता है। इस धुन का वर्णन करते हुए राधास्वामी मत के स्वत: संत राधास्वामी दयाल ताराचन्द जी महाराज फरमाते हैं : धर्म आचार्य और महात्मा कहते हैं कि मन सहस्रार और त्रिकुटी के महाप्रकाशवान मण्डल को देखकर और भंवर गुफा की बंसी की धुन सुनकर काबू में आ जाता है लेकिन मैं कहता हूँ कि भंवर गुफा तक मन अपनी कलाबाजियों से बाज नहीं आता है, बल्कि यहां आकर तो ये और भी विकराल हो जाता है और इसके अंदर के विकार और वृतियां खुल कर प्रकट हो जाती हैं। इसलिए सोहं के स्मरण से मन कभी काबू में नहीं आ सकता। मन रूपी सर्प केवल बीन का लहरा सुनाकर ही काबू किया जा सकता है।''

ज्यों-ज्यों यह शब्द बढ़ता जाता है, शरीर की चेतना का खिंचाव भी नीचे से ऊपर की तरफ बढ़ता जाता है। बिजली की धार की तरह चेतना का प्रवाह सिर की तरफ होने लगता है। सिर में आंखों के ऊपर कुछ इकट्ठा होता हुआ प्रतीत होता है तथा समुह बनाकर बढ़ता ही जाता है। थोड़ी ही देर में इस खिंचाव का दबाव बहुत ही ज्यादा हो जाता है। ये दबाव और खिंचाव सारे सिर को अपनी क्रिया का केन्द्र बनाने लगता है। सारे सिर के अंदर चेतना का खिंचाव इतना अधिक हो जाता है कि सुरत अपने आपको भूलकर इसी चेतनघन में समाने लगती है। खिंचाव ऊपर की तरफ बढ़ने के कारण आंखों की पुतली भी ऊपर की तरफ अपने आप खिंच कर चढ़ जाती हैं। थोड़ी ही देर में आंखें ऐसी बेजान हो जाती हैं जैसे ये पत्थर के बेजान ढ़ेले हों।

बिना ध्यान भी जब अभ्यासी स्थिर होकर कोई प्रेमवाणी आदि टेप रिकार्डर पर सुनता है या सतगुरू प्रेम में खिंच जाता है तो भी उसी तरह सारी चेतना ऊपर खिंच जाने से आंखों की पुतली भी अपने आप उल्ट जाती हैं। आंखों की चेतनधार खिंचकर अपने चेतन भण्डार में जा मिलती है। इस अवस्था का वर्णन हुजूर सालिगराम जी महाराज 'प्रेम पत्र राधास्वामी' भाग दूसरा के वचन 15 (राधास्वामी मत संदेश) के 'बयान हालत खिंचाव सुरत का' में इस प्रकार करते हैं :

''जब आदमी की आंख की पुतली खिंच जाती है, वह फौरन बेहोश हो जाता है, और देह बेकार हो जाती है और मन और इन्द्रियां भी बेकार हो जाती हैं। इसी सबब जब ज्यादा खिंचाव उस धार का हो जाता है, तब आदमी मर जाता है, और जो थोड़ा सा खिंचाव हुआ, तब बेहोश हो जाता है, या नींद आ जाती है और इस तरफ से गाफिल हो जाता है। इससे साबित हुआ कि तमाम कारवाई बदन की, सुरत की धार के आसरे है और इस धार का ऊपर से यानि दिमाग से, आंखों में और फिर तमाम देह में उतरना और फैलना, और फिर अखीर वक्त पर इसी रास्ते से यानि कि आंख के मुकाम से, अंदर और ऊपर की तरफ होकर चले जाना और पिण्ड का छोड़ना साफ इन आंखों से नजर आता है क्योंकि मरते वक्त पांव की उंगलियों से खिंचाव उस धार का शुरू होकर रफ्ता-रफ्ता ऊपर की तरफ को चलता जाता है और जब पुतली उल्ट गई यानि खिंच गई, तब पिण्ड की मौत हो जाती है। इससे साफ जाहिर होता है कि जो कोई जीते-जी संसार और देह के दु:ख-सुख से बचाव चाहे तो वह ऐसी तरकीब करे कि जिससे जब चाहे तब वह अपनी सुरत को आंख के स्थान से अंदर और ऊपर की तरफ जिस कदर मुनासिब और जरूर समझे, खींच ले जावे। तब उसको तकलीफ और आराम, देह और दुनियां से बचाव हो सकता है।''

अत: हुजूर महाराज और राधास्वामी मत के दूसरे संत अभ्यास

की इस अवस्था को जीते-जी-मरना कहते हैं जब आंखों की पुतली उल्ट जाए और उनके स्थान पर आंखों में सफेद ढ़ेले नजर आएं। इस अभ्यास में जीते-जी मृत्यु को जीतना है। संत मत में जीते-जी-मरने का अभ्यास इस मंजिल पर जाकर प्रत्यक्ष होता है। जबकि दूसरे धर्म व सम्प्रदायों में शरीर की शून्य अनुभूति को ही जीते-जी- मरना' कह दिया जाता है, यह अनुभूति तो आज्ञा चक्र और सहस्रार के ध्यान में ही हो जाती है। इसीलिए राधास्वामी मत को करणी का मार्ग कहा गया है, इसमें अभ्यासी की कथनी को लगाम दे दी जाती है। अभ्यासी को वही बात करने की या कर्म करने की सलाह दी जाती है जो आत्मा को मजबूत करे और सतगुरू प्रेम को दृढ़ करे जिससे अभ्यास और करणी में मदद मिले। **'कर्तव्य पालन का ईमानदारी से निर्वहन करना'** राधास्वामी पंथ की सर्वोपरि शिक्षा है और अभ्यास की पहली सीढ़ी है।

मंजिल के अनुभव का वर्णन करते समय बताया जा रहा था कि सिर के अंदर चेतना का ऊपर की तरफ इतना अधिक खिंचाव हो जाता है कि आंखों की पुतली स्वत: ही ऊपर की तरफ खिंच जाती हैं। फिर ऐसी मस्ती आती है कि जहां कुछ भी होश या अनुभव नहीं रहता है। सुरत अनन्त गहराई की शांति में जाकर समा जाती है। जब होश आता है तो वही भारीपन, खिंचाव व आनन्द की सी अवस्था बनी रहती है। फिर भी आंखों की पुतलियां नीचे नहीं उतरती हैं, स्थिर होकर वहीं ठहर जाती हैं। बार-बार वही होश व गुम होने वाली अवस्था आती रहती है। ध्यान का हर पल पिछले क्षण से आनन्ददायी और सुखदायी होता चला जाता है।

अब ध्यान में बैठते ही बीन की धुन सुनाई देने लगती है। ऐसा लगता है जैसे नीचे की सारी चेतना का इस बीन के लहरे के साथ कोई विशेष और सनातन संबंध है। ज्यों-ज्यों बीन का लहरा बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों चेतना का ऊपर की तरफ सिमटाव भी अपने अनोखे अंदाज

से बढ़ता जाता है और सब कुछ सिमटकर सिर के अंदर इकट्ठा होने लगता है। थोड़ी देर में ही सिर में आंखों के ऊपर से चोटी तक बहुत भारी खिंचाव व दबाव बन जाता है। ऐसा लगता है जैसे किसी चीज को इकट्ठा करके उसकी गांठ बांध दी गई हो और घनेपन के कारण उसके अंदर का दबाव फट जाना चाहता हो। यह ऐसा खिंचाव या दबाव नहीं है जिससे सिर में दर्द या भड़क हो जाए जैसा कि बिमारी के समय होता है बल्कि यह दबाव या खिंचाव तो आत्मपूर्ति का साधन है, ताजगी का स्रोत है, परिपूर्णता का भण्डार है। यह तो नीचे की सारी चेतना के इकट्ठा होकर बंधने का स्थान है, बिखरी हुई ताकत को एक नयी एकता का रूप देने का दिव्य आश्रम है। रूपान्तरण को व्यावहारिक रूप देने का रहस्यमयी सूत्र है जिसकी व्याख्या और अभिव्यक्ति नीचे की सारी रचना और चेतना में होती है।

कबीर साहब इस लोक का वर्णन करते हुए लिखते हैं :

आगे अलख लोक है भाई,
अलख पुरूष की तहं ठकुराई,
अरबन सूर रोम सम नाहीं,
ऐसा अलख निहारा है।
कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।

कबीर साहब कहते हैं कि आगे अलख लोक है जहां पर अलख पुरूष का साम्राज्य है। अरब सूर्य का प्रकाश भी अलख पुरूष के रोम की बराबरी नहीं कर सकता।

अब जैसे-जैसे ध्यान आगे बढ़ता जाता है तो चेतना का खिंचाव और दबाव लगातार बढ़ने से सिर भारी और भारी होता जाता है। ऐसा लगता है जैसे यहां की रचना का ठहराव बहुत ही भारी गोले के रूप में है जिसका विस्तार अनन्त है। स्पष्ट है रचना के इस भाग में गुरूत्वाकर्षण शक्ति या खींचने की शक्ति अधिक ही होगी। विज्ञान की खोज के

लिए यह एक महत्वपूर्ण सूत्र हो सकता है। यहां की रचना बिना सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश के ही महाप्रकाशवान है। इस प्रकाश का कोई स्रोत नहीं है, बल्कि यह मण्डल स्वत: ही प्रकाश का भण्डार है। इसके प्रकाश से नीचे की साकार रचना और ब्रह्मण्ड के विशालकाय भूगोलिय पिण्ड अस्तित्व में आए हैं। इन भूगोलिय पिण्डों व आकाशगंगाओं के अस्तित्व के लिए किसी 'बिग बैंग' अर्थात् महा विस्फोट की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

ध्यान की गहराई में जाकर अब शब्द-धुन कमजोर पड़नी शुरू हो जाती है। मन के सभी विचार और संकल्प विकल्प गिरते हुए व टूटते हुए महसूस होते हैं अर्थात् मानसिक तंत्र की चेतना खिंच जाने के कारण मन और बुद्धि की गति स्थिर होने लगती है। इसके बाद अंदर से कोई चीज या ताकत शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा से ऊपर उभर कर आती है जो इन सबकी चेतना के ऊपर अधिकार जमाकर अर्थात् अपने अंदर मिलाकर खुद को भी भूल जाना चाहती है। तभी आंखों की धार खिंचकर अंदर चली जाती है और पुतलियां चेतनधार के अभाव में अपने आप ऊपर चढ़ कर पलट जाती हैं और ऐसी मस्ती छा जाती है जिसका वर्णन करना बहुत ही मुश्किल है। चेतन ध्यान में कई बार ऐसा महसूस होता है जैसे दोनों आंखों के मध्य से बार-बार कुछ फड़फड़ाकर ऊपर जा रहा हो या पिंजरे का कैदी आसमान की मुक्त सैर करना चाहता हो। अब ध्यान में कभी-कभी एक धुन और सुनाई देने लगती है जो कुछ-कुछ बहुत सारी घंटालियों के बजने जैसी होती है।

यहां पर सुरत को ध्यान में अपनी विशालता का अहसास और अनुभव होने लगता है। जब सारी चेतना सिर के अंदर इकट्ठी होकर समूह बनाने लगती है तो ऐसा लगता है जैसे यह शरीर भी एक विशाल सूक्ष्म शरीर बनकर फैलता जा रहा है और सारे आकाश में, सारे ब्रह्मण्ड में और उससे भी ऊपर अनेक स्तर पर इसका विस्तार हो रहा है। दुनियां

के सभी चेहरों और आकृतियों के अंदर यही रूप व्याप्त हुआ जा रहा है। साधक यह सब होश में रहता हुआ महसूस करता है। फिर ऐसा लगता है कि मैं, मैं नहीं हूँ। सब कुछ सतगुरू का ही पूर्ण स्वरूप है। सतगुरू-सतगुरू नहीं हैं, मेरा ही विशाल रूप हैं। यहां पर आकर गुरू-शिष्य का भेद समाप्त हो जाता है। सतगुरू रहता है तो शिष्य नहीं, शिष्य रहता है तो सतगुरू नहीं। इसी स्थान पर आकर कबीर-साहब कहते हैं :

जब मैं था तू नाहीं, अब तू है मैं नाहीं।
प्रेम गली अति सांकरी, तां में दो ना समाही।।

अब सुरत अपने एकत्व को भूलकर सतगुरू के विशाल स्वरूप में समाने लगती है और अपने अंदर उसी विशालपने को उतारती चली जाती है। इस प्रकार सुरत अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति की तरफ अगला कदम रखती है और अपनी विशालता में फैलती चली जाती है। बार-बार कोशिश करती है अपने एकल स्वरूप में आने की लेकिन नहीं आ पाती है और सतगुरू के इस विशाल स्वरूप में समाकर सुरत धन्य हो जाती है। वह सोचती है कि उसका रूप कितना विशाल है। सबसे दूर बिलकुल खाली, उससे थोड़ा नीचे कुछ मस्ती, फिर कुछ हलचल, फिर कुछ जिम्मेदारियां ले ली, फिर सुख-दु:ख में फंसना और फिर रम गया कण-कण में। इस समय एक ऐसा स्वतंत्र रूप उभर कर आता है जिससे कुछ अलग नहीं, जो सबके अंदर है, सबसे परे भी, ऊपर से ऊपर भी और अन्दर के अन्दर भी।

इस समय ये भी महसूस होता है कि अंदर में जो ख्याल पैदा होते हैं जैसे परोपकार करने के, किसी का भला करने के, काम करने का बीड़ा उठाना आदि सभी कुछ नीचे का व्यवहार है, वो कभी खत्म नहीं होता। न मरता है, न जन्मता है, वो तो सदा से ज्यों का त्यों है। अपने अनेकों रूपों में खेल खेलता है और खिलाता है। ऐसा अनुभव करते

समय सारा शरीर शिथिल हो जाता है तथा हिलाने से भी नहीं हिलता है।

अब सुरत शब्द की लय अवस्था की तरफ बढ़ने लगती है जो उसकी यात्रा की 16वीं मंजिल है। जब सुरत बीन का लहरा और उसके साथ कभी-कभी घंटालियों की धीरे-धीरे होने वाली झनकार जैसी आवाज सुन लेती है तो फिर धीरे-धीरे धुन समाप्त होने लगती है और ध्यान में एक बार फिर लय की अवस्था आने लगती है, शब्द की अवस्था आने लगती है लेकिन यह लय अवस्था ऐसी नहीं है कि यहां आकर ध्यान रूक जाता है। यहां भी चेतना का शांतिप्रद सिमटाव होता रहता है। इसमें भी बहुत रोचक अनुभव होता है और सुरत आनन्द मग्न होकर यहां के पुरूष के संग समाधिस्थ हो जाती है और अपनी सत्ता, चेतना और आनन्द को इस पुरूष की सत्ता, चित और आनन्द में समतायुक्त विलय कर देती है। यह 16वां मण्डल है जो अलख पुरूष का असली धाम है। यह शब्द का मण्डल है। 15वीं मंजिल में सुरत अलख लोक में इस पुरूष की शक्ति के साथ सालोक मुक्ति प्राप्त करती है लेकिन 16वीं मंजिल पर आकर अलख पुरूष के धाम में जाकर उसके साथ साधर्म होकर लय हो जाती है अर्थात् उसी का स्वरूप बन जाती है। 15वां मण्डल सुरत का अर्थात् धुन का मण्डल था लेकिन 16वां मण्डल 15वें मण्डल की धुन को प्रकट करने वाला शब्द का मण्डल है।

अब ध्यान में बैठते ही सिर के मध्य में ऐसा शब्द सुनाई देता है जिसमें अब कोई धुन नहीं है। शरीर तथा सिर की मानसिक चेतना में खिंचाव होने लगता है लेकिन इसमें अब किसी प्रकार की पीड़ा या दर्द नहीं रहता है, अति सुखकर खिंचाव होता है। सिर में खिंचाव बढ़ता ही जाता है। सिर में इतना खिंचाव और इतने घनेपन का दबाव हो जाता है कि सिर में कड़-कड़ या चट-चट की आवाज होने लगती है, जैसे सिर की नसें और नाड़ियां दबाव को सहन नहीं कर पा रही हैं और उनका

आंतरिक अवरोध खुल रहा है। ऐसा लगता है जैसे चेतना की शक्ति का कोई स्तर अभी भी सुषुप्त पड़ा है और प्रकट होना चाहता है। ये कड़-कड़ की आवाज ऐसी होती है जैसे किसी कठोर चीज के धीरे-धीरे टूटने से होती है। ये टूटने जैसी आवाज काफी दिनों तक अभ्यास में बढ़ती ही जाती है। इसके बाद ध्यान इतनी गहराई में चला जाता है जहां कुछ भी होश नहीं रहता। बहुत भारी मस्ती आ जाती है। जब होश आ जाता है तो वह होश भी बेहोशी की सी हालत में होता है, सारा शरीर तथा मस्तिष्क अति शिथिल और जाम हो जाता है। सारा शरीर इस तरह से अपनी जगह पर जाम हो जाता है जैसे किसी चीज की खींचकर गांठ (गठरी) बांध दी गई हो और बरसों से अपनी जगह पर पड़ी रहने से वह उसी जगह पर जड़ जाती है, जाम हो जाती है। उसमें कोई गति नहीं रहती है और हिलाने पर भी अपनी जड़ें नहीं छोड़ना चाहती है। सारी शारीरिक, मानसिक और ऊपरी मण्डलों की चेतना ध्यान की गहराई में समा जाना चाहती है। मस्तिष्क चाहते हुए भी कोई विचार या तंरग नहीं उठा पाता है। अगर विचार उठता भी है तो उसकी अवस्था अलग-थलग बनी रहती है यानि कि अंदर कुछ ऐसा होता है जो अपनी मस्ती में पड़ा रहता है तथा किसी हरकत और हलचल की पहचान नहीं करना चाहता है। यदि मस्तिष्क विचारों के द्वारा अपनी हलचल पैदा करना चाहता है तो वह उस गहराई या मस्ती से अलग-थलग हो जाता है और जैसे अंदर की कोई शांति उसकी इस हलचल को देख रही है तथा उसे भी अपने अंदर समा जाने को कह रही हो। फिर एक ऐसी अवस्था आती है जहां शरीर, मस्तिष्क तथा वो अंदर का आत्मरूप किसी असीम, अनन्त गहराई में अपना अस्तित्व भी खो देते हैं और उसी में समा जाते हैं।

बिल्कुल अंदर की एक ऐसी अवस्था महसूस होती है जहां किसी भी चीज का अलग अस्तित्व नहीं है, केवल एकता की असीम गहराई है जिसकी कोई थाह या होश नहीं है, सम्पूर्ण चेतना की एकता या अद्वैत

का भी होश नहीं है। इसके बाहर दूसरी वह अवस्था महसूस होती है जहां कुछ मस्ती है, होश रहते हुए भी बेहोशी है तथा शरीर, मन, आत्मा व सुरत अलग रहते हुए भी एक रूप में बंधे रहते हैं। तीसरी वह अवस्था है जहां मन अपना कुछ-कुछ विचार उठाना चाहता है, शरीर अपने अंदर हो रहे अति भारी व शांत खिंचाव का अहसास कराना चाहता है तथा सुरत शब्द सुनना चाहती है लेकिन अन्दर की एक गहराई शांत रहती हुई उन्हें अपना अस्तित्व खोकर अपने अंदर समा जाने के लिए प्रेरित करती रहती है।

इस मण्डल की लय अवस्था में सुरत का पड़ाव बहुत लम्बा होता है। सच्चखण्ड की दो लय अवस्थाओं, एक सतलोक से ऊपर और दूसरी अलख लोक से ऊपर, को पार करने में बहुत ही लम्बा समय लगता है, लेकिन ध्यान इतना रोचक होता है कि इसे छोड़ने को मन नहीं करता है। ऐसे में अभ्यासी के लिए हर रोज 6 से 8 घंटे का ध्यान करना कोई मुश्किल काम नहीं हैं। ध्यान खुद ही साधक को अपनी तरफ खींचता रहता है। सच्चखण्ड के इन दो शब्द मण्डलों की लय अवस्थाओं में ध्यान धीरे-धीरे आगे बढ़ता है लेकिन जब भी कोई मण्डल धुन के साथ आता है तो उसमें ध्यान बहुत ही तेज गति के साथ आगे बढ़ने लगता है और यही सुरत को भी अच्छा लगता है। सुरत बहुत ही लगन के साथ धुन के मण्डलों को पार करती है और फिर जल्दी ही लय अवस्था में जाकर उस मण्डल के स्वामी के साथ समाधिस्थ होकर उसके साथ एक रूप हो जाती है। सुरत इन लय अवस्थाओं में बहुत लम्बा पड़ाव डालती है। यह आवश्यक भी है क्योंकि सुरत को इस शारीरिक, मानसिक और आत्मिक चेतना को तैयार करना पड़ता है ताकि ये यहां तक के शक्ति अवतरण के अनुभव को अपने अंदर संचित कर सके और ऊपर आने वाले मण्डलों की ताकत को अपने अंदर हजम कर सके तथा सहन करने के योग्य हो सके वरना इनका

कार्य अस्त-व्यस्त हो जाएगा। विशेषकर सच्चखण्ड में जाकर जब नीचे के चक्रों की अति रमी हुई चेतना को भी सुरत खींचने लगती है तो इनके अंदर शिथिलता आने लगती है, इनकी गति रूकने लगती है। नाड़ी और हृदय की गति भी शिथिल हो जाती है, केवल नाममात्र की रह जाती है। उस समय यह आवश्यक है कि ध्यान तेजी से चलने की बजाय धीरे-धीरे आगे बढ़े वरना शरीर की किसी प्रणाली के कार्य में रूकावट आ सकती है तथा साधक किसी बिमारी का शिकार हो सकता है लेकिन जिसके सिर पर पूर्ण सतगुरू का हाथ है वह निश्चिंत रहता है क्योंकि वे सब बातों के जानकार होते हैं और अपने प्यारे शिष्य की संभाल करते रहते हैं तथा ऐसे किसी भी उतार चढ़ाव से बचाते रहते हैं। यही कारण है कि सच्चखण्ड का ध्यान करते समय खास तौर पर अलख, अगम के मण्डल के ध्यान के समय अभ्यास से उठने के बाद उल्टी गिरने जैसी हालत हो जाती है और जब भी साधक ख्याल में भी ध्यान की गहराई में जाने की कोशिश करता है तो वही अवस्था आने लगती है। इस कारण शरीर पर बुरा असर पड़ सकता है। अत: ऊंचे मण्डलों का ध्यान करते समय साधक को अपने शरीर की तरफ से बेखबरी नहीं होनी चाहिए। इसलिए इन लय अवस्थाओं का लम्बे समय तक आना आवश्यक है ताकि शरीर, प्राण और मन महाचेतन मण्डलों की चेतना के साथ तादात्मय और समता स्थापित कर सकें और इनका साथ-साथ रूपान्तरण हो सके। ध्यान की आरम्भिक अवस्था में जब कुण्डलीनी शक्ति जागती है और नाभि कमल तथा हृदय कमल का भेदन करती हुई आज्ञा चक्र पर प्रकट होती है तो शारीरिक क्रियाओं में तेजी आती है, भूख ज्यादा लगती है, शरीर में भी मजबूती महसूस होती है क्योंकि कुण्डलीनी शक्ति के जागने से या प्राणायाम करने से नाभि कमल में व्याप्त अग्नि तत्व प्रकट होने लगता है जिससे सारे शरीर में स्थूल ऊर्जा का फैलाव होता है। उस समय जब अभ्यास से उठते हैं तो

खाने की भूख अधिक लगती है जिसकी पूर्ति स्थूल भोजन द्वारा की जाती है लेकिन सच्चखण्ड में आकर इसके विपरीत हो जाता है। शरीर की तृप्ति खाने से नहीं भजन से होने लगती है। स्थूल भोजन की जरूरत कम होती चली जाती है। इसका कारण यह है कि सच्चखण्ड के ध्यान में अंदर अमृत रस टपकने लग जाता है। इसे पी-पी कर शरीर और मन अघा जाते हैं। दूसरा कारण यह है कि इस ध्यान में नीचे के स्थूल मण्डलों की चेतना और कार्य शक्ति ऊपर खिंच जाती है जिससे इनकी कार्य करने की क्षमता में कमी आ जाती है। ऐसे में यदि खान-पान और रहन-सहन का उचित ध्यान रखा जाए, ब्रह्मचर्य का पालन किया जाए और किसी पूर्ण सतगुरू की शरण में रहकर अभ्यास किया जाए तो अभ्यासी को कोई रूकावट नहीं आती है और वह भी अपने अंदर सतगुरू की पूर्ण ताकत की अनुभूति कर लेता है तथा अपने जीवन को परमात्मा के अमृत और आनन्द से परिपूर्ण कर लेता है।

सच्चखण्ड की लय अवस्थाओं में सुरत को दु:ख नहीं है। यहां पर प्रकाश की भरमार है। शब्द की मीठी और मनमोहक गूंज है, चेतना का सिमटाव गति में रहता है, समाधि भी आनन्ददायक है लेकिन सुरत इस स्थावर और बीच की अपूर्ण अवस्था को पसन्द नहीं करती है। इसे सतगुरू से दीक्षा लेते समय ज्ञान हो गया था कि इसकी आखरी मंजिल की निशानी क्या है और वह अभी नहीं आई है। शब्द-भेदी सतगुरू अपनी प्यारी सुरत को शुरू में ही दस प्रकार के शब्दों का भेद और 18 मंजिलों का रहस्य समझा देते हैं ताकि रास्ते की कोई ताकत सुरत का रास्ता न रोक सके। इसका लक्ष्य आरम्भ में ही निश्चित कर दिया जाता है क्योंकि बिना पूरा भेद जाने, ना जाने कितने धर्म-सम्प्रदाय और महात्मा इन रास्ते की ताकतों की भेंट चढ़ गए। इसलिए सुरत अपने मुर्शिद की शरण में रहती हुई अपने लक्ष्य के प्रति सचेत रहती है। इसलिए सुरत अलख पुरूष के साधर्म योग से संतुष्ट नहीं होती है और

राधास्वामी धाम में पहुंचने के लिए सतगुरू प्रेम और विरह में तड़फने लगती है। ऐसी अवस्था में एक बार फिर सतगुरू प्रेम और स्मरण सुरत के लिए 'अंधे की लाठी' अर्थात् मददगार सिद्ध होते हैं।

अगम लोक व निज-स्वरूप की प्राप्ति

अगम लोक तक सुरत अनेकों उतार-चढ़ाव देखती हुई व अनुभव करती हुई आती है। यह सुरत की यात्रा की 17वीं मंजिल है। सतगुरू प्रेम में लिपटी हुई, विरह की तलवार और स्मरण की ढ़ाल बनाकर सुरत अब अपने लक्ष्य के निकट पहुंच जाती है। सुरत ने प्रकाश, शब्द और चेतना के सिमटाव के अलग-अलग प्रकार के अनुभव प्राप्त किए तथा रास्ते में आने वाले मण्डलों की सत्ता, चेतना और उस मण्डल के स्वामी के साथ एकता स्थापित की। ब्रह्मण्ड के ध्यान यानी कि भंवर गुफा तक प्रकाश और अंधकार के विशाल मैदान रास्ते में आए। प्रकाश और अंधकार का यह अनुभव सुरत के लिए बड़ा विचित्र और रोमांचकारी था। आरम्भ में जब आज्ञा चक्र या तीसरे नेत्र का ध्यान खुलता है तो सुरत ने आकाश जैसे नीले और बादलों जैसे श्यामले रंग का प्रकाश देखा जो काल व माया अर्थात् पदार्थ के पैदा करने वाला रंग है। ज्यों-ज्यों ध्यान की अवस्था ऊँची होती गई, त्यों-त्यों प्रकाश में पीलापन, नारंगी, नारंगी-लाल और लाल रंग की आभा सम्मिलित होती गई। नीला व श्यामला रंग काल व माया का रंग है, पीले रंग की धार के अंदर सुरतों का मसाला है और लाल रंग का प्रकाश ओंकार पुरूष (ब्रह्म) और रारंग पुरूष (परब्रह्म) का है। ज्योत निरंजन के स्थान पर भी लाल और नारंगी लाल रंग दिखाई देता है। यह प्रकाश ब्रह्म व परब्रह्म की चेतना का प्रतीक है। त्रिकुटी में समा जाने के बाद सुरत का रंग भी लाल होता जाता है। यहां के ध्यान का वर्णन करते हुए कबीर साहब कहते हैं :

लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।

ब्रह्म के देश का वर्णन करते हुए स्वत: संत ताराचन्द जी महाराज

'अनुभव प्रकाश' के अंग 'कंवल भेद निर्णय' में लिखते हैं :

त्रिकुटी मण्डल आ गया, यह है ब्रह्म का देश।
यह है अति सुहावना, भ्रम रहे ना लेश।
चार दल का कमल है, ओ३म् ओ३म् की धुन।
यहां से ही उत्पन्न हुए, मानो तीनों गुन।।
लाल वर्ण उजियार है, सूरज का प्रकाश।
पीले बादल ज्यों लाली खिली, देखे गुरू का दास।।

हुजूर सालिगराम जी महाराज काल पुरूष और सुरत की धार का वर्णन करते हुए 'प्रेमपत्र राधास्वामी पहला भाग' के वचन 28वां में फरमाते हैं, ''सतलोक के नीचे जो गिलाफदार चैतन्य था, वह किसी कदर काले रंग का था। जब उसकी कशिश सतलोक की तरफ हुई तो उसका गिलाफ दूर होकर नीचे को गिराया गया, पर वह काबिल इसके न था कि सतपुरूष के चैतन्य के साथ तदरूप हो जावे। इस वास्ते वह सतलोक के नीचे के अंग से किसी कदर श्याम रंग, नूरानी धार रूप होकर प्रकट हुई और वह धार नीचे की तरफ दिन-दिन बढ़ती गई। इसी धार का नाम निरंजन और काल पुरूष है। तब यह निरंजन की धार उतर कर नीचे आई और चाहा की रचना करे, पर इसकी ताकत ऐसी न थी कि तनहा (अकेला) कार्रवाई कर सके। फिर इसने सतपुरूष के चरणों में अर्ज हाल किया। तब वहां से दूसरी धार पीले रंग की जो कि ऐन चैतन्य थी और सुरत यानी रूहों का बीज उसमें मौजूद था, नीचे उतारी गई। इसका नाम आद्या या जोत हुआ।''

ब्रह्मलोक पार करने के बाद सुरत सच्चखण्ड में आकर सतपुरूष का दीदार करती है और उसकी चेतना के मण्डल में समा जाती है। यहां के प्रकाश में उसने लाल रंग के साथ सुरत की धार का रंग जो पीला है और सतपुरूष की धार जिसका रंग सफेद है, के दर्शन किए। इस मण्डल के प्रकाश में पीलापन, सफेद व लाली की मिलावट होने से

सुनहरी रचना के भव्य दृश्य सुरत के समक्ष प्रस्तुत होते हैं। सुनहरे सूर्य, सुनहरा चन्द्रमा व तारे और सारी रचना भी सुनहरी, यह देखकर सुरत आनन्द मग्न हो जाती है और सतपुरूष की गोद में निशब्द होकर समाधिस्थ हो जाती है। इस मण्डल की रचना के बारे में स्वामी जी महाराज कहते हैं :

पंचम किला तक्त सुलतानी।
बादशाह सच्चा निज जानी।।
अमृत कुण्ड अमी की खाई।
महल सुनहरे रचे बनाई।।

यहां का वर्णन करते हुए सतपुरूष ताराचन्द जी महाराज ''कंवल भेद निर्णय'' में लिखते हैं :

खुद के अंदर खुद है, नहीं है अपना भेद।
सुरत चढ़े सतलोक में, मिटे कर्म का खेद।।
यहां पर बीणा बज रही, सतनाम की धुन।
बाग बगीचे देखकर, हो गई सुरत मगन।।

अत: यहां की रचना इतनी प्यारी है कि सुरत को अपनी तरफ खींच लेती है। इसके बाद अलख लोक में ध्यान की ऊपरी अवस्था में प्रकाश के अंदर और अधिक पीलेपन और सफेदी का समावेश हो जाता है लेकिन अंदर ध्यान की गहराई में जाकर इसमें सफेद रंग अधिक आने लगता है, परन्तु फिर भी इसमें लाल रंग और पीले रंग की मिलावट प्रकाश को मनमोहक बना देती है।

प्रकाश के स्वरूप व दर्जों का वर्णन करते हुए 'प्रेमपत्र राधास्वामी पहला भाग' के वचन 16वां में हुजूर सालिगराम जी महाराज लिखते हैं :

1. पहले सफेद और साफ रोशनी : यह दयाल देश का रूप है और बाकी सफेद रोशनी में दयाल देश की रचना के दर्जे

गुप्त हैं।
2. और जहां से कि सफेदी के ऊपर सुर्खी शुरू हुई, वह त्रिकुटी का नमुना है।
3. और जहां से कि सुर्खी के ऊपर जर्द रोशनी सब्जी मायल शुरू हुई, वह सहसदल कंवल का नमूना है। और
4. जहां से कि सियाही मायल रोशनी शुरू हुई और फिर धुआं वगैरा, यह पिंडी रचना का वाच रूप है।

हुजूर सालिगराम जी महाराज उच्चतम कोटि के संत थे। उन जैसा गुरूमुख शिष्य आज तक शायद ही पृथ्वी पर आया हो। उन्होंने ही अपनी भक्ति और तपस्या के बल पर राधास्वामी नाम प्रकट किया। उनकी वाणी अभ्यास की अवस्था जांचने के लिए स्वत: सिद्ध प्रमाण है और राधास्वामी योग का वर्णन करते समय बतौर प्रमाण उद्धृत की जाती है। प्रकाश के प्रकटीकरण का वर्णन करते हुए हुजूर महाराज ''प्रेमपत्र राधास्वामी दूसरा भाग'' के वचन 21 (10) में इस प्रकार लिखते हैं, ''जितने रंग हैं, सब ब्रह्मण्ड और पिण्ड देश, यानि दूसरे और तीसरे दर्जे में रचना के हैं और यह चैतन्य और माया यानी नूरानी और अंधेरी किरणों की मिलौनी से जाहिर हुए। पहले लाल रंग और फिर पीला रंग और फिर नीला यानी श्याम रंग और यही तीनों रंग तीनों गुण सतोगुण रजोगुण और तमोगुण के हैं और बाकी के रंग इन तीनों की कमी या वेशी और मिलौनी से जाहिर हुए। इस देश (सतदेश) में जो सेत रंग है वह किसी कदर निर्मल है, पर थोड़ी सी श्याम किरनियां उसमें भी मिली हुई हैं और सब रंग इसी से प्रकट हुए।''

स्पष्ट है कि ब्रह्मण्ड तक प्रकाश और अंधकार की आंख-मिचौनी चलती रहती है। अत: महासुन्न तक काल पुरूष व माया की चेतना विद्यमान रहती है, इससे ऊपर सच्चखण्ड में अधंकार नहीं रहता है, यहां पर प्रकाश ही प्रकाश है। यहां का प्रकाश ही सबका

स्रोत है। सुरत स्वयं भी इसे देखते-देखते प्रकाश स्वरूप हो जाती है। ब्रह्मण्ड तक की रचना का विवरण देते हुए हुजूर महाराज 'प्रेमपत्र राधास्वामी दूसरा भाग' के वचन 21 (15) में कहते हैं, ''सूरत चैतन्य नूरानी है और काल, अंधेरा रूप है। इस वास्ते अपनी हद में यह हमेशा उसको निगलता-उगलता रहता है। अपना रूप उसको नहीं बना सकता यानी सुरत का और अंधेरे या काल का जौहर एक नहीं है और न यह दोनों आपस में तदरूप होकर मिल सकते हैं पर अंधेरा सुरत को अपने पेट में धर लेता है। इसी सबब से रचना के तीसरे दर्जे में, जहां काल और माया का बहुत जोर है, जन्म-मरन जल्द होता है और जीवों को दु:ख और क्लेश भी ज्यादा है, क्योंकि अमृत रूपी नूरानी किरणें यहां बहुत कम हैं और अंधेरी यानी जहरीली किरनियां बहुत हैं और ये हमेशा नूरानी किरनियों का आवरण यानी गिलाफ हो जाती हैं।''

जब अभ्यास में बैठते हैं तो अलग-अलग मण्डलों पर प्रकाश की गति और स्थिरता में भी बदलाव आता रहता है। आज्ञा चक्र और सहस्रार पर जब प्रकाश प्रकट होता है तो वह सर्प के मुण्ड की तरह फैलता और सिकुड़ता हुआ भव्य दृष्य प्रस्तुत करता है। प्रकाश का इस तरह प्रकट होना, शास्त्रों में कुण्डलीनी शक्ति जिसे सर्पिणी शक्ति या शिव का अर्धनारीश्वर स्वरूप भी कहा गया है, का जागना व अपने उच्चतम स्वरूप में प्रकट होना कहा गया है। सुदर्शन चक्र की तरह चक्र काटता हुआ यह प्रकाश, सुरत को ऐसा लगता है जैसे उसके अंदर में यह प्रकाश बढ़ता ही जाता है। सहस्रार में सहस्र मुखों वाले विराट पुरूष का साक्षात विलक्षण रूप सुरत को हर्ष से आनन्दित कर देता है। विराट पुरूष या विश्व आत्मा का यह रूप सहस्रदल कंवल पर हजारों मुख व कई सहस्र भुजाओं के साथ दिव्यता के साथ विराजमान है। इससे ऊपर त्रिकुटी के स्थान पर ब्रह्म का हिरण्यगर्भ स्वरूप विराजमान है जो अव्याकृत बनकर परब्रह्म की सुषुप्ति के अधंकार (महासुन्न) में

बीज रूप में सो रहा है। सुरत इन सबके साथ तद्रूप होती हुई और इनके साथ साधर्मयोग करती हुई ऊपर की तरफ चढ़ाई करती जाती है। ब्रह्मण्ड की सीमा तक यानी भंवर गुफा तक जब-जब प्रकाश के मण्डल आते हैं तो प्रकाश की गति बढ़ जाती है। सतगुरू के प्रति जितना प्रेम और विरह बढ़ता जाता है, प्रकाश की मात्रा और गति दोनों बढ़ते जाते हैं। ब्रह्मण्ड तक धुन अर्थात् सुरत के मण्डल के बाद जब किसी मण्डल की साम्य अवस्था या शून्य अवस्था आती है, जहां पर अंधकार ही अंधकार होता है तो यह अंधकार सारे प्रकाश को निगल जाता है लेकिन सच्चखण्ड में जाकर प्रकाश का अनुभव बदल जाता है। यहां पर जब प्रकाश प्रकट होता है तो इसमें भी अत्यधिक गति रहती है, लेकिन ज्यों-ज्यों चेतना का खिंचाव बढ़ता जाता है और ध्यान की गहराई की तरफ खिंचते जाते हैं, त्यों-त्यों प्रकाश की गति में स्थिरता आती जाती है लेकिन जब ध्यान की सतह पर आते हैं अर्थात् ध्यान में बैठते समय और उठते समय प्रकाश की गति फिर यकायक बढ़ जाती है।यही गति सोते-जागते, उठते-बैठते बनी रहती है और सुरत उसे देखते-देखते सतगुरू के इस नूरी स्वरूप को नमन करती है। सच्चखण्ड में आकर अभ्यासी को सुरत अर्थात् धुन के मण्डलों में एक ही समय के अभ्यास में दो तरह के अनुभव होने लगते हैं। चेतना के ऊपरी अर्थात् बाहरी स्तर पर प्रकाश में अस्थिरता व अत्यधिक गति और गहराई में जाकर उसमें स्थिरता का अनुभव व गति में भी कमी। इसका कारण है कि ऊपरी स्तर पर सुरत की चेतना की मिलौनी शारीरिक, प्राणिक और मानसिक चेतना के साथ रहती है लेकिन ध्यान की गहराई में जाकर शारीरिक, प्राणिक, मानसिक और आत्मिक चेतना सुरत की चेतना के अंदर खिंच जाती है और उसमें समाकर उसी का रूप बन जाती है जिससे उनका रूपान्तरण स्वत: ही होता जाता है और ये बाहरी चेतना के कोष हर समय सतपुरूष की परम् सत्ता में विलीन होने के लिए आतुर रहते हैं तथा अभ्यासी जब

भी एकान्त में जाता है, उसकी आंखें स्वत: ही बन्द हो जाती हैं। अब अभ्यासी के अन्दर यही योग दिन-रात, सोते-जागते सहज रूप से लगातार चलता रहता है। पलक बंद करते ही सतगुरू का नूरी स्वरूप झाल मारता हुआ प्रकट हो जाता है लेकिन जब-जब चेतना की साम्यवस्था आती है यानी कि जब सुरत (धुन) के मण्डल के बाद शब्द का मण्डल आता है तो एक बार फिर प्रकाश की गति थम सी जाती है। यहां पर भी प्रकाश इतनी अधिकता में होता है कि उसमें अंधकार नाममात्र भी नहीं है लेकिन उसकी गति में काफी विराम लग जाता है। ये शब्द के मण्डल सुरत की लय अवस्था हैं। यहां पर नीचे के मण्डलों की सारी चेतना सिमटकर उस मण्डल के शब्द यानी उस मण्डल के स्वामी के साथ एक रूप हो जाती है। सतगुरू के नूरी स्वरूप की यह अनुभूति सतलोक और अलख लोक की है लेकिन ज्यों ही सुरत अगम पुरूष के मण्डल में प्रवेश करती है तो उसके अन्दर उसी प्रकार एक ही समय के ध्यान में दो तरह का अनुभव समाया रहता है लेकिन यहां की लय अवस्था उस तरह की लय अवस्था नहीं है जो सतलोक और अलख लोक से ऊपर आने वाले शब्द के मण्डलों के अनुभव में आती है बल्कि यहां की लय अवस्था सुरत की शारीरिक, प्राणिक, मानसिक और आत्मिक मृत्यु है और इस अवस्था में स्थायी तौर पर केवल पूर्ण शारीरिक मृत्यु के समय ही ठहरा जा सकता है। इसलिए सुरत को वापिस धुन (राधा) के मण्डल में आना पड़ता है, जहां पर वह उसी तरह एक ही समय के ध्यान में दो प्रकार के प्रकाश का अनुभव करती है जिस तरह से उसने सतलोक और अलख लोक के धुन के मण्डलों में यह अनुभव किया क्योंकि अब सुरत सदा आदि सुरत यानी आदि धुन के मण्डल में निवास करती है। आदि शब्द की लय अवस्था का अनुभव केवल समाधिस्थ होकर करती है जहां वह स्वामी का स्वरूप बनकर निज-स्वरूप की प्राप्ति कर लेती है। यही सुरत की यात्रा की 18वीं व

अन्तिम मंजिल है। यहां आकर समस्त गति रूक जाती है। शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और सुरत की चेतना अपने आदि स्वरूप अर्थात् स्वामी में विलीन हो जाती है और आदि शब्द में मिलकर स्वामी स्वरूप हो जाती है। यह सुरत के लोक-परलोक, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, द्वैत-अद्वैत सभी की सम्पूर्ण मृत्यु है और प्रेम के अथाह सागर में परम समाधि है।

कहने का अभिप्राय यह है कि यहां के ध्यान में जब अभ्यासी अभ्यास में बैठता है तो स्तह पर उसी प्रकार प्रकाश की भरमार और ध्यान की गहराई में जाकर प्रकाश की गति और मात्रा में कमी और उसके बाद आदि शब्द यानी अनामी धाम में उसकी पूर्ण लय और पूर्ण समाधिस्थ अवस्था। अभ्यास से उठने के समय फिर आदि सुरत के मण्डल में वापसी जहां पर हर समय राधास्वामी धुन गुंजायमान रहती है और प्रकाश झरने की तरह बहता रहता है। सारा शरीर प्रकाश का अखण्ड और अनन्त स्रोत बन जाता है। आंख बंद करते ही नूर ही नूर नजर आता है, सारी चेतना सतगुरू के नूरी स्वरूप में रूपान्तरित हो जाती है। सतगुरू-शिष्य का भेद समाप्त हो जाता है।

अत: सुरत-शब्द योग में समाधि की सर्वश्रेष्ठ अवस्था में सुरत एक ही समय के ध्यान में अखण्ड व अनन्त प्रकाश का अनुभव करने के साथ-साथ अप्रकाश, निप्रकाश और प्रकाश की लय अवस्था का अनुभव भी करती चलती है। इसी प्रकार इस अकथनीय अवस्था में आकर शब्द का अनुभव भी साथ-साथ अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच जाता है। अपनी उच्चतम अवस्था में सुरत हमेशा धुन के मण्डल, स्वयं के मण्डल में जहां से इसका जन्म हुआ था और यह आदि सुरत कहलाई थी, में समाई रहती है। कितना भी अभ्यास किया जाए, सुरत होश की अवस्था में रहते हुए आदि धुन के मण्डल अर्थात् अगम लोक के मण्डल से ऊपर नहीं जा सकती है। कहने का अभिप्राय यही है कि यहां तक के

ध्यान में कोई भी मण्डल ऐसा नहीं आता है जिसमें सुरत धुन के मण्डल में ठहर सके। इसका ठहराव किसी भी मण्डल की धुन को जारी करने वाले शब्द के मण्डल में जाकर होता है। धुन के मण्डल में प्रवेश करते ही कुछ ही दिनों के अभ्यास में उसे शब्द के मण्डल में जाकर विलीन या समाधिस्थ होना ही पड़ता था जहां धुन शब्द के अंदर समायी रहती है, यही सुरत का शब्द में समाना है और इसी का नाम सुरत-शब्द योग है। इसी प्रकार सुरत हर एक मण्डल के स्वामी के साथ सुरत-शब्द योग करती हुई यहां तक पहुंचती है। सुरत नीचे के मण्डलों के सुरत मण्डलों (धुन मण्डलों) में इसलिए भी नहीं ठहर पाती है क्योंकि इसका आदि स्वरूप इन सब सुरत के मण्डलों से अलग है। अगम लोक में आकर ही सुरत निज-मण्डल में ठहरती है, उससे पहले नहीं, क्योंकि नीचे के सभी मण्डल इसकी पैदायश हैं, यह स्वयं नहीं।

अगम लोक में जाकर सुरत स्थायी तौर पर आदि सुरत के मण्डल में ठहर जाती है जहां यह राधास्वामी-राधास्वामी धुन बनकर स्वयं गूंज रही है। इसकी गूंज कभी लुप्त नहीं होती। यह धुन केवल उस समय लुप्त होती है जब अभ्यासी की सुरत अनामी धाम या राधास्वामी धाम में जाकर स्माधिस्थ हो जाती है और स्वामी का स्वरूप बन जाती है। जब अभ्यासी ध्यान में बैठता है तो आरम्भ में उसे राधास्वामी धुन सुनाई देती है लेकिन जैसे-जैसे ध्यान की गहराई बढ़ती जाती है यह धुन कमजोर पड़ जाती है और उसके स्थान पर बिना धुन के शब्द की मीठी गुंजान आ जाती है, यह आदि शब्द की है जो स्वामी-स्वरूप है, जिसमें गति आने के कारण ही रचना के आदि में आदि सुरत या आदि धुन का जन्म हुआ था। इस शब्द को सुनती-सुनती सुरत नि:शब्द होकर होश और बेहोशी के आलम में जाकर राधास्वामी दयाल की गोद में अनामी बनकर सो जाती है, जहां से कुछ नीचे आकर थोड़ा होश आने पर भी न तो जीभ उठ सकती है, न विचार पैदा हो सकते हैं, न शब्द गति कर

सकता है और न ही प्रकाश अस्तित्व में आ सकता है लेकिन ध्यान की अवस्था से बाहर आते ही फिर वही राधास्वामी धुन गूंजायमान हो जाती है यानी स्तह पर आते ही राधास्वामी अवस्था और गहराई में जाते ही सुरत का निज स्वरूप में समाकर स्वामी-स्वरूप बन जाना। अत: यहां अन्तिम अवस्था में जाकर सुरत हमेशा धुन के मण्डल में राधास्वामी दयाल की निज धार बनकर सारी रचना को तृप्त करती रहती है।

राधास्वामी धुन का रहस्य समझाते हुए हुजूर सालिगराम जी महाराज ''प्रेमपत्र राधास्वामी पहला भाग'' वचन 12 (2-5) के भेद नाम का में' इस प्रकार वर्णन करते हैं, ''ध्वन्यात्मक नाम के तीन दर्जे हैं। उसी मुवाफिक जैसे कि कुल्ल रचना के, सन्तों ने तीन दर्जे मुकर्रर किए हैं। पहले दर्जे का ध्वन्यात्मक नाम वह है कि जो निर्मल चैतन्य देश यानि संतों के देश में गाज रहा है और वह राधास्वामी नाम है कि जो कुल्ल और सच्चे मालिक का नाम है जो आदि धार के साथ, अनामी पुरूष से प्रकट हुआ और जिसकी धुन ऊंचे से ऊंचे देश में, जिसको राधास्वामी धाम कहते हैं, आप ही आप हो रही है। इस नाम के अर्थ यह हैं कि ''राधा'' आदि सुरत या आदि धुन या आदि धारा का नाम है और स्वामी कुल मालिक जिसमें से कि वह धुन या धारा निकली।''

फिर कहते हैं, ''उसी आदि सुरत की धार से नीचे के सभी मण्डलों के शब्द और उनकी धुन (सुरत) प्रगट होते गए जब तक वह तीसरे तिल के मुकाम पर आकर ठहरी। हर एक स्थान का शब्द जुदा-जुदा है। जो कोई विरह और प्रेम के अंग के साथ उन शब्दों की धार, धुन को पकड़कर चले, वही एक दिन आहिस्ता-2 धुर मुकाम तक पहुंच सकता है। इस वास्ते राधास्वामी मत के अभ्यासियों को मुनासिब और जरूर है कि राधास्वामी नाम को अगुवा करके अन्तर में अभ्यास करें तो उस धुन या धार के साथ जो रास्ते के हर एक स्थान के शब्द से प्रकट हुई है, मेल होता जावेगा, और उस धार को पकड़कर

सहज में सुरत चढ़ती जावेगी और आहिस्ता-आहिस्ता एक दिन राधास्वामी के चरणों में पहुंचकर अपने निज मालिक का दर्शन पावेगी।''

'प्रेम उपदेश राधास्वामी' में हुजूर महाराज फरमाते हैं, ''राधा साक्षात शब्द स्वरूप है और उसमें और आदि शब्द में कुछ भेद नहीं है। सिर्फ धारा के जारी होने से दो दिखाई देते हैं जैसे जल और उसकी तरंग। पर जब प्रकाश दो रूप हुआ तो नाम भी दो हो गए। इस तरह से सुरत की धार हर मुकाम से निकली।''

'' सार वचन'' के कथन में कहा गया है, ''मालूम होवे कि आदि शब्द कुल्ल का कर्ता और स्वामी है और आदि सुरत यानि उसके अव्वल जहूर का नाम राधा है। इन्हीं का नाम सुरत और शब्द है और जब इनकी धार नीचे आई तब इसी आदि शब्द से और शब्द और आदि सुरत से और सुरत और शब्द से सुरत और सुरत से शब्द बराबर प्रगट होते आये और अपने अपने मुकाम पर कायम हुए।''

अत: उपरोलिखित वचनों से स्पष्ट है कि हर मण्डल का शब्द और उसकी धुन अलग-2 हैं और हर मण्डल की धुन और उसका शब्द आदि सुरत यानि 'राधा' और आदि शब्द यानि 'स्वामी' का ही बदला हुआ रूप हैं और इन्हीं को पकड़ते हुए सुरत को मण्डल-मण्डल ऊपर चढ़ते जाना है और अपने निज स्वरूप के अन्दर जाकर समा जाना है। इसी का नाम सुरत-शब्द योग है जिसमें साधक हर मण्डल की धुन को पकड़कर ऊपर के मण्डल के शब्द जिसमें से यह धुन प्रकट हुई थी तक पहुंच जाता है। फिर यही क्रम आगे के मण्डलों में पूरा किया जाता है। स्पष्ट है कि धुन के हर मण्डल की पूर्णता उसे पैदा करने वाले शब्द के मण्डल में जाकर और लय होकर प्राप्त होती है। स्वामी जी महाराज की वाणी में और भी स्पष्ट लिखा गया है कि जहां पर आदि शब्द का प्रकाश बढ़ जाता है यानि अव्वल जहूर हो जाता है तब उसका नाम आदि सुरत 'राधा' है। इसलिए जब भी सुरत किसी मण्डल की धुन को

पकड़ती है तो उसका ठहराव ऊपर के शब्द के मण्डल अर्थात् उस धुन को पैदा करने वाले शब्द के मण्डल में जाकर ही होता है। इसे सुरत की लय अवस्था या शून्य अवस्था भी कहते हैं। सुरत की यह लय अवस्था हर शब्द के मण्डल में जाकर प्राप्त होती है, केवल ध्यान की अंतिम अवस्था में जाकर सुरत का ठहराव निज मण्डल अर्थात् आदि सुरत के मण्डल में होता है जहां से राधास्वामी धुन लगातार उठ रही है। अत: आखरी मंजिल तक पहुंचा हुआ साधक हमेशा धुन अर्थात् अनामी पुरूष की क्रियात्मक शक्ति में निवास करता है। अभ्यासी को तब तक अभ्यास करते जाना है जब तब उसकी स्थायी तौर पर धुन में स्थिति नहीं हो जाती और प्रकाश की वह अवस्था नहीं आ जाती जो इस मण्डल में वर्णन की गई है।

जिस मनुष्य ने अधूरा रास्ता तय किया है, उसकी सुरत का ठहराव धुन और प्रकाश के मण्डल में नहीं हो सकता है। वह ब्रह्मण्ड तक की चढ़ाई में धुन विहीन अंधकार के शून्य मण्डल अर्थात् शब्द के मण्डल में जाकर ठहरता है। केवल सच्चखण्ड के शब्द के मण्डल प्रकाश के मण्डल हैं लेकिन वहां भी यदि सुरत धुन में स्थायी तौर पर स्थित नहीं होती है तो उसे निज-स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है।

कहने का अर्थ संक्षेप में यही है कि ज्योत-निरंजन के स्थान पर जब सुरत ''घंटे की धुन'' सुनती है तो वह इस धुन के अन्दर ठहर नहीं सकती, उसे शब्द के मण्डल अर्थात् बिना धुन या उस धुन को पैदा करने वाले शब्द के मण्डल में जाकर समाना ही पड़ता है। आगे जब सुरत त्रिकुटी में जाकर 'ओ३म-ओ३म' की धुन सुनती है तो वह इस धुन में ठहर नहीं सकती। उसे ऊपर के शब्द मण्डल में जाकर समाधिस्थ होना ही पड़ता है, इसी प्रकार सुन्न मण्डल में जाकर उसे महासुन्न के मण्डल में प्रवेश करना ही पड़ता है। ये सभी शब्द के मण्डल सुरत की लय अवस्था के लय मण्डल हैं; ब्रह्मण्ड की चोटी तक ये अंधकार के

मण्डल हैं। इनमें समाने के बाद सुरत को काल का अंधेरा जकड़ लेता है। केवल पूर्ण सतगुरू ही सुरत को इन भयंकर समाधि अवस्थाओं से निकाल सकता है। ब्रह्मण्ड तक धुन के सभी मण्डल अपने साथ अनंत व अखण्ड प्रकाश का झरना व स्रोत लेकर प्रकट होते हैं और शब्द के मण्डल अंधकार की लय अवस्था है जिसमें से सुरत निकल नहीं पाती है। सच्चखण्ड में शब्द के मण्डल भी अखण्ड प्रकाश के मण्डल हैं लेकिन इनकी लय अवस्था भी भंयकर है जिनमें से निकल पाना सुरत के लिए आसान नहीं है। इनकी रचना अति मनमोहक और सुहावनी है। केवल शब्द-भेदी सतगुरू ही इनसे उभार सकता है। अत: भंवर गुफा में मुरली की धुन सुनती हुई जब सुरत सतलोक में जाकर वीणा के तारों पर थिरकने लगती है तो वह उस धुन के मण्डल में ठहर नहीं सकती है। उसे शब्द के मण्डल में जाकर लय होना ही पड़ता है। इसी प्रकार जब अलख लोक में सुरत बीन का लहरा सुनती है तो वहां से भी सुरत को शब्द के मण्डल अर्थात् अलख पुरूष के निज धाम में जाकर समाना ही पड़ता है। अत: यहां तक के ध्यान में सुरत धुन के मण्डलों में ठहर नहीं सकती है। उसे शब्द के मण्डल की लय अवस्था में जाकर समाधिस्थ होना ही पड़ता है। केवल अगम लोक में जाकर सुरत का ठहराव स्थायी तौर पर धुन के मण्डल में जाकर होता है जहां राधास्वामी धुन हर समय गुंजायमान रहती है। यहां से ऊपर की लय अवस्था अर्थात् आदि शब्द में लीन होना सुरत की शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, ऊर्ध्वमानसिक और अतिमानसिक सम्पूर्ण मृत्यु है जहां केवल ध्यान अवस्था में ही ठहरा जा सकता है, अन्यथा नहीं। अगम लोक सुरत का अपना अर्थात् निज धाम है इसलिए यहां आकर उसे अपने आदि स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

अगम लोक तक की चढ़ाई में प्रकाश और शब्द के अनुभव की विभिन्नता के साथ-2 सुरत को चेतना के खिंचाव और सिमटाव की

प्रक्रिया में से गुजरना पड़ा लेकिन यह खिंचाव दु:खदायी होते हुए भी अभ्यासी को ध्यान से उठने नहीं देता है और एक विशेष पूर्ति और आनन्द का संचार चेतना के अन्दर करता रहता है। प्रकाश, शब्द और चेतना के खिंचाव की तिकड़ी अभ्यासी को अभ्यास में बांध कर रख देती है और साधक शारीरिक दु:ख सहता हुआ भी सहर्ष आगे बढ़ता जाता है। साथ-2 मुंह में अमृत टपकने लगता है और ठण्डी फव्वारें समय-समय पर आकर चेतना के खिंचाव में आनन्द, शीतलता और स्फुर्ति पैदा कर देती हैं। त्रिकुटी तक सुरत को प्रकाश व शब्द का अनोखा अनुभव प्राप्त हुआ। यहां तक चेतना का सिमटाव बाहरी स्तर का था यानि इस सिमटाव में कोई मृत्यु चिन्ह् प्रकट रूप से सामने नहीं आए थे। केवल अंगों का सुन्नपना और उनकी शून्य अवस्था ही महसूस की गई थी। कभी-2 शरीर में कीड़ी चलने या कांटे चुभने की अनुभूति होती थी। कभी शरीर का हल्कापन, कभी भारीपन, कभी शरीर का छोटा होना और कभी बड़ा होना आदि अनुभूतियां भी हुई। कभी-2 शरीर में तार या रस्से से खिंचे हुए अनुभव हुए लेकिन यहां तक चेतना के असली खिंचाव व सिमटाव का अनुभव नहीं खुल पाया। अत: सुन्न मण्डल में आकर सुरत की यात्रा का दूसरा चरण या दूसरी तरह का अनुभव खुलता है जिसे 'जीते-जी-मरने' का अभ्यास कहा जाता है। संतों का यही दशवां द्वार है जहां आकर सुरत की नस-नस बोलने लगती है, तड़फने लगती है। इस मण्डल से चेतना के सिमटाव में एक विशेष तरह का दर्द व खिंचाव आरम्भ हो जाता है। हाथ व पैरों की उंगलियां खिंचकर अपने आप मुड़ने लगती हैं और सुन्न होकर छुट जाती हैं। यह खिंचाव हाथ और पांव की उंगलियों से आरम्भ होता है। जब इनकी चेतना खिंच जाती है तो पिण्डलियों में दर्द व खिंचाव आ जाता है और गोड़ों तक के पैर सुन्न हो जाते हैं। हाथों की कलाईयों में कुहनियों तक इतना दर्द होने लगता है जिसे सहन करना मुश्किल हो जाता है। यहां पर

आकर एक ही आसन पर एक समय में कम से कम डेढ़ दो घंटे के ध्यान की आवश्यकता पड़ती है, इसका वर्णन पहले कर दिया गया है। अब सुन्न मण्डल से ऊपर महासुन्न में जाकर सुरत की चेतना का खिंचाव ढ़ीला पड़ जाता है क्योंकि यह अंधकार के शून्य मण्डल की अवस्था है। यहां पर तागड़ी तक के पैर सुन्न होकर किसी कदर बेकार हो जाते हैं और आंखें खोलने के बाद भी कुछ देर बाद अपनी पहले वाली अवस्था में आते हैं। हर दर्द और खिंचाव के बाद ठण्डक या ठण्डी फव्वारों का एक झरना ऊपर से उतर कर आता है और सारे दर्द को शांत कर जाता है। शरीर में शीतलता प्रदान कर जाता है तथा सुरत को तृप्त कर जाता है। इसे ही मानसरोवर, त्रिवेणी व अमृतसरोवर का स्नान व मुक्ति धाम कहा गया है। शरीर में कुछ ऊपर की तरफ चढ़ता हुआ महसूस होता है और ध्यान से उठते समय यही ऊपर से नीचे की तरफ उतरता हुआ महसूस होता है। कभी-कभी शरीर में नीचे से ऊपर की तरफ करंट जाने की अनुभूति होती है। भंवर गुफा में आकर एक बार फिर खिंचाव बढ़ने लगता है और तागड़ी के ऊपर और नीचे दर्द और खिंचाव बढ़ने लगता है। इस दर्द में केवल संकल्पशील व्यक्ति ही ध्यान में स्थिरता के साथ ठहर सकता है। तागड़ी से ऊपर यह दर्द चक्राकार होकर उठता है जैसे किसी कपड़े को पकड़कर निचोड़ा जा रहा हो। यह दर्द और खिंचाव नाभि कमल की चेतना को बींधता हुआ कमर में से ऊपर चढ़ने लगता है। इसके बाद सच्चखण्ड में आकर एक तीसरी तरह का अनुभव खुलता है जिसे चेतना के सिमटाव का तीसरा चरण कहा जा सकता है। चेतना के सिमटाव का दूसरी तरह का अनुभव या सुरत की दूसरे चरण की यात्रा सुन्न से भंवर गुफा तक पूरी होती है। पहले चरण का अनुभव आज्ञा चक्र से त्रिकुटी तक पूरा होता है जिसमें मुख्य रूप से प्रकाश व शब्द का अनुभव उतरता है। सुरत की दूसरे चरण की यात्रा सुन्न मण्डल से भंवर गुफा तक पूर्ण होती है जिसमें

शब्द व प्रकाश के अनुभव के साथ-2 चेतना के सिमटाव व खिंचाव की प्रक्रिया आरम्भ होती है। अब सच्चखण्ड में आकर सुरत की यात्रा में प्रकाश, शब्द और सिमटाव पूरी तरह खुलकर प्रकट हो जाते हैं लेकिन इनके साथ-2 एक अलग तरह का अनुभव खुलता है जिसकी पूर्णता अनामी धाम में जाकर होती है। सतलोक में आकर सिर के अन्दर चेतना का भण्डारण होने लगता है जिससे सिर का खिंचाव और भारीपन बढ़ने लगते हैं। यहां ज्यों-2 प्रकाश और धुन की गति बढ़ती जाती है, यानि जब-2 सुरत (धुन) के मण्डल आते हैं, इस खिंचाव और दर्द में तीव्रता आती जाती है। अब यह खिंचाव दिल और कमर में दिल के पीछे मेरूदण्ड में अपना केन्द्र बनाता है। कन्धों व बाजुओं में असहनीय दर्द होने लगता है। खिंचाव उसी तरह चक्राकार मण्डल बनाता हुआ ऊपर चढ़ता जाता है। सिर में आंखों के ऊपर चेतनघन जमा होने लगता है। गर्दन की जान सी निकल जाती है और इसे सीधा नहीं रखा जा सकता है बल्कि इसे सहारा देकर सीधा रखने का साधन किया जाता है ताकि ये गिरे नहीं और साधन में कोई रूकावट पैदा न हो। जीभ अंदर की तरफ खिंच जाती है। सतलोक का धुन मण्डल पार करने पर शब्द मण्डल में जाकर एक बार फिर सुरत की लय अवस्था आने पर खिंचाव में शान्ति आ जाती है। यहां पर शरीर में रस्से व तार से खिंच जाते हैं और ऐसा लगता है जैसे सारा शरीर किसी तारों के शिंकजे में जोर से कस दिया गया हो। सिर के अन्दर ऊपर की तरफ खिंचाव बढ़ता जाता है और आंखे ऊपर की तरफ खिंचने लगती हैं। सिर के अन्दर तार से खिंचकर सुन्न हो जाता है। अलख लोक में जाकर सुरत सतलोक की वीणा की संगीतमय धुन को भूल जाती है और उससे भी मनमोहक धुन बीन का लहरा सुनती- 2 सांप की तरह उस पर नृत्य करने लगती है। मन भी अपनी कलाबाजियां भूलकर संगीतमय हो जाता है। इस बीन के लहरे के साथ शरीर व मन की चेतना का संबंध इतना गहरा प्रतीत

होता है कि ध्यान में जब इस धुन के साथ ख्याल जोड़ते हैं तो नीचे की सारी चेतना का प्रवाह धार के रूप में सिर की तरफ तेजी से होने लगता है और 4- 5 मिनट में ही सिर बहुत ही भारी हो जाता है और उसका खिंचाव चोटी की तरफ इतने जोर से होने लगता है कि आंखों की पुतलियां उल्टकर स्वत: ही ऊपर चढ़ जाती हैं तथा आंखों के सफेद ढ़ेले नीचे रह जाते हैं। अभ्यासी जब भी सतगुरू प्रेम में आने लगता है और आसन पर बैठे-2 आंखें खोले ही ध्यान की अवस्था का ख्याल कर लेता है तो भी थोड़ी देर में आंखों की पुतलियां पल्ट जाती हैं और आंखें अपने आप ही बंद हो जाती है तथा नीचे की सारी चेतना अलख पुरूष की सत्ता के आनन्द में जाकर समा जाती हैं। यहां आकर सुरत के अन्दर इतनी व्यापकता और विशालता आ जाती है कि ध्यान में बैठते ही जैसे-2 सिर के अन्दर चेतना का भण्डारण होने लगता है, सुरत भी ब्रह्मण्ड व सृष्टि की अनन्तता, व्यापकता व कण-2 में समाती चली जाती है। कुछ ही देर में ऐसा लगता है जैसे सारी सृष्टि सुरत की या सतगुरू की ही अभिव्यक्ति है। उसे अण्ड, पिण्ड, ब्रह्मण्ड के सम्पूर्ण अस्तित्व में सतगुरू ही सतगुरू या निज-स्वरूप की व्यापकता अनुभव होने लगती है। सतगुरू-शिष्य के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है।

इस अवस्था में मस्तिष्क की सारी चेतना खिंच जाने के कारण सिर की नसें भी चट-चट करने लगती हैं और बेजान हो जाती हैं तथा सारा सिर सुन्न हो जाता है। विचारों की गति संकल्पहीन व रूकती हुई स्पष्ट अनुभव होती है। दिमाग की गति रूक जाती है, प्रकाश का अनुभव समाप्त हो जाता है, शब्द अशब्द गति में आ जाता है। सुरत शब्द को सुनती-2 शब्द को भी छोड़ देती है। सारी चेतना चक्कर काटती हुई ऐसे अथाह समुंद्र में विलीन हो जाती है जहां कोई विचार नहीं है, न ही शब्द और न प्रकाश है। केवल एक ऐसा अनुभव जहां अथाह शान्ति का सागर है जो असीम है, अनंत है, जिसके बारे में कुछ भी

लिखना कठिन है। ध्यान की इस अवस्था का वर्णन हुजूर सालिगराम जी महाराज ने ''प्रेमपत्र राधास्वामी दूसरा भाग'' के वचन 15 (6) के 'ब्यान हालत खिंचाव सुरत का' में किया है जिसका वर्णन पहले ही अलख लोक की ध्यान अवस्था में कर दिया गया है। यह उस अवस्था का वर्णन है जब आंखों की पुतली उल्ट जाती हैं और मृत्यु हो जाती है।

सुरत की 17वीं व 18वीं मंजिल की ध्यानावस्था का काफी वर्णन कर दिया गया है लेकिन कुछ वर्णन खासतौर पर राधास्वामी नामधुन के बारे में अभी बाकी है जो नीचे किया गया है। अलख लोक तक का अनुभव सुरत के लिए बेमिसाल है लेकिन फिर भी इसकी पूर्णता में अभी कमी रहती है, निज-स्वरूप की प्राप्ति अभी शेष है।

अगम लोक सुरत का निज धाम है। यहीं पर सुरत का आदि स्वरूप सृष्टि के आरम्भ में प्रकट हुआ था। इसी स्थान पर रचना करते समय आदि धुन का जन्म हुआ था जिसे सुरत-शब्द योग में 'सुरत' या 'राधा' कहा जाता है। यह लोक राधा का लोक है। इस लोक में पहुंचकर अभ्यासी की सुरत 'राधा' का रूप बन जाती है और अपने आदि स्वरूप की प्राप्ति कर लेती है। इसी आदि सुरत ने सृष्टि के आरम्भ में नीचे के मण्डलों की रचना की थी। यह स्वामी की शक्ति के रूप में सारी सृष्टि की माँ बनकर उतरी और अनेक ब्रह्माण्ड, लोकादि की रचना की तथा अपने आंचल की छाया प्रदान की। यह सबकी माँ है और हमारी सुरत का आदि-स्वरूप है। हमारी सुरत इसी का अंश है जैसे किरण सूर्य का अंश है।

अगम लोक में आकर जब साधक ध्यान में बैठता है तो सोलहवीं मंजिल की लय अवस्था का बिना धुन का शब्द सुनाई देता है जो अपनी मीठी, ऊंची व पतली गूंज के साथ एक ही लय में गुंजायमान रहता है लेकिन कभी-कभी यही बिना धुन का शब्द एक अदभुत् संगीत के रूप में परिवर्तित होने लगता है। इसमें से एक बहुत ही आकर्षक और

संगीतमय धुन निकलने लगती है। यह धुन इस तरह से होती है जैसे एक ही ध्वनि एक साथ हो रहे दो हिस्सों में गूंज रही हो और दोनों हिस्से एक ही धुन को पूर्ण स्वरूप प्रदान करने में एक दूसरे के पूरक हों। इसके पहले हिस्से में से 'राधा' तथा दूसरे हिस्से में से 'स्वामी' की आवाज निकलती है। ये दोनों हिस्से अलग-2 नहीं होते हैं बल्कि एक ही ध्वनि के दो पहलू हैं और एक दूसरे को पूर्ण करते हैं। कभी पहले वाले हिस्से की गूंज लम्बी होती है तथा कभी उसके साथ लगे दूसरे हिस्से की गूंज लम्बी होती है। राधास्वामी दयाल परम् संत ताराचन्द जी महाराज इस धुन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जैसे कोई थाली या परांत यहां थपकी देकर बजायी जाए और फिर उसकी आवाज ऊपर जाकर गूंजे, यही राधास्वामी धुन है। अत: इससे स्पष्ट है कि राधास्वामी नाम किसी औरत या पुरूष का नाम नहीं है बल्कि आखरी मंजिल पर गूंज रही धुन है। इस धुन का वर्णन करते हुए महाराज साहब जिनका आगरा में हुजूर सालिगराम जी के परम् शिष्य के रूप में अवतरण हुआ और जो परम् संत हुए, अपनी पुस्तक "Discourses on RadhaSoami Faith" अर्थात् 'राधास्वामी मत पर प्रवचन' के प्रवचन नं0 66 (Sequence of Sounds Radha and Soami Explained) में लिखते हैं, जिसका हिन्दी में संक्षेप में भावार्थ यह है:

''जब सबसे पहले सुरत के भण्डार में हलचल पैदा हुई तो आदि सुरत की धार जारी हुई। यह धुन स्वामी-राधा कह कर पुकारी जानी चाहिए क्योंकि रचना के आदि में पहले स्वामी की धार प्रकट हुई और फिर उससे राधा की लेकिन जब नीचे से ऊपर की तरफ सुरत अभ्यास करती हुई जाती है तो पहले राधा की और उसके साथ स्वामी की धुन सुनाई देती है क्योंकि हमें पहले राधा की धार को पकड़ना पड़ता है।''

प्रवचन नं0 67 में वे फिर कहते हैं, ''सुरत की धार की जो धुन

हमें सुनाई देती है, वर्णात्मक भाषा में उसका सबसे निकट का उच्चारण 'राधा' हो सकता है और जो शब्द की धार निकलती है, उसका उच्चारण 'स्वामी' से मिलता जुलता है।''

प्रवचन नं0 70 में फरमाते हैं, ''आदि सुरत से जो शब्द-धुन निकलती है, वर्णात्मक भाषा में उसका सबसे निकट का उच्चारण ''राधास्वामी'' हो सकता है। यद्यपि धुन का यह नाम भी पूरी तरह से उचित नहीं है लेकिन यही नाम इस धुन की अधिक से अधिक अभिव्यक्ति है।''

श्री माईरोन फैल्पस, जो अमेरिका के निवासी थे, अपनी पुस्तक "Notes of Discourses on RadhaSoami Faith delievered by Babuji Maharaj" जिसका अर्थ है- ''राधास्वामी मत पर बाबू जी महाराज द्वारा दिए गए प्रवचनों पर टिप्पणियां,'' के अध्याय 1 के भाग 7 में लिखते हैं, '' जब सुरत के भण्डार से आदि शब्द प्रकट हुआ तो उसकी सबसे निकट की उच्चारण करने वाली ध्वनि 'स्वामी' थी। इसी के द्वारा परम्पिता ने सबसे पहले अपने आपको प्रकट किया। जब इस प्रेम के समुंद्र में और हलचल बढ़ी तो यह प्रेम की धार जिसके अन्दर सारी रचना का बीज मौजूद था, किनारे लांघ कर बहने लगी जिससे इसकी आवाज का शोर ऊंचा उठने लगा। इसे ही परम्पिता की मौज कहा जाता है, इसी का नाम 'राधा' भी है।''

फिर भाग 11 में लिखते हैं कि शब्द की धुन का नाम राधा है और जब यह धुन 'स्वामी' की धुन से मिलकर गूंजती है तो 'राधास्वामी' कहलाती है।

अत: राधास्वामी नाम धुनात्मक नाम है, वर्णात्मक नहीं। यह नाम किसी मनमुख द्वारा नहीं, बल्कि राधास्वामी मत के आदि प्रवर्तक स्वामी शिवदयाल जी महाराज के गुरूमुख शिष्य हुजूर राय बहादुर सालिगराम जी महाराज द्वारा अन्तरी अभ्यास से प्रकट किया हुआ नाम

है। जब स्वामी जी महाराज ने अपने प्यारे शिष्य सालिगराम जी को आदेश दिया कि वह कोई नई वस्तु ढूंढ़ कर लाए और तब तक अपनी सुरत न दिखाए जब तक ऐसी वस्तु ढूंढ़ कर नहीं ले आता। तब हुजूर महाराज ने लम्बा एकान्त लिया और अनथक अभ्यास किया और सतगुरू प्रेम में लिपटे हुए उस अवस्था में पहुंचे जहां पहुंचकर वे स्वामी जी महाराज के अनामी स्वरूप के साथ एकमएक हो गए तथा भाग कर स्वामी जी महाराज के चरणों में लिपट गए। स्वामी जी महाराज ने ऊंची आवाज में पूछा कि वह वस्तु कहां है जिसे ढूंढ़ने के लिए भेजा था? हुजूर महाराज प्रेम स्वरूप थे और प्रेम सिंध का दूसरा नाम राय बहादुर सालिगराम जी महाराज था। उन्होंने चरणों में लिपटे हुए बताया ''हे दया सिन्धु! आप तो सारी हालत से वाकिफ हैं, फिर भी आपका आदेश है तो मैं उसका वर्णन कर देता हूं। बताया कि मैनें अन्तर में जाकर ध्यान की गहराई में आपके परमरूप की जो आवाज सुनी, उसका नाम राधास्वामी है। सबसे ऊंचे मण्डल में यही शब्द-धुन राधास्वामी-राधास्वामी आवाज करती हुई गुंजायमान है। यह आवाज सृष्टि की जान है, सृष्टि का स्रोत है और उसका आधार भी। यही नई वस्तु मुझे मिली''। स्वामी जी महाराज ने अपने प्यारे शिष्य को उठाकर सीने से लगा किया और कहा कि सालिगराम अब तुझमें और मुझमें कोई भेद नहीं रहा है। गुरू-शिष्य एक समान हो गए हैं। अब तक स्वामी-स्वामी या साहिब स्वामी का जाप बहुतों ने किया, लेकिन उस धार को कोई नहीं पकड़ पाया जिसने सारी त्रिलोकी और सच्चखण्ड की रचना की है। स्वामी जी महाराज स्वयं राधास्वामी दयाल के पूर्ण अवतार थे, उन्होंने कहा कि मैंने अब तक बहुत से संत इस पृथ्वी पर भेजे लेकिन कोई भी यह नाम प्रकट नहीं कर पाया। अब जीवों पर बड़ी भारी दया हो गई है। उन्होंने सालिगराम जी को आशीर्वाद दिया कि जो भी इस नाम को सुनेगा और स्मरण करेगा, वही भवसागर से

पार हो जाएगा।

हुजूर महाराज ने राधास्वामी नाम के रूप में एक नया समीकरण दिया जिसमें निर्गुण और सगुण, निराकार और साकार, एक देशीय और सर्वदेशीय का अनोखा संगम था और कहा कि जब तक कुल्ल मालिक के सगुण और साकार रूप को नहीं पकड़ा जायेगा अर्थात् राधा की धार को नहीं पकड़ा जाएगा तब तक उसके निर्गुण, निराकार और निज स्वरूप अर्थात् स्वामी तक नहीं पहुंचा जा सकता है। सृष्टि में स्वामी का असली स्वरूप नहीं है, वह तो 18वीं मंजिल पर विराजमान है। यहां सृष्टि में समस्त अस्तित्व राधा का प्रकटीकरण है। इसी की धार को पकड़कर स्वामी के अकह, अनामी और महाचेतन स्वरूप तक पहुंचा जा सकता है। जिस तरह से सूर्य आकाश में रहता हुआ किरणों के रूप में सब जगह व्याप्त है, उसी तरह स्वामी की शक्ति और धार बनकर राधा इस सृष्टि के कण-2 और पत्ते-2 में व्याप्त है। यह था राधास्वामी अवस्था का उच्चतम अनुभव और नई वस्तु जिसे हुजूर महाराज ने स्वामी जी महाराज के चरणों में भेंट किया।

इस उच्चतम अनुभव में जाकर अभ्यासी एक ही समय के ध्यान में अखण्ड और अनन्त प्रकाश को देखता हुआ अप्रकाश और प्रकाश की लय अवस्था में जाकर समा जाता है। इसी प्रकार ध्यान में बैठते ही राधास्वामी-राधास्वामी धुन सुनता हुआ आदि शब्द में पहुंच जाता है जहां धुन भी समाप्त हो जाती है और नीचे की शारीरिक, प्राणिक, मानसिक और आत्मिक चेतना सिमटकर आंखों के ऊपर बहुत भारी चेतना का समुह बना देती है। इसके साथ ही ऊपर की तरफ इतना भारी खिंचाव होता है कि आंखों की पुतली स्वयं ही ऊपर खिंचकर उल्ट जाती हैं। कई बार तो आंखें इतनी खिंच जाती हैं कि जैसे अपनी सीमा फाड़कर ऊपर ही ऊपर जाना चाहती हैं। सामने प्रकाश को देखना या शब्द को सुनना मुश्किल हो जाता है क्योंकि सामने देखते ही आंखों

का खिंचाव और भी ज्यादा दबाव डालने लगता है। इसके बाद सारा मस्तिष्क सुन्न हो जाता है, जुबान अन्दर खिंच जाती है और सुरत होश-बेहोशी के आलम में प्रेम-सिंध के आनन्द में समाकर स्वयं भी आनन्द का रूप बन जाती है। प्रकाश, शब्द और चेतना का सिमटाव एक रूप अर्थात् अरूप होकर अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं। इस अवस्था में होश में बेहोशी है और बेहोशी में होश। यही है सुरत की यात्रा की18वीं मंजिल और निज-स्वरूप की प्राप्ति जहां जाकर सुरत स्वामी के साथ तद्रूप हो जाती है। अब उसे काल का भय नहीं रहता है। इस अवस्था का वर्णन **कबीर साहब** ने इस प्रकार किया है:

जाप मरे अजपा मरे, अनहद भी मर जाय।
सुरत समानि शब्द में ताहिं काल ना खाय।।

कबीर साहिब फिर कहते हैं:

तापर अकह लोक है भाई,
पुरूष अनामी वहां रहाई।
जो पहुंचे जानेंगे वाही,
कहन सुनन से न्यारा है।
कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।

स्वामी जी महाराज यहां का वर्णन करते हुए कहते हैं:

अलख पुरूष का रूप अनूपा।
अगम पुरूष निरखा कुल भूपा।।
देखा अचरज कहा न जाई
क्या-क्या शोभा वरनूं भाई।।
तीन पुरूष और तीनों लोक।
देखे सुरत और पाया जोग।।
प्रेम विलास जहां अति भारी।
राधास्वामी कहत पुकारी।।

स्वामी जी महाराज कहते हैं कि यहां की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता है, यह कहने-सुनने से न्यारा है। फिर कहते हैं कि यहां आकर सच्चखण्ड के छ:मण्डल अर्थात् तीन पुरूष और तीन लोक के मण्डल यानि तीन सुरत के और तीन शब्द के मण्डलों का वर्णन पूरा हो जाता है और इन्हें देखकर सुरत शब्द के साथ पूर्ण योग प्राप्त कर लेती है।

सद्गुरू ताराचन्द जी महाराज अपनी पुस्तक ''अनुभव प्रकाश'' में 'कंवल भेद निर्णय' के अंग में अनामी धाम की रचना के बारे में लिखते हैं:

अगम पुरूष का दृष्य है, आगे 'ताराचन्द'
आगे अनामी धाम है यह है सबका सिंध।।
धाम अनामी है यही, सतगुरू का दरबार।
किस जबां से ब्यान हो, महिमा अपरम्पार।।
कंवल भेद सब कह दिया, सुनो लगा के कान।
सच्चे सतगुरू हमको मिले, रामसिंह अरमान।।

कंवल भेद निर्णय का समापन करते हुए स्वत: संत ताराचन्द जी महाराज कहते हैं कि अनामी दरबार की महिमा इतनी अपरम्पार है कि इसका वर्णन करना किसी जुबान के बस की बात नहीं है। यह है राधास्वामी मत की असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि का स्वरूप।

इस अकह और अनामी अवस्था तक पहुंचने के लिए सुरत ने अनेकों प्रकार के शब्द सुने, जिनमें से अन्तिम शब्द 'राधास्वामी धुन' है जो अंतिम मंजिल पर गुंजायमान रहती है। भिन्न-2 महात्माओं ने अपने तरीके से इनका विवरण किया है लेकिन केवल कबीर साहिब ने और राधास्वामी पंथ में ही इनका तरतीब या क्रम से वर्णन किया गया है। आज्ञा चक्र पार करते समय कई प्रकार के शब्दों में से गुजरना पड़ता है। सिद्ध योग में इस स्थान को नाद लोक भी कहा जाता है। आज्ञा चक्र जब खुलने लगता है तो यहां पर दस प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। ये

सभी शब्द ऊपर के मण्डलों की छाया हैं। इनमें से एक-दो शब्द ही प्रकाश के शब्द हैं। बाकी सभी अंधकार के शब्द हैं। यहां पर अनेकों अभ्यासी अटक जाते हैं और अंधकार के शब्दों को बांसुरी और बीन का शब्द मान बैठते हैं। इन नीचे के शब्दों में ऊपर के शब्दों की थोड़ी बहुत असलीयत अवश्य होती है लेकिन जब भी वास्तविक शब्द की धार निकल कर आती है तो साथ में प्रकाश भी झरने की तरह बहता हुआ आता है। अंधकार के सभी शब्द काल के शब्द हैं। परम् संत सांवन सिंह जी महाराज 'परमार्थी पत्र भाग दूसरा' में यहां पर दस प्रकार के शब्द बताते हैं। बायें कान की तरफ से सुनने वाले शब्द काल और माया के शब्द हैं और दायीं तरफ से सुनने वाले शब्द दयाल के शब्द हैं। प्रकाश के साथ आने वाला शब्द दाई तरफ से ही सुनता है आज्ञा चक्र के इन शब्दों का वर्णन इस प्रकार है:

सबसे पहले भंवरे की गूंज या पी-पी व घूं-घूं की आवाज इसे आकाश (Space) का शब्द भी कहा जाता है। यहां पर ऐसी भी आवाज सुन सकती हैं जैसे शांत हवा चलने पर पेड़ के पत्तों की सरसराहट या समुंद्र की सतह पर हवा चलने से झाल उठने की आवाज। इसके बाद जब आज्ञा चक्र का प्रकाश प्रकट होता है तो घंटियों की बजने की या ताल जैसी आवाज जिसे घंटे की आवाज समझ लिया जाता है। इसके बाद या इससे पहले कभी-2 शंख की आवाज भी सुन सकती है। इसके बाद बादलों की गर्जन या जैसे कोई रेलगाड़ी किसी नहर के पुल के ऊपर से गुजरती हुई धड़-धड़ की आवाज करती है। यही आवाज ढ़ोल की आवाज जैसी हो जाती है इसी को मृदंग की आवाज कहा गया है। जब यह मृदंग की आवाज और बढ़ जाती है तो इसे ही भेरी की आवाज कहा जाता है। भेरी को अंग्रेजी में 'कैटल ड्रम' अर्थात् बड़ा नगाड़ा कहते हैं। इसके बाद सारी आवाजें बंद होकर एक शून्य की आवाज रह जाती है, जो पतली सी और पैनी-2 होती है। इस आवाज के साथ

अंधकार बढ़ जाता है। इसी को नफीरी कहा जाता है। बहुत से अभ्यासी इसे ही बांसुरी और कुछ इसे बीन की आवाज भी कह देते हैं। इसके बाद कभी-2 जोर से तूफान की सूं-2 की आवाज आने लगती है जिसकी तुलना सिंह की गर्जन से की जाती है।

यहां के नाद लोक के दस प्रकार के शब्दों का वर्णन करते हुए हजरत निजामूद्दीन के गुरूमुख शिष्य खसरूद्दीन (खुसरो) लिखते हैं:

एकी भंवर गुंजार सी दूजे घुंघरू होई।
तीजे शब्द शंख का चऊथे घंटा होई।
पांचवें ताल जो बजे, छटे मुरली नाथ।
सातवें भेरी जो गाजे, अठवें शब्द जो मृदंग का।
अठवें शब्द जो मृदंग का, नवें नफीरी ताल।
दसवें गरजे सिंह खास खुसरो यह ताल।
दस प्रकार अनहद बजे जित जोगी हो लीन।
इंदरी थकी मनुवा थे खुसरो ने कहि दीन।

फिर खुसरो कहते हैं:

अनहद बाजे बाजन लागे। चोर नगरिया तज-तज भागे।
गुरू निजाम की भी दुहाई। खुसरो ने अंतर लिव लाई।।

अर्थात् जब अंतर में सतगुरू से लौ लग जाती है और अनहद बाजे बजने लगते हैं तो अंदर में विराजमान वासनाएं जो सुरत की चोर और दुश्मन हैं, वे इस शरीर को छोड़-छोड़ कर भागने लगती हैं।

आज्ञा चक्र पर प्रकाश प्रकट होने से पहले जो शून्य की आवाज है वह भंवरे की गूंज है और आज्ञा चक्र से ऊपर के शून्य की आवाज को नफीरी, शहनाई व बांसुरी की आवाज कहा गया है। पहले शून्य की आवाज धीमी है, बाद वाले शून्य की आवाज ऊंची है, दोनों आवाजों में समानता है। दूसरा दोनों आवाजें अंधकार की आवाज हैं, बाकी आवाजें बीच की आवाजें हैं। ओशो पुस्तक 'कुण्डलीनी और सात शरीर' में

पहले शून्य की आवाज को ओ३म की ध्वनि कहते हैं जिसका साक्षात्कार चौथे मनस्-शरीर में किया जाता है। यह अवस्था विचार और शब्द की अन्तिम सीमा है। पांचवां शरीर आत्म-शरीर कहा है जो नि:शब्द है। छटा शरीर ब्रह्म-शरीर है जहां ज्योति प्रकट हो जाती है और सातवां शरीर निर्वाण-काया है जहां वह ज्योति भी बुझ जाती है और महाशुन्य व महामृत्यु का अनुभव रह जाता है। इसे उन्होंने सहस्रार चक्र कहा है। इसी पुस्तक के अध्याय 'सात शरीर और सात चक्र' में छटवें शरीर में तीसरी आंख का खुलना कहा है जिसके बारे में लिखा गया है, ''तो एब्सोल्यूट बींइग (परम् तत्व) को छटवें शरीर तक और छटवें केन्द्र से जाना जा सकता है। इसलिए जो लोग ब्रह्म की तलाश में हैं, आज्ञा चक्र पर ध्यान करेंगे और वहां जो दिखाई पड़ना शुरू होगा विस्तार अनन्त का, उसको वे 'तृतीय नेत्र' और 'थर्ड आई' कहना शुरू कर देंगे।''

इसी पुस्तक के अध्याय 'सात शरीरों से गुजरती कुण्डलीनी' में फिर लिखा गया है, ''छटवां शरीर ब्रह्म-शरीर है, वह काज्मिक बॉडी है और सातवां शरीर निर्वाण-काया है, वह कोई शरीर नहीं है, वह देहशून्यता की हालत है। वह परम् है। वहां शून्य ही शेष रह जाएगा। वहां ब्रह्म भी शेष नहीं है। इसलिए बुद्ध से जब भी कोई पूछता है, वहां क्या होगा, तो वे कहते हैं जैसे दीया बुझ जाता है, फिर क्या होता है? खो जाती है ज्योति, फिर तुम नहीं पूछते, कहां गई? बस खो गई। 'निर्वाण' शब्द का मतलब होता है, दीये का बुझ जाना, इसलिए बुद्ध कहते हैं, निर्वाण हो जाता है।''

ओ३म् की ध्वनि का वर्णन करते हुए इस पुस्तक के अध्याय 'धर्म के असीम् रहस्य सागर में' लिखते हैं, ''वह जो ओ३म् की ध्वनि गूंजने लगती है, वहां चौथे शरीर से उसको पकड़ा गया है कि ये जहां विचार खोते हैं, भाषा खोती है, वहां जो शेष रह जाता है, वह ओ३म् की ध्वनि रह जाती है।'' अत: ओशो ने ओ३म् को धुनात्मक नाम कहा है

वर्णात्मक नहीं। यही बात शिव महापुराण और उपनिषदों में कही गई है।

कहने का अभिप्राय यही है कि आज्ञा चक्र के स्थान के आसपास शब्दों व रिद्धि-सिद्धियों का जाल फैला हुआ है। बिना सतगुरू की अगुवाई के अभ्यासी इनमें उलझ कर सारी जिन्दगी के लिए अटक जाता है। प्रकाश का असली शब्द यहां घंटियों की टुनटुनाहट है जिसे किसी-किसी ने ताल की आवाज भी कहा है। स्वामी विवेकानन्द ने इसे सम्पूर्ण साहित्य (Complete works of Vivekananda) के भाग दो अध्याय छ: 'प्रत्याहार और धारणा' में Peal of Bells अर्थात् घंटियों की टुनटुनाहट कहा है जो प्रकाश के साथ सुनाई देती है।

अत: आज्ञा चक्र पर और सहस्रार से पहले दो शब्द मुख्य हैं, एक घंटियों की झनकार जो प्रकाश का शब्द है और दूसरा शून्य की आवाज यानी नफीरी या शहनाई जैसी आवाज जिसे बांसुरी की आवाज भी कह दिया जाता है जो अधंकार की आवाज है। इसके बाद सहस्रार के स्थान पर घंटे का शब्द खुलता है। यह संत मत या सुरत-शब्द योग की पहली मंजिल है। संतों का रास्ता यहां से आरम्भ होता है। इस योग का दूसरा शब्द शंख की ध्वनि है जो अधंकार का शब्द है। इसके बाद सभी शब्द प्रकाश और महाप्रकाश के शब्द हैं। श्री अरविन्द ने शंख के सुनने को 'Proclamation of Victory' अर्थात् 'जीत की घोषणा' कहा है। राधास्वामी पंथ में इसे काल व माया का शब्द कहा गया है। घंटे की आवाज को उन्होंने ब्रह्मण्ड की चेतना के खुलने का प्रतीक कहा है। इसके बाद तीसरा शब्द ओंकार का है जो ओ३म्-ओ३म् की ध्वनि के साथ गूंजता है। इसे ही 'अल्लाहू' कहा गया है। यहां से हू-हू कार की आवाज उठती रहती है। श्री अरविन्द ने इसे तुरही (Trumpet) की आवाज और शहनाई तथा वीणा की आवाज कहा है। जब सावित्री और सत्यवान आलिंगन बद्ध होते हैं, दुल्हा-दुल्हन की तरह मिलते हैं तो शहनाई वादन होता है जिसे उन्होंने सावित्री के अन्तिम अध्याय में वैवाहिक संगीत

(Nuptial Hymn) कहकर पुकारा है। चौथा और पांचवां शब्द सुन्न मण्डल में जाकर सुनते हैं जो किंगरी और सारंगी की धुन के साथ मिलता जुलता है। कई महात्माओं ने इसकी तुलना सितार के संगीत से भी की है। इसके बाद जब भंवर गुफा का प्रकाश खुलता है तो अचानक मृदंग जैसी आवाज खुल जाती है जो ऊंची-ऊंची आवाज में ढ़ोल या इंजन की धक-2 जैसी आवाज पैदा करती है। प्रकाश की भरमार हो जाती है। यह शब्द सुरत की विजय का प्रतीक है। यह छटा शब्द है। अब सातवां शब्द बांसुरी की धुन है जो भंवर गुफा का शब्द है। आठवां शब्द सतलोक में बजने वाला संगीत वीणा की आवाज है जो सुरत को अपने अन्दर खींच लेती है। नौवां शब्द बीन का लहरा है, यह अलख लोक का शब्द है। यहां आकर मन और सुरत मस्ती के सागर में समा जाते हैं। खुद का अस्तित्व मिटाकर अलख पुरूष के साथ तदरूप हो जाते हैं। दशवां और आखरी शब्द राधास्वामी धुन है, जहां जाकर सुरत निज-स्वरूप को प्राप्त कर जाती है और राधास्वामी धाम में जाकर राधास्वामी दयाल का रूप बन जाती है।

इस तरह से सुरत राधास्वामी पद तक आते-आते अनेक रंगों का प्रकाश और 10 प्रकार के शब्दों का अनुभव कर लेती है। अब यह सुरत राधास्वामी दयाल का घूमता-फिरता पूर्ण यंत्र बन जाती है जिसके अन्दर से प्रकाश झरने की तरह 24 घंटे बहता रहता है, राधास्वामी धुन हर समय गुंजायमान रहती है। ऐसा अभ्यासी परमात्मा का शुद्ध और महाचैतन्य का जीता जागता यंत्र बन जाता है जो कर्म करता हुआ भी अकर्मी बना रहता है। उसके सारे कर्म और उनके फल स्वयं ही सतगुरू-रूपी यज्ञ में भेंट चढ़ते रहते हैं। ज्ञान अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेता है और सुरत प्रेम सिंध में जाकर समा जाती है। यहां आकर राज योग, कुण्डलीनी योग, हठयोग, तांत्रिक योग, लय योग, कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग, समग्र योग आदि सभी योग और सभी दर्शन व धर्म अपनी पूर्णता को

प्राप्त हो जाते हैं। ऐसा है राधास्वामी योग।

स्पष्ट है कि राधास्वामी योग अर्थात् सुरत-शब्द योग करणी का मार्ग है, इसे अच्छी रहणी और लगातार अभ्यास से ही जाना जा सकता है, इसके सिवाय कोई दूसरा रास्ता नहीं है। सुरत-शब्द का भेद जानने के लिए अभ्यासी को अभ्यास रूपी अग्नि में से निकलकर शरीर को तपाना पड़ता है। स्वामी जी महाराज कहते हैं:

अनुभव से वह जाना जाई। शब्द बिना अनुभव नहीं पाई।।
सुरत शब्द दोऊ अनुभव रूपा। तू तो पड़ा भर्म के कूपा।।

अध्याय-8

अभ्यास करने के लाभ

कुछ व्यक्ति जो चेतना के बाहरी स्तर पर बैठकर सांसारिक व्यवहार करते हैं, वे एक प्रश्न किया करते हैं कि परमात्मा की भक्ति करने का क्या लाभ है? एक मनुष्य जो आदर्श जीवन जीता है, उसमें कोई किसी तरह की कमी नहीं है, उसे परमात्मा का नाम लेने या सत्संगों में जाने की क्या आवश्यकता है? ऐसे मनुष्य यदि दिमाग पर थोड़ा सा जोर देकर सोचें और प्रकृति के व्यवहार और जीवन में थोड़ा झांक कर देखें तो पायेंगे कि इस रचना के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े अस्तित्व के अन्दर ऊर्जा व शक्ति के विभिन्न स्तर हैं और हर स्तर का कार्य अलग-2 है लेकिन सारे स्तर मिलकर उस अस्तित्व को पहचान प्रदान करते हैं। उसके अन्दर खिंचाव व दुराव की शक्ति पैदा करते हैं। जो बाहरी स्तर की ऊर्जा है वह स्थूल रूप है। ज्यों-2 अन्दर जाते हैं वह ऊर्जा सूक्ष्म होती जाती है। एक स्तर आता है जब हम उस ऊर्जा को देख नहीं सकते, केवल अनुभव कर सकते हैं। उसके बाद अनुभव करने की सीमा भी पार हो जाती है, शेष रह जाती है नास्ति की अवस्था जो किसी अस्तित्व के होने को नकारती है। यह अवस्था उदासीन है जिसका व्यवहार या झुकाव हर परिस्थिति में एक समान रहता है। इसे उस अस्तित्व की कारण अवस्था कहते हैं। इसके बाद की अवस्था वह अवस्था है जो अस्ति और नास्ति दोनों का कारण है, जहां अस्तित्व की सभी संभावनाएं मौजूद रहती हैं। जिसको जिया नहीं जा सकता, अनुभव गुजर जाने के बाद एक सुखद अनुभुति की यादगार है जो अस्तित्व के कण-2 में समायी रहती है और जिसका ख्याल आते ही मन झूम जाता है व आनन्द के सागर में डूब जाता है। उदारहण के तौर पर जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अलग-2 अनुभव हैं, लेकिन एक दूसरे के पूरक हैं और

तीनों की सामयिक क्रमबद्धता से ही शरीर रूपी अस्तित्व की पूर्णता है लेकिन सुषुप्ति जो महाअंधकार है, नास्ति है, की अवस्था से लौट आने पर कोई अन्दर का साक्षी पुरूष उस अंधकार के आनन्द की यादगार को भी संजोए रखता है और उठने के बाद कहता है कि आज नींद में बहुत ही आनन्द आया। इसी प्रकार की अवस्था इस ब्रह्माण्ड की ऊर्जा की है। विज्ञान कहता है कि इस ब्रह्माण्ड की ऊर्जा की मात्रा निश्चित है और जब इसकी उपलब्ध ऊर्जा (Available Energy) समाप्त हो जाएगी तो यह सृष्टि सुषुप्ति के अंधकार में जाकर समा जाएगी। उसके बाद पुनः इसकी जागृति की कहानी आरम्भ होती है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण की अवस्था हर अस्तित्व में मौजूद है। एक परमाणु के अन्दर इलेक्ट्रान जो बाहर की तरफ उस परमाणु की ऊर्जा का स्तर और दूसरे परमाणुओं के साथ उसके संयोग की संभावना निर्धारित करता है और अणु व कणों के संयोग से वस्तु को स्थूल, तरल या गैस रूप प्रदान करता है। वही दूसरे स्तर पर प्रोटान की शक्ति के साथ संयोग करता हुआ उसके प्रति उत्तरदायी होता है और वस्तु के सूक्ष्म स्वरूप को स्थापित करता है। तीसरे स्तर पर प्रोटान और चौथे स्तर पर ऐसी उदासीन शक्ति यानी न्यूट्रान जिसे विज्ञानवेताओं ने ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के कारण की संभावना माना है। परमाणु स्थूल रचना का सूक्ष्मतम अस्तित्व है। इसी सुक्ष्मतम अस्तित्व के अन्दर सृष्टि के कारण व महाकारण की संभावना मौजूद रहती है। इसी प्रकार एक कोशिका के अन्दर नाभि जहां अनुवांशिक पदार्थ (Genetic material) लिपटा पड़ा रहता है और जिसमें जीवन की सारी संभावनाएं गुप्त रहती हैं, ऊर्जा का पहला स्तर है। दूसरे स्तर पर उसका रूपान्तरण करने वाली माध्यम शक्ति आर.एन.ए. (mRNA, tRNA, और rRNA) इत्यादि और तीसरे स्तर पर अनुंवाशिक पदार्थ का कोशिका के अन्दर रसायनिक अनुवादित (Translated) परिवर्तन और चौथे स्तर पर उसकी स्थूल

रूप में अर्थात् पत्ते, शाखा, फल, बीज आदि में रूपान्तरित स्थूल स्वरूप। इसी प्रकार एक शरीर के अन्दर शारीरिक, प्राणिक, मानसिक और आत्मिक चेतना की अलग-2 स्तर पर अभिव्यक्ति। पृथ्वी के वायुमण्डल की संरचना को विभाजित करने वाली अलग-2 तह और उनके विभिन्न ऊर्जा स्तर। इस सौर मण्डल के अलग-2 शक्ति केन्द्रों पर भिन्न-2 ग्रहों की स्थिति और ठहराव। स्वयं सूर्य के अन्दर और बाहरी मण्डल में ऊर्जा के स्तर। इसी तरह विशाल स्तर पर आकाशगंगाओं के अन्दर और इस ब्रह्माण्ड में पिण्ड, अण्ड, ब्रह्मण्ड और सच्चखण्ड के स्तर पर ताकत का ठहराव और भिन्न-2 स्तर पर उसका विस्थापन। ये सब प्रमाण इस बात को सिद्ध करते हैं कि हर अस्तित्व के अंदर सामान्य, विशेष, महा-विशेष और महा-स्तर पर ताकत चक्राकार होकर गति करती रहती है। अब अभ्यास अर्थात् ध्यान ही एक ऐसा साधन है जिसमें ताकत के भिन्न-भिन्न स्तरों को क्रमबद्ध तरीके से अनुभव किया जा सकता है और उनका साक्षात्कार किया जा सकता है। चेतना की यात्रा का पड़ाव यही शक्ति केन्द्र हैं। अत: अभ्यास में शक्ति की सारी दिवारों तथा ठहरावों को हटाकर सारी कार्य शक्ति को एक स्तर पर यानी सबसे ऊंचे महा चेतन स्तर पर इकट्ठा किया जाता है। नीचे के स्तरों की चेतना को परमात्मा की उच्चतम चेतना के अन्दर विलीन करके शक्ति के अखण्ड और अनन्त महाप्रकाशवान आनन्द स्रोत का पान किया जाता है। ऐसे अभ्यासी का शरीर ऐसा यंत्र बन जाता है जहां से यदि कोई इच्छा या संकल्प शक्ति का निश्चय उठता है तो उसकी पहुंच ब्रह्मण्ड व सतपुरूष के अनन्त स्रोत तक झाल मारती है। ऐसे महापुरूष या अभ्यासी के चारों ओर धीरे-धीरे ऐसा मण्डल विकसित हो जाता है जिसकी काट किसी हथियार या सूक्ष्म शक्ति या देवी-देवताओं के पास नहीं है। पूरी की पूरी भौतिक व्यवस्था जीवन के उत्थान की प्रक्रिया में सम्मिलित होने लगती है। चेतना का

सामुहिक विकास दृष्टिगोचर होने लगता है। अत: जो व्यक्ति चेतना के सामान्य स्तर पर जीते हैं और प्रकृति के बहाव में बहते जा रहे हैं वे मनुष्य एक लोहे की छड़ की तरह हैं और जिन्होंने अपनी समुची चेतना का नियमबद्ध तरीके से भण्डारण करके अपनी इच्छा से ध्यानावस्था में जीवन और मृत्यु प्राप्त करने का रहस्य जान लिया है, वह उस विशाल व शक्तिशाली चुम्बक के समान है जिसके अन्दर ताकत की धार अविरल रूप से निर्बाध होकर एक सिरे से दूसरे सिरे तक हर समय बहती रहती है। उसके चारों तरफ शक्ति का ऐसा मण्डल विकसित हो जाता है जिसके सम्पर्क में आते ही हर लोहे की छड़ी भी चुम्बक बन जाती है। अर्थात् सामान्य चेतना का व्यक्ति प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सकता है।

यह था अभ्यास करने का संक्षेप में आध्यात्मिक महत्त्व। अब कुछ विशेष जानकारी के लिए थोड़ा विवरण निम्नलिखित संबंधों के आधार पर किया जाता है:

1. अभ्यास से शारीरिक, मानसिक व आत्मिक दु:खों का निवारण होता है।
2. इच्छा शक्ति व विवेक शक्ति बढ़ती है।
3. कर्म बंधनों का नाश होता है।
4. ऊंची वृति रहने से लायक संतान पैदा होती है।
5. क्रिया शक्ति बढ़ती है।
6. मालिक की मौज में जीने की समझ आने लगती है।
7. ऊंची योनी में जन्म मिलता है।
8. अभ्यास से परमार्थ बनता है और परमार्थ से परोपकार व स्वार्थ दोनों पूरे हो जाते हैं।
9. अभ्यासी परमात्मा का सच्चा व पूर्ण यंत्र बन जाता है।
10. प्यार और कर्त्तव्य की भावना बढ़ती है।
11. निज-स्वरूप में स्थिति होती है।

उपरोलिखित विषयों के बारे में थोड़ा या बहुत विवरण पहले ही जगह-2 पर आ चुका है, फिर भी इनके बारे में संक्षेप में लिखा जाता है।

1. अभ्यास से शारीरिक, मानसिक व आत्मिक दु:खों का निवारण होता है:

सांख्य दर्शन में लिखा गया है: अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च ।। (सांख्य 6) अर्थात् सृष्टि के तीन अवान्तर भेद हैं-अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव। इन तीन भेदों के संबंध से तीन ही प्रकार का सुख-दु:ख होता है। आध्यात्मिक सुख-दु:ख दो प्रकार का है - शारीरिक और मानसिक। शरीर का दु:ख शारीरिक दु:ख और शरीर का सुख शारीरिक सुख कहलाता है। मन का दु:ख जैसे ईर्ष्या, तृष्णा, राग, द्वेष आदि मानसिक दु:ख हैं और मन के सुख जैसे शांति, वैराग्य, संकल्प आदि मानसिक सुख हैं। आधिभौतिक सुख-दु:ख वह सुख-दु:ख हैं जो दूसरे प्राणियों या जीवों से मिलते हैं जैसे गौ, घोड़े, भैंस, सांप, बिच्छु आदि से। आधिदैविक सुख प्रकाश, वर्षा आदि से होता है और आधिदैविक दु:ख ओलावृष्टि, बिजली गिरने, अतिवृष्टि आदि से होता है अर्थात् दूसरी भुगोलिय शक्तियां जैसे सूर्य, पृथ्वी या किसी दूसरे ग्रह आदि से। इन तीन प्रकार के ताप या त्रिविध दु:खों (आधि, व्याधि, उपाधि) का कारण है: पंञ्चपर्वा अविधा (सांख्य 22) अर्थात् पांच गांठ वाली अविधा। अविधा की ये पांच गांठ इस प्रकार हैं: अविधा, राग, द्वेष, अभिनिवेश और अस्मिता। इन्हीं पांचो को योग दर्शन में पांच क्लेश कह कर पुकारा गया है। योग सूत्र के अध्याय दो 'साधनपाद' में इस प्रकार का वर्णन किया गया है:

अविद्यास्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशा : क्लेशा:।

इन पांचों क्लेशों, जो तीन ताप का कारण हैं, का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है:

1. अविद्या- अनित्य में नित्य, अनात्मा में आत्मा, असत्य में सत्य समझना ही अविद्या है अर्थात् इस संसार को अपना घर समझना ही अविद्या का मूल स्वरूप है।
2. राग- इन्द्रियों के सुख के साथ लगाव राग है।
3. द्वेष- इच्छाओं और तृष्णा की पूर्ति न होने पर विघ्नकारक के प्रति घृणा का भाव द्वेष है।
4. अभिनिवेश- भोगों की इच्छा होने के कारण मृत्यु का भय अभिनिवेश है।
5. अस्मिता- अहम् भाव या कर्ता भाव या बुद्धि में आत्म-बुद्धि का भाव अस्मिता क्लेश है।

तीन ताप का कारण 5 क्लेश हैं और पांच क्लेशों का मुख्य कारण अविद्या को कहा गया है। योग सुत्र के अध्याय दो में ही लिखा गया है: तस्यहेतुरविद्या।। अर्थात् अविद्या इन सब का कारण है बाकि चार अविद्या का परिणाम हैं। इसका अर्थ यह है कि तीन ताप और पांच क्लेशों को पैदा करने वाला मुख्य कारण अविद्या है। अविद्या का निवारण तत्वज्ञान के जानने से हो सकता है। सांख्य दर्शन के अनुसार 25 प्रकृति के मूल स्वरूप को बौद्धिक और गहन विवेचन से जानने पर अविद्या का नाश होता है। विवेकख्याति की प्राप्ति होती है और पुरूष की अपने स्वरूप में अवस्थिति होती है। योग दर्शन में इन सबके मूल स्वरूप का साक्षात्कार अष्टांग योग का पालन करते हुए सबीज समाधि में किया जाता है जहां इन सबकी वृति चित्त के ऊपर पुरूष के प्रकाश से प्रकाशित हो उठती है। वेदान्त में ऐसा ज्ञान सम्प्रज्ञात समाधि में जाकर फलीभूत होता है। बौद्ध दर्शन में चार आर्य-सत्य और अष्टांगिक मार्ग पर चलने से सम्यक् समाधि में जाकर होता है। जैन दर्शन में पांच महाव्रत, संवर और निर्जरा का कड़ाई से पालन करते हुए 'केवलज्ञान' की प्राप्ति से होता है। दूसरे धर्म व दर्शन भी अविद्या

और अज्ञान का समूल विनाश करने के लिए समाधि पर जोर देते हैं जहां अतीन्द्रिय ज्ञान और दूर दृष्टि, दिव्य नेत्र, तीसरा नेत्र व निर्वाण की प्राप्ति होती है। ओशो दिव्य चक्षु की प्राप्ति को 'दीए का जलना' कहते हैं जो छटे शरीर अर्थात् ब्रह्म शरीर का खुलना है और जब दीया बुझ जाता है तो इसे सहस्रार अर्थात् 'निर्वाण काया' का अनुभव कहते हैं, जो देहशून्यता व परम् अवस्था है। प्रजापिता ब्रह्मकुमारी ईश्वरीय ज्ञान में अज्ञान का नाश आज्ञा चक्र पर ज्योति स्वरूप परम् पिता शिव का दर्शन करने से होता है। इसी अनुभव को राज योग की आध्यात्मिक पूर्णता कहा गया है। श्री अरविन्द कृत सम्पूर्ण योग में इस अनुभव की पूर्णता सहस्रार से ऊपर जाकर निर्विकल्प समाधि में होती है। आनन्द मार्ग में अज्ञान और अविद्या के विनाश करने का उपाय सुरत-शब्द योग करने से कहा गया है। राधास्वामी योग का यह अनुभव पहले ही इस पुस्तक के सातवें अध्याय 'अभ्यास की 18 मंजिलें' में वर्णन कर दिया गया है।

अत: स्पष्ट है कि शरीर, मन व आत्मा के दु:ख और क्लेशों का निवारण करने का एक मात्र उपाय अभ्यास द्वारा कहा गया है, यही एकमत से स्वीकार किया गया है सभी धर्म व दर्शनों में। अभ्यास द्वारा अभ्यासी को साधारण चेतना के स्तर से ऊंचा उठना होता है। सुख-दु:ख की सीमा को पार करना होता है, जीते-जी-मरने का अभ्यास किया जाता है। हर प्राप्ति और अप्राप्ति को परमात्मा की मर्जी के अधीन मानना होता है लेकिन यह सारतत्व बातों से समझने का विषय नहीं है, इसकी पूरी समझ अभ्यास में बैठकर ही आ सकती है। अभ्यास से सार-तत्व को जाना जा सकता है। अभ्यास करने से आत्म ज्ञान हो जाता है जिससे सभी कर्म-क्लेश मिट जाते हैं। योग शास्त्र में कहा गया है: तत् क्लेश कर्म निवृति:।। अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर क्लेश और कर्म से छुटकारा मिल जाता है।

वैज्ञानिक और सरल भाषा में इसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है कि कोई भी शारीरिक या मानसिक दु:ख उस समय पैदा होता है जब आत्मा की धार किसी स्थान विशेष से अपने आप को खींच लेती है या चैतन्यता कम हो जाती है। उदाहरण के तौर पर जब काम करते-करते हम थक जाते हैं तो सारे शरीर में दर्द या दु:खन या थकावट हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि आत्मा की धार अन्दर की तरफ, अपने भण्डार की तरफ ताजगी लेने के लिए खिंच जाना चाहती है। ध्यान-योग में यही अभ्यास किया जाता है जिससे आत्मा की पहुंच ताजगी और आनन्द के भण्डार में सुगमता से होने लगे और चेतना की अन्तरतम गहराईयों में व्याप्त गूढ़ रहस्यों को तत्वज्ञान से जाना जाए। योग साधना में चेतना के बहाव को नियंत्रित करने का अभ्यास किया जाता है। किसी विशेष स्थान पर चेतना का अवरूध होना ही बिमारी का द्योतक है। यदि बिमारी वाले स्थान पर विशेषकर मस्तिष्क की बिमारियों में यदि अभ्यास द्वारा चेतना का बहाव बढ़ा दिया जाए तो बिमारी ठीक हो जाती है। योग साधना के बल पर संसार के कोने-2 में इस तरह के परीक्षण किए जा रहे हैं औरअत्यधिक सफलता मिल रही है। मानसिक शान्ति प्रदान करने में योग-साधना का विशेष महत्त्व है। वैज्ञानिक शोध परीक्षण सिद्ध करते हैं कि ध्यान से मस्तिष्क में अल्फा, थीटा व डेल्टा तरंगों का व्यवहार बढ़ता है जो मानसिक शान्ति और स्थिरता में अहम् भूमिका निभाती हैं। लगभग बिमारियां दिमागी परेशानी का परिणाम होती हैं और अभ्यास से दिमाग को शांत करने वाली प्रकाश तरंगें विकसित होती हैं और शरीर की सारी ग्रंथियों की कार्य शक्ति बढ़ती है। अत: शारीरिक, मानसिक और आत्मिक व्याधियों का निवारण करने के लिए अभ्यास एक विशेष भूमिका अदा करता है।

2. अभ्यास से इच्छा शक्ति व विवेक शक्ति बढ़ती है:

लगातार अभ्यास करने से जब अभ्यासी की आत्मा प्राज्ञस्थित

हो जाती है तो उसकी चेतना की पहुंच ब्रह्मण्ड के असीम विस्तार तक हो जाती है। उसकी इच्छाओं की पूर्ति बहुत सरलता से होने लगती है। ज्यों-2 अभ्यास दृढ़ होता जाता है, इच्छा शक्ति बढ़ती जाती है। आत्म-ज्ञान होने के कारण नित्य-अनित्य को पहचानने की क्षमता बढ़ जाती है। सांसारिक मोह भंग होने लगता है। पुरूष को प्रकृति के विकारों का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी ज्ञान को विवेकख्याति की प्राप्ति कहा जाता है। इनका वर्णन पहले भी किया जा चुका है, अत: अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है।

3. कर्म बंधनों का नाश होता है:

अभ्यास करने से कार्य के कारण तक पहुंचा जाता है और वहां पहुंचकर कारण रूपी बीज विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। जो कार्य स्थूल रूप में प्रकट होने होते हैं, उन्हें ध्यान में सूक्ष्म रूप से प्रकट कर लिया जाता है और उनका प्रभाव समाप्त हो जाता है। जब समाधि में चित्त की वृतियों का साक्षात्कार हो जाता है तो समस्त कार्य या उनके संस्कार सूक्ष्म रूप से प्रकट हो जाते हैं जिसे सबीज या सविकल्प समाधि कहा जाता है और जब ये वृतियां भी समाप्त हो जाती हैं तो सभी संस्कारों के बीज दग्ध हो जाते हैं जिसे निर्बीज या निर्विकल्प समाधि या असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है, लेकिन फिर भी इनका निरोधरूपी संस्कार विद्यमान रहता है और जब इसे भी दूर करने का अभ्यास हो जाता है तो कैवल्यपद की प्राप्ति होती है। अत: समाधि में चित्त के ऊपर विद्यमान सभी कर्मों के संस्कारों के बीज प्रकट करके उन्हें खारीज कर दिया जाता है।

जब हम कोई कार्य करते हैं, दृष्य देखते हैं या विचार करते हैं तो यही दृष्य, कार्य या विचार संस्कार बनकर हमारे मस्तिष्क की चेतना के ऊपर जमा होते रहते हैं। हमारे मस्तिष्क के अन्दर स्मृति केन्द्र होते हैं जहां ये संस्कार जमा होते रहते हैं। इन स्मृति रूपी संस्कारों को वैज्ञानिक तरीके से मस्तिष्क के अन्दर कृत्रिम विद्युत तरंगें भेज कर साक्षात रूप

से प्रकट किया जा सकता है। यही संस्कार आगे चलकर हमारा प्रारब्ध बन जाते हैं। इसी कारण-कार्य (Cause and Effect) के सिद्धांत के आधार पर यह रचना उत्पत्ति और लय-प्रलय में आती-जाती रहती है। सुषुप्ति में विद्यमान बीज कारण अवस्था है और उन बीजों का क्रियाशीलता में आना जागृति अवस्था है। जागृति कार्य है और सुषुप्ति उस कार्य की कारण में परिणति है। इस कार्य-कारण की कभी ना समाप्त होने वाली श्रृंखला को तोड़ने के लिए ही अभ्यास किया जाता है। इस तरह से न तो नए कर्म बनते हैं और ना ही उनके संस्कार रूपी बीज चित्त पर जमा होते हैं। प्राज्ञस्थित योगी कर्म करता हुआ भी अकर्मी बना रहता है। उसके सारे कर्म और उनके फल स्वत: ही परमात्मा को समर्पित होते रहते हैं।

4. ऊंची वृति रहने से लायक संतान पैदा होती है:

माता-पिता के अन्दर जैसे संस्कार होते हैं वैसे संस्कार संतान के अन्दर अवश्य जाते हैं। माता के गर्भ में जब बच्चा आता है तो माता की हर एक क्रिया या विचार का असर बच्चे के शरीर व दिमाग के विकास पर भी पड़ता है। इस तथ्य को विज्ञान भी स्वीकार कर चुका है। यहां तक कि जब माता कोई विचार करती है तो बच्चा उन विचारों की गति से उत्पन्न शब्द-धुन को सुनता है। उस समय माता यदि कोई विशेष संगीत सुनती है तो जन्म के बाद बच्चा उसी संगीत की तरफ आकर्षित होता हुआ पाया गया है।

ध्यान-अभ्यास करने से व्यक्ति की प्रकृति में भी बदलाव आने लगता है। उसके शरीर में नई शक्ति का सृजन होने लगता है। यही नया सृजन उसकी भूख,प्यास और रहन-सहन को भी प्रभावित करने लगता है। कुण्डलीनी शक्ति के जागने से उसके अन्दर विद्यमान चक्र या मण्डलों की कार्यशक्ति प्रभावित होने लगती है। परिणाम स्वरूप अभ्यासी के शरीर के अन्दर हारमोन्स व इन्जाईम में बदलाव आ जाता

है। मनुष्य की हर कार्यविधि इन्हीं हारमोन्स के द्वारा नियंत्रित होती है। मनुष्य को एक विशेष प्रकार का स्वादिष्ट भोजन देखकर भूख न होते हुए भी भूख लग जाती है और पसंन्द का भोजन न मिलने पर उसकी तेज भूख भी बिना खाए ही मिट जाती है। यह सारा खेल हारमोन्स का ही है। स्वादिष्ट भोजन देखकर मनुष्य के अंदर भूख लगाने वाले हारमोन्स निकलते हैं और अस्वादिष्ट भोजन मिलने पर भूख मिटाने वाले हारमोन्स निकलते हैं। इसी प्रकार मनुष्य हंसना चाहता है तो उसी समय हंसाने वाले हारमोन्स पैदा हो जाते हैं और मनुष्य हंस पाता है। रोने का विचार आते ही रूलाने वाले हारमोन्स पैदा हो जाते हैं जो आसुओं के अन्दर पाए जाते हैं। अत: अभ्यास में अभ्यासी की विचारधारा और रहन-सहन की कार्यशैली बदलती जाती है, जिससे उसके शरीर की कोशिकाओं के हारमोनल बैलेन्स में स्थायी तौर पर बदलाव आ जाता है। ऐसा लगातार और लम्बे समय तक होने से अनुवांशिक पदार्थ (Genetic Material) की संरचना में भी बदलाव अवश्य आएगा। इसका असर तो एक पौधे के अन्दर भी देखा जा सकता है। जब कोई पौधा लगातार 8-10 वर्षों तक एक विशेष वातावरण में उगाया जाता है तो उसके अन्दर उस वातावरण को सहन करने की क्षमता पैदा हो जाती है। जब किसी पौधे पर लगातार कोई दवाई प्रयोग की जाती है तो उस पौधे के अन्दर उस दवाई के प्रति अवरोध आने लगता है। कुछ पौधों के अन्दर तो यह असर 2-3 साल के अन्दर ही पैदा हो जाता है। मच्छरों, कीड़ों या मनुष्यों पर भी इसका प्रभाव वैज्ञानिक शोध-निष्कर्षों में देखा जा चुका है। यह सब इसी हारमोनल या इन्जाईम स्तर में बदलाव आने का परिणाम है और ऐसा जब किसी जीव के अन्दर हो जाता है तो उस जीव की संतान के अंदर भी वही गुण स्थानान्तरित होता जाता है। आदि मानव से आज के मानव की विचार शैली में बदलाव इसी आधार को माना जाता है।

अभ्यास करने से मनुष्य के अन्दर विशेष बदलाव आने लगता है। उसकी शारीरिक, क्रियात्मक और मानसिक अवस्था बदलती चली जाती है। क्रियात्मक शक्ति बढ़ती चली जाती है। लगातार अभ्यास करने से शरीर व मस्तिष्क के अन्दर एक विशेष लम्बाई की विद्युत-चुम्बकीय तरंगों का संचय होने लगता है और यह बढ़ता जाता है। इस प्रकार के निष्कर्ष वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर निकाले गए हैं, इनका वर्णन पहले के अध्यायों में भी कर दिया गया है। यह सब इसलिए होता है कि अभ्यासी के शरीर व मन की सारी ऊर्जा-शक्ति एक विशेष बहाव में आ जाती है। उसका सारा शरीर, मन व बुद्धि प्रकाश के उजाले से भर जाते हैं। विभिन्न प्रकार के संगीत उसके अन्दर गूंजने लग जाते हैं। जिसके कारण उसके आधार अर्थात् शरीर व मन को बनाने वाले पदार्थ की सरचंना में ही बदलाव आ जाता है। इसी आधार को बनाने वाला पदार्थ या मनुष्य की प्रकृति को निश्चित करने वाला पदार्थ 'अनुवांशिक पदार्थ' कहलाता है। यही पदार्थ अगली पीढ़ियों की संतान का भविष्य निर्धारित करता है। अत: अभ्यास करने से अच्छी संतान पैदा होती हैं जो समाज और देश को ऊंचा उठाने में मदद करती हैं।

इसके अतिरिक्त ऐसी ऊंची वृति रखने वाले अभ्यासी के चारों तरफ का वातावरण भी दिव्य होने लग जाता है। इसका कारण भी यही है कि ऐसे अभ्यासी के अन्दर ज्योति-स्वरूप परमात्मा हर समय विराजमान रहता है और ऐसे अभ्यासी के शरीर के अन्दर से विशेष तरह की विकिरण (रेडिएशन) निकलती रहती है जो शान्ति स्वरूप है। इसका असर परिवार में साथ रहने वाले सदस्यों या बच्चों पर तो अवश्य ही पड़ता है। इसलिए परिवार व आसपास के वातारण में भी बदलाव आ जाता है। इस विषय पर पण्डित फकीर चन्द जी महाराज अपने सत्संगों में अकसर कहा करते थे कि यदि देश को उन्नति के पथ पर ले जाना है

तो हमें ऊंची वृति अपनाकर संतान पैदा करनी होंगी और राजनेताओं को अपनी दृष्टि आध्यात्मिक बनानी होगी तभी सामान्य जनमानस का कल्याण हो सकता है। यदि नेताओं का चरित्र गिरा हुआ है तो उनके पदचिन्हों पर चलने वाली जनता भी भ्रष्टाचारी व दुर्भावनायुक्त होगी क्योंकि उनके अन्दर से ऐसी ही रेडिएशन निकलेंगी। ऐसे राजनेताओं के रहते कोई भी देश या समाज उन्नति नहीं कर सकता है।

5. क्रिया शक्ति बढ़ती है:

जब कोई व्यक्ति अध्यात्म के रास्ते में कदम रखता है और नित-नेम से अभ्यास करता है तो उसकी शारीरिक, प्राणिक और मानसिक चेतना की रूकावट दूर होने लगती है और नयी चेतना का संचार होने लगता है। इससे इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और विवेक शक्ति तो बढ़ती ही है, साथ में एक रचनात्मक व क्रियात्मक शक्ति भी वजूद में आने लगती है। जब किसी स्थान या परिवार की सामुहिक चेतना की गति धीमी पड़ने लगती है या किसी पुरूष में क्रियात्मक शक्ति का अभाव नजर आता है तब यदि उस स्थान, वातावरण या पुरूष के अन्दर आध्यात्मिक बीज डाल दिया जाए और ध्यान का अभ्यास करवाया जाए, तो यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि वहां की रूकी हुई चेतना क्रियाशील हो उठती है। इसका परिणाम कुछ ही दिनों के अभ्यास से स्पष्ट देखा जा सकता है।

6. मालिक की मौज मे जीने की समझ आने लगती है:

जब साधक अभ्यास में आध्यात्मिक मंजिलें तय करने लगता है तो उसके अन्दर परमात्मा के रहस्य की पुस्तक खुलने लगती है। वह मौज के महत्त्व को समझने लग जाता है, उसे हर तरफ व कण-कण में मालिक का रूप दिखाई देने लगता है। सबके अन्दर निज-तत्व का विस्तार नजर आने लगता है। जब अर्जुन को श्री कृष्ण के विराट-स्वरूप के दर्शन होते हैं तो उसे चारों तरफ कण-कण में वासुदेव ही वासुदेव के

दर्शन होने लगते हैं। इसी प्रकार अभ्यासी जब ध्यान में परमात्मा के ब्रह्म व परम स्वरूप के दर्शन कर लेता है तो उसकी दृष्टि विशाल हो जाती है और वह हर रूप में उसी की अभिव्यक्ति का विस्तार पाता है। यद्यपि इसकी समझ आना इतना आसान काम नहीं है लेकिन धीरे-धीरे अन्दर में उतरती हुई ताकत इसकी पुष्टि करती जाती है। सुख-दु:ख व अच्छाई-बुराई में मालिक की मौज नजर आने लगती है। अभ्यासी की दृष्टि बदलती चली जाती है और सोचता है कि जो कुछ हुआ, मालिक की मौज से हुआ और जो होगा, वह भी उसी की इच्छा से होगा। इस विषय पर सतगुरू ताराचन्द जी महाराज अपने सतगुरू रामसिंह अरमान जी की बहुत ही अच्छी मिशाल देकर सुनाते हैं कि उनके गुरू जी (रामसिंह अरमान) के कई लड़के थे और धीरे-धीरे एक-एक करके सभी मौत के मुंह में समा गए। उन्होंने कभी भी एक आंसु नहीं निकाला। जब लोग उनसे इसका रहस्य पूछते तो वे एक ही कहानी सुनाया करते थे कि एक बार एक गृहस्थी किसी नदी में स्नान कर रहा था तो उसी समय एक घड़ा तैरता हुआ आया। उस घड़े में सोना, चांदी व जवाहरात भरे हुए थे। जब घड़ा हाथ में लिया और उसमें छिपा खजाना देखा तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा लेकिन तभी मालिक की ऐसी करनी हुई कि उसके हाथ से वह घड़ा वापिस नदी में छूट गया। फिर क्या था, गृहस्थी नदी के किनारे बैठकर विलाप करने लगा और रोने लगा लेकिन तभी वहां पर एक साधु आया। उसने गृहस्थी की यह हालत देखी तो उससे रहा न गया। जब साधु बाबा ने पूछा तो गृहस्थी ने सारी कहानी उन्हें सुनाई। सुनकर साधु बाबा कहने लगे कि तू क्यों विलाप करता है, तुम्हें सारा खजाना नदी से मिला था और उसी में वापिस चला गया। जिसकी वस्तु थी उसी के पास चली गई। तेरा तो कुछ भी नहीं था, जो था उसी का था, उसी ने वापिस ले लिया। यह सुनाकर अरमान साहब कहते थे कि मेरी औलाद भी राधास्वामी दयाल की दया और मेहर से पैदा हुई

थी। उन्होंने कृपा करके कुछ समय के लिए इनका पालन-पोषण करने के लिए मेरी निगरानी में रखा था। अब उन्हीं की दया मेहर से उन्हीं के पास वापिस चली गई है। ये शब्द होते थे उस गृहस्थी धर्म को तपाने वाले संत रामसिंह जी अरमान के जिन्होंने राधास्वामी दयाल की मौज को अपने जीवन में उतारकर अमली जामा पहनाया। यही है सतगुरू की मौज। यही मौज अभ्यासी के जीवन में धीरे-धीरे उतरती चली जाती है और वह मालिक की मौज में जीने लगता है जिससे वह सामान्य चेतना के स्तर से ऊंचा उठता चला जाता है।

7. ऊंची योनी में जन्म मिलता है:

कोई मनष्य जब एक बार शब्द की कमाई करने लग जाता है तो उसकी सुरत विकास की आन्तरिक प्रक्रिया में सम्मिलित हो जाती है। हर स्थान, वस्तु या अस्तित्व के अन्दर दो तरह की ताकतें कार्य करती रहती हैं, एक बाहरमुखी और दूसरी अन्तर्मुखी जिन्हें सेन्ट्रीफ्यूगल और सेन्ट्रीपीटल भी कहा जाता है। पहले वाली ताकत में शक्ति केन्द्र से बाहर की तरफ दौड़ती है और दूसरे वाली ताकत में वह अन्दर की तरफ खिंच जाती है। अन्दर की तरफ खिंच जाना ही सुरत की निज धाम की तरफ यात्रा होती है। सुरत जब अन्दर की तरफ जाने वाली धार में सम्मिलित हो जाती है तो वह सुरत-शब्द का योग करती हुई मंजिल-मंजिल ऊपर चढ़ती जाती है और एक दिन निज धाम में जाकर राधास्वामी दयाल का रूप बन जाती है। सुरत-शब्द योग करती हुई आत्मा बीच में ही यदि यह भौतिक शरीर छोड़कर चली जाती है तो उसके अगले जन्म की यात्रा वहीं से आरम्भ होती है, जहां पर पिछले जन्म में उसने अपनी यात्रा अधूरी छोड़ी थी। इसके विपरीत जो मनुष्य देवी-देवताओं की आराधाना करते हैं या तीर्थ-व्रतों या कथाओं का पाठ करने में फंसे हुए हैं वे इस धार में शामिल नहीं हो पाते हैं और बाहर की तरफ फैलने वाली छोटी-2 कर्मों व देवी-देवताओं की धार तक ही

सीमित रह जाते हैं। उनकी आत्मा कभी अन्दर की तरफ खिंच जाती है तो कभी बाहर की तरफ आ गिरती है। शरीर छोड़ने के बाद स्वर्ग आदि का भोग-भोगकर दोबारा फिर जन्म लेकर पृथ्वी पर आ जाते हैं। सभी देवी-देवता कर्म और वासना में फंसी हुई आत्माएं हैं जो स्वयं भी मुक्त नहीं हुई हैं, वे अपने साधकों को कैसे मुक्ति प्रदान कर सकती हैं। शास्त्रों में ऐसी ही सतोगुणी आत्माओं को देवता कहा गया है।श्रीमद्भगवद् गीता में श्री कृष्ण अर्जुन को ज्ञान देते हुए सप्तम अध्याय में बताते हैं, ''हे अर्जुन! जिन पुरूषों का ज्ञान कामनाओं वश भ्रष्ट हो गया है वह देवताओं को पूजते हैं। यह अपनी प्रकृति के अनुसार बाहरी नियमों (विधियों) में आस्था रखते हैं।'' फिर कहते हैं कि जो सकामी भक्त जिस देवता को श्रद्धा से पूजता है मैं उसके विश्वास के अनुसार उसकी कामना को पूरी करता हूं। उन अल्पबुद्धि वालों के (कर्मों के) फल सीमित होते हैं। देवताओं के पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं। फिर अष्टम अध्याय के छटे श्लोक में कहते हैं कि हे कुन्ती पुत्र! जो पुरूष किसी अन्य का ध्यान करता हुआ अपने शरीर को त्यागता है वह उसी को प्राप्त होता है। यह प्रकृति (के नियम) के अनुसार है। इसके बाद नौंवे अध्याय के श्लोक 21 और 22 में लिखा गया है- विशाल स्वर्ग लोक के भोग-भोगकर उनके पुन्य क्षीण हो जाते हैं और वह फिर मृत्यु लोकों में वापिस आते हैं। तीनों (ऋग, साम, यजुर-वेद) के कहे हुए नियम के अनुसार भोगों की कामना करते हुए वह आने जाने को प्राप्त करते हैं। जो जन केवल मुझे पूजते हैं और अन्य का चिन्तन (तक) नहीं करते उनको मैं शान्ति देता और उनकी पूरी रक्षा करता हूं।

गीता में स्पष्ट कहा गया है कि जो मनुष्य प्रकृति के बाहरी फैलाव के नियमों में आस्था रखतें है अर्थात् देवी-देवताओं की पूजा करतें हैं वे आवागमन से नहीं छूट पातें हैं और जो एक आत्मा या

परमात्मा की पूजा करते हैं वे मुक्ति और शान्ति के अधिकारी होते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि जो प्राणी निज तत्व को जानना चाहते हैं वे हर जन्म में ऊंची योनी को प्राप्त करते हैं और सीढ़ी-2 चढ़ते हुए निज-स्वरूप में अवस्थित होते हैं। ऐसी प्राप्ति अक्षरब्रह्मविद्या योग, जो गीता के अष्टम अध्याय का विषय है, से ही की जा सकती है। अक्षरविद्या योग ही सुरत-शब्द योग है। अक्षर का अर्थ शब्द और विद्या का अर्थ सुरत अर्थात् ज्ञान या चित्त जाना जाता है।

8. अभ्यास सें परमार्थ बनता है और परमार्थ से परोपकार व स्वार्थ दोनों पूरे हो जाते हैं:

परमार्थ सभी सामान पैदा कर देता है। सच्चे परमार्थी को कभी कोई कष्ट नहीं आता है। यदि आता भी है तो कोई जीवन का अनुभव करवाने के लिए, मालिक की मौज समझाने के लिए आता है ताकि अभ्यासी अपने अहंकार की पुष्टि न कर सके। परमार्थ से स्वार्थ और परोपकार दोनों अपने आप ही बनते जाते हैं, वह सतगुरू का प्यारा बन जाता है। गीता में श्री कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि मैं सभी जीवों तथा चर-अचर की आत्मा हूं, सभी में बराबर रूप से रहता हूं और बराबर रहकर ही उन सभी रूपों को पालता हूं लेकिन तुझसे मुझे विशेष प्यार है, क्योंकि तू सच्चा जिज्ञासू है, तेरे द्वारा मेरा यह कार्य पूर्ण हो रहा है। कहने का अभिप्राय यही है कि जब मनुष्य अभ्यास करता हुआ सतगुरू के नूरी स्वरूप का पान करने लगता है तो उसके अन्दर सतगुरू की विशेष ताकत व दया की धार का संग्रह होता जाता है। यही धार सतगुरू का प्रेम है। जहां चेतना की ताकत ज्यादा रहेगी या सच्चिदानन्द् अधिक होगा वहीं पर प्रेम का प्रकटीकरण भी ज्यादा होगा क्योंकि प्रेम ही अस्तित्व है, प्रेम ही ज्ञान है और प्रेम ही आनन्द है। ऐसा मनुष्य मालिक का प्यारा बन जाता है क्योंकि ऐसे अभ्यासी ने अपने हृदय को साफ करके उसे मालिक के रहने के योग्य बना लिया है। अपने घट को

ऐसा मन्दिर बना लिया है जहां पर दिन-रात मालिक की मौज से अपने आप ही घंटे, शंख बजते रहते हैं। इसलिए ऐसा अभ्यासी कभी भी कष्ट में नहीं रह सकता है क्योंकि मालिक खुद ही सारे संसार के खजानों का भण्डार है, स्रोत है। उसके सभी कार्य अपने आप ही पूर्ण होते रहते हैं। स्वार्थ व परोपकार खुद ही बनते जाते हैं। सच्चा परोपकार तभी किया जा सकता है जब मनुष्य के अन्दर स्वयं परोपकारी पुरूष अवस्थित हो चुका हो। आत्मा प्रज्ञास्थित हो चुकी हो और परोपकार करने का सामान अन्दर पैदा हो चुका हो क्योंकि परोपकार और समाज सुधार में प्रकृति व माया की ताकतें विरोध पर उतर आती हैं, उनकी सत्ता पर चोट लगती है, वे फैलना चाहती हैं लेकिन एक ऐसा पुरूष उनके विस्तार को रोकना चाहता है जो अन्दर से समर्थ नहीं है व स्वयं भी प्रकृति की उन्हीं ताकतों से संचालित हो रहा है, उनके रहस्य को मूल से नहीं समझ पाया है, उस केन्द्र पर अधिकार प्राप्त नहीं किया है जहां से ये ताकतें पैदा होती हैं व अपने मूल रूप में यानी बीज रूप में विद्यमान हैं और वही पुरूष यदि परोपकार व समाज सुधार करना चाहता है तो वहां पर उन ताकतों के बीच संघर्ष आरम्भ हो जाएगा। तामसिक, राजसिक व सतोगुणी ताकतें विरोध में खड़ी हो जाएंगी क्योंकि इस अंधकार को काटने के लिए उस पुरूष के अन्दर आत्मिक प्रकाश और शब्द की ताकत ही पैदा नहीं हुई है, अभ्यास की वह अवस्था ही प्रकट नहीं हुई है जो काल, माया व अंधकार की ताकतों को हरा सके। ऐसे समाज सुधार में लोगों का अहित हो सकता है, विनाश की ताकतों का नग्न नृत्य हो सकता है, साम्प्रदायिक ताकतें आपस में टकरा सकती हैं जिसे वह मनुष्य रोक नहीं पाएगा। अत: जरूरी है कि ऐसे मनुष्य को परमार्थ की उच्चतम व शुद्धतम ताकत का जीता-जागता स्रोत होना चाहिए, तभी जाकर शंकराचार्य, स्वामी दयानन्द, मदर टेरेसा, महात्मा गांधी, हजरत मोहम्मद, ईसा मसीह, महात्मा बुद्ध, भगवान महावीर व कबीर

साहब की तरह आज के समाज सुधारक भी इस पार्थिव जीवन में परोपकार की धारा प्रवेश करा सकते हैं और रास्ते में आने वाले हर उतार-चढ़ाव के सीने पर पैर रखकर आगे बढ़ सकते हैं वरना परोपकार की व्याख्या केवल पुस्तकों का शब्द बनकर ही रह जाएगी। इसलिए परमार्थ की कमाई ही सच्चे अर्थों में असली कमाई है, जहां पर स्वार्थ और परोपकार दोनों अपना मस्तक झुकाते हैं।

स्वत: संत ताराचन्द जी महाराज इसे इस तरह फरमाते हैं कि एक किसान अपने खेत की बिजाई करते समय कभी यह नहीं सोचता कि उसे इतना भूसा चाहिए बल्कि कहता है कि इतना अनाज चाहिए। अनाज के साथ भूसा तो अपने आप ही आ जाता है। इसलिए परमार्थ के मिलने पर स्वार्थ तो अपने आप ही पूरा हो जाता है। इसी तरह दूसरा उदाहरण देते हुए समझाते हैं कि एक बार एक राजा ने घोषणा करवायी कि उसे गद्दी का अधिकारी चाहिए। इसलिए जो राजा बनना चाहे वह तुरन्त आ जाए। हजारों लोग राजा बनने के लिए चल पड़े लेकिन राजा ने सात मंजिलें निश्चित की और सभी मंजिलों पर रूपए-पैसे, कीमती कपड़े, गहने, हीरे, जवाहरात आदि सामान रखवा दिया। सारे लोग जब इन मंजिलों को पार करने लगे तो उनकी आंखें चकाचौंध हो गई और वहीं पर लूटने-खसोटने में लग गए। इस तरह आखरी मंजिल तक केवल एक मनुष्य ही पहुंच पाया, जो विवेकी पुरूष था, असलीयत को समझता था, अपने लक्ष्य पर केन्द्रित था। वही राजा बनाया गया। फिर राज्य के सारे खजाने और सारी प्रजा अपने आप ही उसके काबू में आ गए। यही परमार्थ में होता है। अत: परमार्थ में स्वार्थ और परोपकार दोनों बन जाते हैं।

9. प्यार और कर्तव्य की भावना बढ़ती है:

संतों का सत्संग त्रिवेणी का घाट है जहां पर ऐसी धार बहती रहती है जिसमें स्नान करने से जन्म-2 के कर्मों का लेखा मिट जाता है

और मनुष्य मुक्ति का अधिकारी बनता है। संत कहते हैं कि परमात्मा का दर्शन करने के लिए जंगलों में भटकने की आवश्यकता नहीं है। इसी कर्मक्षेत्र, धर्मक्षेत्र में रहकर ही सच्चाई का पूर्ण दर्शन किया जा सकता है। कर्म के रहस्य के बारे में गीता के अंतिम अध्याय में कहा गया है कि कर्म स्वभाव से उत्पन्न होता है और स्वाभाविक कर्म को करना मनुष्य का धर्म है। अत: कर्म के मर्म को जानने के लिए जंगलों में भटकने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो एक क्षण के लिए भी कर्म का त्याग करता हो। सांस लेना कर्म है, भोजन खाना कर्म है, उठना-बैठना, सोना-जागना सभी तो कर्म हैं। ऐसा पुरूष संसार में एक भी नहीं है जो एक क्षण के लिए भी कर्म का त्याग करता हो। परमात्मा स्वयं हर समय कर्म करता है। यदि वह एक क्षण के लिए कर्म करना छोड़ दे तो सारी सृष्टि एक ही पल में विनाश को प्राप्त हो जाएगी, प्रलय आ जाएगी। अत: संतों ने परमात्मा का पूर्ण साक्षात्कार करने के लिए कर्मक्षेत्र को ही चुना है। यही कर्मक्षेत्र हमारे अन्दर विद्यमान बुराईयों और कमियों को लगातार उभारने का सामान पैदा करता रहता है जिससे आत्म-शुद्धि और समर्पण भावना पैदा होती है जो शुद्धता और पूर्णता प्राप्त करने के लिए अति आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यदि हम परमात्मा की बनाई हुई इस रचना को छोड़कर जंगलों में जाते हैं तो उसका एक पहलू तो हमने पहले ही नकार दिया है जहां पर परमात्मा जन-जन में और कण-कण में रमा हुआ है। अत: परमात्मा की पूर्ण सत्ता का साक्षात्कार यहीं समाज के बीच में रहकर किया जा सकता है। परमात्मा का नूर हर दिल में धड़क रहा है तथा मनुष्य के रूप में स्वयं विद्यमान है। ईंट-पत्थरों के मन्दिरों और जंगलों में वह परमात्मा नहीं है। तीर्थ-व्रत में वह नहीं है वह तो पंचतत्व से निर्मित मनुष्य रूपी मन्दिर के अन्दर विराजमान है। अत: प्रेम द्वारा ही उसकी पूजा संभव है। प्रेम द्वारा ही हृदय के अन्दर उसका अवतरण संभव हो सकता है। प्रेम ही ऐसा

साधन है जिससे एक दिल से दूसरे दिल को जोड़ा जा सकता है। प्रेम रचना की जान है और यह संसार इसी प्रेम की अभिव्यक्ति और प्रकटीकरण है।

संतों के सत्संग में इसी प्रेम को उभारा जाता है। प्रेम आत्मा का स्वभाव है। जब मनुष्य के अन्दर घृणा पैदा होती है तो यह भी इसी प्रेम का प्रकटीकरण है। घृणा के अन्दर भी किसी व्यक्ति के साथ बंधने का गुण मौजूद है। घृणा करने वाले व्यक्ति या दुश्मन का ख्याल हर समय दिल में बना रहता है। घृणा प्रेम का बाहरी स्वरूप है, उसकी छाया है। यदि आकृति नहीं है तो छाया नहीं है। प्रकाश नहीं है तो अंधकार नहीं है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यही प्रेम घृणा को अपने अन्दर समेटकर जब अपने उच्चतम स्वरूप में बंधता है तो महाप्रकाशवान हो जाता है, आनन्द होता है, ज्ञान होता है, और यही प्रेम जब अपने उतार पर होता है तो सृष्टि की रचना करता है, कण-कण में समा जाता है और अपनी अंतिम यात्रा में अचेतन बनकर अंधकार के गर्त में समा जाता है लेकिन बांधने की ताकत इसमें वहां भी बनी रहती है जिसके कारण ब्रह्माण्ड के सारे पिण्ड अस्तित्व में बने रहते हैं और एक दूसरे को खींचते और धकेलते रहते हैं। जहां भी चेतना में घनापन पैदा होता है यही प्रेम इकट्ठा या संकलित होता है क्योंकि संकलन का गुण, एक दूसरे से चिपकने का गुण, पकड़ने का गुण केवल प्रेम में है। अत: यह सारी रचना प्रेम की ही अभिव्यक्ति है।

अभ्यास में बैठकर साधक जब प्रेम की ये मंजिले तय करने लगता है तो उसे हर रूप में सतगुरू की विशालता का अनुभव होने लगता है। कण-कण में सतगुरू ही सतगुरू नजर आने लगते हैं। सभी रूप व आकृतियां परमात्मा या एक ही आत्मा की अभिव्यक्ति दिखाई देती हैं। इसलिए अभ्यासी के अन्दर प्रेम की भावना मजबूत होती जाती है लेकिन प्रेम अपनी ऊंची अवस्था में बंधन नही है, यह मुक्त करता है।

बंधन और निरबंधन का रहस्य समझाता है। जीवन का रहस्य खोलता है। कबीर साहब इस बारे में कहते हैं:

कबीर निरबंधन बंध रहा, बंध निरबंधन होय।
कर्म करै कर्ता नहीं, दास कहावै सोय।।

अत: प्रेम बांधता नहीं। एक दूसरे के अन्दर समझ पैदा करता है। विवेक देता है। एक दूसरे के साथ प्रेम भावना पैदा होती है। घरों में व समाज में शान्ति आती है। समर्पण भावना बढ़ती है क्योंकि प्रेम का दूसरा नाम समर्पण है, देना है, प्रेमी से कुछ भी लेना नहीं है। इसलिए प्रेम भक्ति मार्ग का नगीना है। प्रेम के कारण आशिक अपने प्रेमी पर जान तक कुर्बान कर देता है। प्रेम की शक्ति द्वारा ही हनुमान समुंद्र को लांघ जाता है। प्रेमवश होकर ही श्री कृष्ण ने महाभारत में चक्र उठाकर अपनी कसम तोड़ दी थी। यही प्रेम जब अपने असली स्वरूप में खुलने लगता है तो अध्यात्म की ऊंची से ऊंची मंजिल पार हो जाती है। अभ्यास में साधक इसी की पुष्टि करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। उसके अन्दर सबके साथ प्रेम करने की भावना का सुत्रपात होता जाता है। ज्यों-2 अभ्यास में उन्नति होती जाती है, प्रेम भावना भी मजबूत होती जाती है।

10. अभ्यासी परमात्मा का सच्चा व पूर्ण यंत्र बन जाता है:

सामान्य यंत्र, विशेष यंत्र और पूर्ण यंत्र, यह तीन प्रकार के मनुष्य के रूप में परमात्मा के यंत्र कहे जा सकते हैं। सभी मनुष्य परमात्मा का निज स्वरूप व उसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हैं। मनुष्य के अन्दर परमात्मा अपने पूर्ण जुहूर के साथ विद्यमान है लेकिन योगमाया के आवरणों से उसने अपने आपको छिपा लिया है और हर अभ्यासी को आवश्यकतानुसार, उसकी प्रकृति और आत्म-शुद्धि के अनुसार वह समय-समय पर अपनी झलक दिखाता रहता है। श्रीमद्भगवद् गीता के अन्दर परमात्मा की अभिव्यक्ति की व्याख्या तीन स्तर पर की गई है। पहले स्तर पर जीव के रूप में जहां वह क्षर पुरूष बनकर हर

जीव के हृदय की गहराईयों में आवृत होता रहता है। दूसरे स्तर पर उसका विराट ब्रह्म स्वरूप जिसके हजारों मुख व हजारों भुजाएं हैं। सारी सृष्टि, लय-प्रलय उसी के स्वरूप हैं। यही अक्षर पुरूष है जो जीवन दाता बनकर सभी को पाल रहा है और काल बनकर सभी का संहार भी कर रहा है। इस स्वरूप का साक्षात्कार ज्ञान की पराकाष्ठा कहा गया है, जिसका दर्शन होने पर अर्जुन को कण-कण में व अपने चारों ओर वासुदेव ही वासुदेव दिखाई देने लग जाते हैं, यही सच्चा ज्ञान है क्योंकि साधक को यह ज्ञान होने पर सृष्टि के सभी रूपों में एक ही आत्मा दिखाई देने लगती है। इसके बाद तीसरे स्तर पर परमात्मा का अनुभव है, परम अक्षर पुरूष या पुरूषोतम का अनुभव है। यह पुरूष सभी पुरूषों में उत्तम है। इसे भक्ति का विषय कहा गया है। ज्ञान से इस पुरूष को नहीं जाना जा सकता है।

संत मत के अनुसार पहले स्तर का अनुभव सामान्य चेतना के मूल स्वरूप का साक्षात्कार है। दूसरे स्तर पर ब्रह्म व परब्रह्म और तीसरे स्तर पर सतपुरूष की चेतना का साक्षात्कार है। यदि अभ्यासी के अन्दर चैत्य पुरूष या हृदय चेतना की अन्तर्तम गहराईयों में आवृत पुरूष का अनुभव संचित है तो वह परमात्मा का सामान्य यंत्र है। ऐसा यंत्र परमात्मा के महात्मय का वर्णन करता है, अपने सत्संगों में कथा-कहानियां सुनाकर सत्संगियों को आरम्भिक या सामान्य चेतना के स्तर पर दिशा प्रदान करता है। इसे महापुरूष या समाज सुधारक का दर्जा दिया जा सकता है। इसके प्रभाव का दायरा कोई विशेष समाज या देश हो सकता है। यदि अभ्यासी ने ब्रह्म व परब्रह्म की चेतना के साथ तादात्मय स्थापित किया है तो वह परमात्मा का विशेष यंत्र है। परमात्मा का ऐसा यंत्र अपने सत्संगों में योग-अभ्यास की बातें सिखाता है। प्रकाश की बातें करता है लेकिन उसकी चेतना का ठहराव ब्रह्मण्ड के अंधकार के मण्डल में होता है। वह समाधि की अवस्था को शून्य,

देहशून्यता, नास्ति, प्रकृति की मूल अवस्था या गुणों की साम्यवस्था कह कर वर्णन करता है। कहता है कि परमात्मा का स्वरूप महाप्रकाशवान है, महाचेतन है, परन्तु उसके प्रकाश को सामान्य आंखें नहीं देख सकती हैं। ऐसा साध गुरू दिन-रात्रि या प्रकाश-अंधकार के दायरे में रहता है। ब्रह्मण्ड की ऊपरी सीमा तक अर्थात् काल पुरूष तक उसकी पंहुच होती है। ऐसे पुरूष का प्रभाव देश-विदेश तक फैलता है। तीन लोक के जीव, गन्धर्व, देवी-देवता आदि उसे नमन करते हैं।

यदि अभ्यासी के अन्दर सच्चखण्ड का अनुभव अवतरित हो गया है तो उसके अन्दर परमात्मा साक्षात रूप से विद्यमान रहता है। प्रकाश और शक्ति का अविरल झरना उसके अन्दर बहता रहता है। ऐसा यंत्र मणि स्वरूप है। जिसका प्रकाश किसी भी आंधी-तूफान या परिस्थिति का मोहताज नहीं होता है। वह शब्द का पूर्ण यंत्र है। उसके अन्दर सभी संगीत बजते रहते हैं और अपनी धारा से सारी सृष्टि को तर करते रहते हैं। ऐसा अभ्यासी अनेक पीढियों का उद्धार करता है। इसका साक्षात उदाहरण गुरू नानक देव, ईसा मसीह, कबीर साहब, स्वामी जी महाराज आदि संत हैं। सतुपरूष का ऐसा यंत्र अपने सत्संगों में ध्यान-अभ्यास की बातें करता है। अन्दर का भेद खोलता है। मंजिलों का वर्णन करता है। दस प्रकार के शब्दों का भेद खोलता है। अभ्यास की मंजिलें बताता है। उसकी करणी और रहणी सभी के सामने उदाहरण बन जाती है। शरीर को चलाने के लिए स्थूल भोजन की आवश्यकता नहीं रहती है, केवल नाम मात्र का भोजन ही पर्याप्त रहता है। वचन के अन्दर इतनी ताकत होती है कि सुनते ही आत्मा हिलोरें खाने लगती है। आगे की बातें स्वत: ही जुबान से निकलने लगती हैं। सत्संग भी अलग-2 तरह के होते हैं। हर सत्संग अभ्यासियों की आवश्यकता या मांग के अनुसार चल पड़ता है। ऐसे पुरूष से निकलने वाली विकिरण दूर-दूर बैठे अध्यात्म के प्यासे लोगों को खींच लेती है। ऐसे अनुभव से ओतप्रोत

योगियों को संत और परम्संत की उपाधि दी जाती है क्योंकि वे परमतत्व के अवतार बनकर पृथ्वी पर आते हैं। परम् संत ही परमात्मा का सच्चा व पूर्ण यंत्र होता है। अत: अभ्यास से अभ्यासी परमात्मा का पूर्ण व सच्चा यंत्र बन जाता है जो भौतिक रूपान्तरण के कार्य को शान्तिपूर्वक और सफलता से आगे बढ़ाता है। इनका प्रभावक्षेत्र चौथे लोक तक होता है जहां से परब्रह्म व काल पुरूष की उत्पत्ति हुई है। इसलिए पारब्रह्म तक की कोई भी माया इनके द्वारा उठाए गए आन्दोलन को नहीं गिरा सकती है क्योंकि ये सर्वसमर्थ पुरूष के योग में रहते हैं।

11. निज-स्वरूप में स्थिति होती है:

सुरत-शब्द योग की मुक्ति सबसे भिन्न है। यह मुक्ति निज-स्वरूप की प्राप्ति है। कहा भी गया है:

एक जन्म गुरू भक्ति कर, जन्म दूसरे नाम।
तीजे में मुक्ति पद, चौथे में निज धाम।।

यह निजधाम क्या है? यहां पहुंचकर मुक्ति और बंधन का प्रश्न ही खत्म हो जाता है। मुक्ति वहीं तक है जहां तक बंधन का विचार है। सुख की अनुभूति वहीं तक है जहां तक दु:ख की छाया है। दयाल का विचार तभी तक मन में है जब तक काल का भय अन्दर में मौजूद है। एक रहेगा तो दूसरे का ख्याल भी छाया बनकर उसके साथ ही व्याप्त रहेगा। अत: निजधाम में समाने के बाद बंधन-मुक्ति के सब प्रश्न खत्म हो जाते हैं। बुद्धि की सीमा समाप्त हो जाती है। मन, उर्ध्वमन, अतिमन की वहां गम नही है। कुछ है तो केवल सुरत का निज-स्वरूप, उसकी निजधाम में अवस्थिति। इस अवस्था का केवल अनुभव किया जा सकता है, वर्णन नहीं। वर्णन किसी भी चीज को सीमा में बांध देता है लेकिन वह तो असीम है अनन्त और अनामी है, जिसका भेद आज तक कोई नहीं खोल सका। वहां गया तो वहीं जाकर गुम हो गया और वहीं का हो गया लेकिन उसका वर्णन नहीं कर पाया। इसी निज-स्वरूप से

दयाल देश और काल देश की रचना हुई। इसी से मुक्ति और बंधन का विचार पैदा हुआ। इसी में एकता है और इसी से द्वैतवाद, त्रैतवाद और सहस्रवाद का जन्म हुआ है। अत: एकता में मुक्ति का विचार नहीं है क्योंकि यदि मुक्ति का विचार रहेगा तो यही विचार बंधन का कारण बन जाएगा और यही द्वैतवाद की अवस्था है। निज-स्वरूप में समाने के बाद काल व माया का भय समाप्त हो जाता है। सब कुछ सतगुरू ही सतगुरू रह जाता है। सुरत निज-स्वरूप में समाकर स्वयं भी सदगुरू स्वरूप बन जाती है।

अभ्यास के लाभ तो और भी गिनाए जा सकते हैं लेकिन यहां पर इस अध्याय में मुख्य लाभ ही संक्षेप में वर्णन किए गए हैं।

अध्याय 9

अभ्यासी के लिए आवश्यकताएं

सुरत-शब्द योग में दो बातों पर विशेष बल दिया जाता है। एक सतगुरू में विश्वास और दूसरा सतगुरू में दृढ़ प्रेम का होना। यदि ये दो बातें अभ्यासी के अन्दर मजबूती के साथ बनी रहती हैं तो कोई ऐसी ताकत नहीं जो साधक को उसके लक्ष्य से वंचित और भ्रमित कर सके। सतगुरू प्रेम के बारे में अन्य जगह भी लिखा जा चुका है और आगे भी जरूरत के अनुसार इसका वर्णन किया जाता रहेगा। यद्यपि ये दोनों बातें एक ही हैं, अलग-2 नहीं हैं, क्योंकि यदि एक में दृढ़ता है तो दूसरी अपने आप ही पूरी हो जाती है। दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। ये दो आन्तरिक आवश्यकताएं ध्यान-भजन को मजबूती प्रदान करने के लिए और अपने इष्ट का ख्याल हरदम अपने दिल में बनाए रखने के लिए जरूरी हैं। सतगुरू में विश्वास और प्रेम दोनों का एक ही लक्ष्य है कि हमारे चित्त के अन्दर कोई ऐसी वृति न उठने पाए जो संशय या भ्रम पैदा करे। यदि एक बार संशय आ गया तो हमारी सारी वृति बिखर जाएगी। द्वैतवाद का अन्दर में प्रवेश हो जाएगा। एकता की जो लड़ी अन्दर में चेतना का प्रवाह बनकर प्रकाश रूप में बह रही थी वही द्वैतवाद और त्रैतवाद के भंवर में फंसकर अंधकार में तबदील हो जाएगी। विश्वास दृढ़ होने का यह पहला लाभ है कि हमारी सारी वृति एक जगह जुड़ी रहती है। उसमें बिखराव नहीं आने पाता है और प्रेम उसे खींचकर ऊपर चढ़ाने में एक चुम्बक का कार्य करता है तथा ऊपरी मण्डल की ताकतों के साथ सुरत की एकता स्थापित करता है। विश्वास और प्रेम दोनों का सबसे बड़ा शत्रु संशय है। यदि एक बार यह अन्दर में प्रवेश कर गया तो दोनों को खण्डित कर देता है और अभ्यास की उन्नति वहीं पर रूक जाती है। लाख कोशिशें करते रहो, धार्मिक शास्त्र पढ़ते-पढ़ाते

रहो, देवता मनाते रहो, अभ्यास की रूकावट दूर नहीं होगी और एक बार यदि अपने लक्ष्य के प्रति ढ़ील आ गई तो अभ्यासी सारा जीवन भी उस रूकावट को पार नहीं कर पाएगा। प्रेम के ढ़हते ही विरह का कांटा हट जाता है और एकत्रित चेतनघन में बिखराव आने लगता है। जो चेतनघन एक समय प्रकाश बनकर प्रकट होता था, मन की वृतियों पर चोट मारता था और वही चोट संगीत की धुन बनकर प्रकट होती थी, अब वह चेतनघन बिखर जाता है, उसका फैलाव इन्द्रियों में से होकर बाहरमुखी हो जाता है और प्रकाश अंधकार में बदल जाता है, धुन समाप्त हो जाती है, केवल शून्य का शब्द जो धुनरहित होता है रह जाता है। अत: संशय अभ्यासी के लिए एक ऐसा मीठा जहर है जो अभ्यास की नींव को खोखला कर देता है। इसलिए व्यक्ति को दीक्षा लेने व अभ्यास आरम्भ करने से पहले सतगुरू से मिलकर अपने संशय दूर कर लेने चाहिए ताकि सारा ख्याल या वृति एक जगह ठहर सके और ताकत के रूप में प्रकट हो सके। इस ख्याल या वृति का एक जगह से बिखराव ही अंधकार है व इसका एक जगह सिमटाव ही प्रकाश है। वृति के बाहरमुखी फैलाव को जिस समय भी अन्तर्मुखी कर दिया जाता है, यही वृति प्रकाश के रूप में बहने लग जाती है। यही है योग व राज योग की धारणा, ध्यान और समाधि की पराकाष्ठा।

स्वत: संत ताराचन्द जी महाराज इन दो बातों को बहुत ही अच्छी तरह समझाते हुए कहते हैं कि अभ्यास के लिए दो ही बातें सबसे महत्वपूर्ण हैं, वे हैं, ''वचन पर विश्वास और दर्शन की प्यास''। यदि इन दो बातों को पूरी तरह समझ कर अपने अन्दर उतार लिया जाए तो सारा काम आप ही आप बनता चला जाता है। ऐसे वातावरण या माहौल में जाना आत्मिक उन्नति के लिए उचित नहीं है जहां सांसारिक भोग ही जीवन का रस है। जहां सतगुरू की बुराई की जाती है और अध्यात्म को नीचा समझा जाता है। लोगों की पदार्थ और माया की

तरफ दौड़ अभ्यासी के अन्दर लालच पैदा कर सकती है, जिससे वह अपना लक्ष्य भूल सकता है। अत: ऐसा वातावरण या जीवन की कोई घटना चाहे दु:खदायी भी है, यदि सतगुरू के अन्दर प्यार पैदा करती है तो वही हमारे लिए धन्य है।

सतगुरू की पहचान हमें आप ही अपने अनुभव के आधार पर करनी है, किसी के कथन या पुस्तक ज्ञान के आधार पर नहीं। यदि दूसरों की देखा-देखी सत्संग को अपना लिया है और अभ्यास नहीं किया तो ऐसा मनुष्य सतगुरू की मौज और दया को नहीं समझ पाएगा। वह अपनी युक्ति व बुद्धि और मनमुखों के कहे अनुसार या शास्त्रों के मत के अनुसार सतुगरू की ताकत का अनुमान लगाता रहेगा तथा हमेशा इसी द्वन्द में उलझा हुआ सतगुरू के असली स्वरूप को नहीं जान पाएगा और सच्चाई से अनभिज्ञ रह जाएगा। संतों का सत्संग कोई मेला या भीड़ एकत्रित करने का स्थान नहीं है बल्कि यहां पर सच्चे जिज्ञासु को विवेक की कसौटी पर खड़ा होना है। सांसारिक या आत्मिक रास्तों में से एक का चुनाव करना है। सत्संग से होकर आत्मिक उन्नति का रास्ता निकलता है। अपने आपको पहचानने का मार्ग प्रशस्त होता है और जब एक बार मनुष्य सच्चाई को समझ जाता है तथा अभ्यास के अनुभव पर उतरकर सतगुरू को पहचान लेता है तो फिर कोई भी संशय अभ्यासी के अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता है। यदि कभी-2 प्रवेश कर भी जाता है तो अभ्यास व आत्मिक प्रकाश की ताकत उसे बाहर निकाल फैंकती है। फिर अभ्यासी को शान्ति मिलती चली जाती है और एक दिन वह सांसारिक बंधन से मुक्त होकर निज धाम में पहुंच जाता है।

यह थी अभ्यासी के लिए आन्तरिक आवश्यकताएं, लेकिन इन्हें मजबूत करने के लिए और अभ्यास में उन्नति करने के लिए कुछ बाहरी अंग की बातें भी हैं, जो अभ्यासी को साथ-2 निभानी चाहिए,

वरना अभ्यास दृढ़ता से नहीं बन पाएगा और प्रेम की धार मन की वृतियों को बांध नहीं पाएगी। इनमें सबसे पहली है शुद्ध अन्न खाना या मेहनत की कमाई से भोजन अर्जित करना। इसे एक स्थूल बुद्धि मनुष्य नहीं समझ पाएगा क्योंकि ये बहुत ही सूक्ष्म बात है और अभ्यासी को धीरे-2 सूक्ष्मता की तरफ बढ़ना है। अभ्यास की उन्नति पर शुद्ध भोजन का सीधा असर पड़ता है। इस बारे में आर्य समाज के महात्मा आनन्द स्वामी जो अभ्यास की सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि एक बार हरिद्वार के एक आश्रम में उनका एक शिष्य रहता था। उसका ध्यान-भजन बहुत ही अच्छा बनता था। वह प्रकाश में मग्न रहता था और हर समय आनन्द में रहता था लेकिन अचानक एक दिन ऐसा हुआ कि प्रकाश आना बंद हो गया। बार-बार ध्यान में बैठता लेकिन फिर वही अंधकार ही अंधकार। कई दिनों तक ऐसा होने पर वह बहुत ही निराश हुआ और दु:खी होकर रोने लगा। उसने ये सब बातें जब गुरू जी को बताई तो उन्होंने उससे पूछा कि अभ्यास में विघ्न आने वाले दिन उसने भोजन कहां किया था। पहुंचा हुआ साधू था, अभ्यास की बारीकी को समझता था, इसलिए उसने अपने शिष्य से ऐसा प्रश्न किया। शिष्य ने बताया कि अमुक जगह भण्डारा चल रहा था, वहीं पर उसने खाना खाया था। गुरू जी अगले दिन वहीं भण्डारे वाले स्थान पर पहुंच गए। वहां पहुंचकर पूछा कि फलाँ दिन का भण्डारा किसने दिया था। भण्डारे के मालिक ने उस मनुष्य का नाम बताया। फिर और अधिक पूछताछ करने पर पता-चला कि उस आदमी ने अपनी लड़की को बेचा था और उस पाप से मुक्त होने के लिए उसका कुछ हिस्सा भण्डारे में दान कर दिया था।

आनन्द स्वामी जी महाराज एक जगह और इसी तरह का वर्णन करते हुए कहते हैं कि एक बार किसी मनुष्य से कोई गल्त काम हो गया जिसके कारण उसे सजा हो गई तथा जेल में डाल दिया गया। स्वामी

जी उस जेल में किसी को आत्मिक पाठ सुनाने जाया करते थे। एक दिन वह मनुष्य स्वामी जी से कहने लगा कि उसे-तीन दिन से ऐसा विचित्र स्वप्न आ रहा है जिसकी वजह से वह बहुत उदास हो गया है और अन्दर में बैचेनी हो रही है। उसने बताया कि मैं रात को जब भी सोने की कोशिश करता हूं तो मेरी माँ मेरे सामने आ जाती है और मैं उसके बाल फाड़-2 कर उसे मारने लगता हूं । फिर उसे घसीट कर बाहर ले जाता हूं। जब भी सोता हूं तो बस यही बात दिखाई देती है। स्वामी जी तत्व ज्ञानी थे, समय की बात को समझते थे। उन्होंने भण्डारे में जाकर पूछताछ की जहां पर कैदियों का खाना पकाया जाता था। पूछने पर पता चला कि भण्डारे में तीन दिन पहले ही एक नया कैदी आया है, जिसने अपनी माँ को उसके बाल नौंच-2 कर और पिटाई करके मार डाला है और उसी जुर्म में उसे सजा हुई है।

इससे स्पष्ट है कि मांगा हुआ भोजन या गल्त तरीके से कमाया हुआ भोजन खाने से अभ्यास में रूकावट पैदा हो सकती है। दूसरे उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि खाना बनाने वाले के विचारों की तरंगें जब खाने वाले के अन्दर अपने संस्कार छोड़ सकती हैं तो किसी की आत्मा को दु:खाकर या गल्त तरीके से कमाया गया अन्न खाने से अभ्यास में उन्नति नहीं हो सकती है। इसलिए संतमत एक व्यावहारिक रास्ता सिखाता है, जिसमें शुद्ध व मेहनत की कमाई का अन्न खाना अत्यंत आवश्यक है।

इसी तरह परम् संत ताराचन्द जी महाराज आप बीती सुनाते हुए कहते हैं, ''हमारे गांव में एक दण्डेस्वामी साधू आया करता था, वह ब्राह्मण जाति का था। जब वह आता था तो कई आदमी उन्हें अपने घर ले जाकर खाना खिलाया करते थे। मेरे मन में भी उन्हें खाना खिलाने का भाव पैदा हुआ। मैं उनके पास गया और उनसे मेरे घर चलकर खाना खाने की विनती की। साधु ने पूछा कि तेरी जात क्या है, तो मैंने

कहा कि मेरा जन्म जाट के घर का है। साधू बाबा ने कहा कि वह केवल ब्राह्मण के घर खाना खा सकता है। तब मैनें उनसे प्रार्थना की कि महाराज! मैं खाना दादी (पंडित औरत जो पास में रहती थी) के घर बनवा दूंगा और वहीं आपको खिलाऊंगा। मेरे घर में खाने के लिए अन्न नहीं था। मैंने काटे हुए चने के खेतों में जाकर सल्ला चुगा (बिखरे हुए चनों की टाट एकत्रित की) और कूट कर चने निकाले। उन चनों से गेहूं बदलवाए, नमक-मिर्च खरीद कर लाया और गेहूं को पीसकर सारा सामान दादी को दे दिया। दादी ने खाना बनाया फिर मैंने उन्हें आदर मान के साथ खाना खिलाया। जब वे खाना खा रहे थे तो मेरे मन में भाव आ रहा था कि मैं साधू बाबा का छोड़ा हुआ झूठा खाना खाऊं जिससे मुझे आत्मिक लाभ हो। उन्होंने कुछ खाना थाली में छोड़ दिया जिसे खाकर और बर्तन साफ करके मैं अपने घर चला आया। साधु बाबा ने सुबह होते ही मुझे बुलवा भेजा। मैं उनके पास गया तो कहने लगे कि बता तूने मुझे कैसा खाना खिलाया था। मैं सुनकर डर गया और पूछने लगा कि बाबा जी मुझसे कोई गल्ती हो गई है क्या? साधु की आंखों में पानी भर आया और कहने लगे कि भगत मैं डूब गया। मेरी सारी जिन्दगी बीत गई लेकिन आज तब मेरा ऐसा ध्यान नहीं बना जैसा कल रात को तेरा खाना खाने के बाद बना। मुझे बहुत शान्ति मिली और तेरा मुझ पर बहुत उपकार है।''

इन बातों से यह स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि यदि अभ्यासी को अपना अभ्यास मजबूती के साथ करना है तो उसे सच्ची कमाई से अर्जित भोजन ही खाना चाहिए।

अभ्यासी की दूसरी आवयश्कता है शुद्ध और उंचे विचार। अभ्यास की यह जरूरत पहले अंग से भी जरूरी है बल्कि उसी का एक हिस्सा है। शुद्ध विचार, शुद्ध और पवित्र अन्न खाने से ही पैदा हो सकते हैं। कहावत है ''जैसा खाओ अन्न वैसा हो जाए मन''। तामसिक खाना

खाने से तामसिक विचार उठते हैं और सात्विक खाना खाने से पवित्र विचार पैदा होते हैं। राजसिक खाना खाने से मन में चंचलता आ जाती है। अभ्यास में शुद्ध व पवित्र विचारों का बहुत अधिक महत्त्व माना जाता है। मन में ऊंचे विचार रहते हैं तो मन की वृतियों की गति ऊपर की तरफ रहती है और यदि विचार नीचे हैं या गिरे हुए हैं तो मन की शक्ति नीचे की तरफ इन्द्रियों में से बहती हुई नष्ट होती रहती है। दस इन्द्रियों और मन का घनिष्ट संबंध है। जब चेतना इन्द्रियों के घाट पर उतर आती है तो उस संबंध से आत्मा को प्राणमय पुरूष कहा जाता है और आत्मा की धार इन्द्रियों के केन्द्र पर आकर बैठ जाती है। जब आत्मिक चेतना की धार इन्द्रियों के स्थान से उठकर निश्चयात्मक बुद्धि के स्थान पर कार्य करने लगती है तो इसे मनोमय पुरूष कहा जाता है और जब यही आत्मा इन्द्रियों में बिखरी हुई धार को अपने अन्दर खींच लेती है तो यह प्रकाशमय हो जाती है। तब यह ज्ञानमय पुरूष के नाम से जानी जाती है। आत्मा की धार जब नीचे के स्तर पर उतरती जाती है तो यही मनोमय, प्राणमय और अन्नमय हो जाती है और जब यही आत्मा विशेष चेतन और महाचेतन बन जाती है तो यही ओंकार पुरूष, सतपुरूष, अलख, अगम और अनामी पुरूष के नामों से जानी जाती है। अत: सब रूप और आकृतियों में छोटे या विशाल स्तर पर यही आत्मा अभिव्यक्त है। यही आत्मा मन बनकर सोचती है। यही प्राण बनकर सांस लेती है। यही शरीर बनकर इन्द्रियों का रस लेती है और इसी भोग के कारण आवागमन के चक्कर काटती रहती है और जब यह आत्मा उर्ध्वमुखी हो जाती है तो अमृतसरोवर में जाकर अमृतपान करती है। जिस तरह से समुंद्र की असीम गहराई की शान्ति सतह पर आकर गतिशील और चंचल हो जाती है और लहर कहलाती है और फिर बूंद-2 और वाष्प बनकर समा जाती है रोम-2 में व कण-कण में, जो भिन्न-2 रूपों में आकर अलग-2 नामों से जानी जाती है। इसी तरह से अग्नि या गर्मी का

स्वरूप है। अग्नि अपने उच्चतम स्वरूप में सूर्य के अन्दर विद्यमान है, वहां से इसकी किरणें निकलकर इस दृष्टिगोचर संसार की रचना करती हैं और बदल जाती हैं भिन्न-2 रूप व आकृतियों में। इसी की लपटों से निकली हुई तरंगों से सारा ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया है। जब सृष्टि का प्रलय होता है तो सारा अस्तित्व इसी अग्नि की तरंगों में बदल जाता है। यही कहता है विज्ञान और अध्यात्म दोनों का सिद्धांत लेकिन अध्यात्म इससे भी आगे का वर्णन करता है। अध्यात्मवाद कहता है कि आत्मा का स्वरूप और भी ऊंचे स्तर पर व्याप्त है जो अग्नि, वायु और आकाश का भी कारण है। यही आत्मा जीवन शक्ति का स्रोत व प्रकाश बनकर बह रही है और यही दूसरे स्तर पर अंधकार का रूप बनकर लय और प्रलय में समा रही है। इसी आत्मा की धार की वजह से शरीर में गर्मी व जान बनी रहती है और इसके निकल जाने पर सारा शरीर मिट्टी की तरह ठण्डा पड़ जाता है और शरीर की सारी ऊर्जा या शक्ति अलग-अलग रूपों में जाकर समा जाती है। यही आत्मा सुषुप्ति का अंधकार है और यही जागृति का प्रकाश। यही क्रोध रूप में आकर क्रोधाग्नि बन जाती है जो सारे संसार को जलाने की क्षमता रखती है, यही शान्ति का दूत बनकर सारी दुनियां की चेतना को जगा सकती है। वही चीज पूर्ण मानी जाती है जिसमें आकाश की ऊंचाई भी है और पाताल की गहराई भी समाई हुई है। वही गतिज ऊर्जा (Kinetic energy) है और वही स्थितिज ऊर्जा (Potential energy) ।वही एक आत्मिक शक्ति ऊर्जा के एक रूप से दूसरे रूपों में बदलती रहती है। विज्ञानवेता कहते हैं कि ऊर्जा एक रूप से दूसरे रूप में बदलती रहती है जिसे ''ऊर्जा सरंक्षण का सिद्धांत'' कहा जाता है। यही एक ऊर्जा विद्युत शक्ति, चुम्बक शक्ति व गुरूत्वाकर्षण शक्ति बनकर हर कण व अस्तित्व में विराजमान रहती है। हर कण व पिण्ड के अन्दर खिंचाव की शक्ति होती है जो प्रेम शक्ति का ही नीचे के स्तर पर आकर रूपान्तरित रूप है क्योंकि खींचने

का गुण केवल प्रेम में होता है। इसी का नाम आत्मा या सुरत है। यह प्रेम एक स्तर पर जाकर घृणा और प्यार में बदलकर विरोधी गुणों से भरपूर द्विमुखी बन जाता है। प्रेम का यह द्विमुखी गुण जब प्रकृति में कार्य करता है तो एक कण या अस्तित्व दूसरे कण या अस्तित्व को एक दूसरे की तरफ खींचने लगते हैं और उसी समय उनके अन्दर विद्यमान दूसरा विरोधी गुण उन्हें एक दूसरे से दूर भी धकेलता रहता है। इसी आधार पर एक आकाशीय पिण्ड दूसरे पिण्ड से दूर रहता हुआ भी उसकी ओर खिंचा रहता है और इतना विशाल ब्रह्माण्ड एक व्यवस्थित रूप में टिका रहता है। यह प्रकृति का नियम है। नियम नियम होता है जो हर जगह समान रूप से कार्य करता है चाहे वह मनुष्य का शरीर हो, अदृष्य कण या विशाल ब्रह्माण्ड हो।

अत: आत्मा द्विमुखी स्वरूप में आकर रचना का बीज डालती है और एकमुखी या अद्वैत रूप में जाकर सार्वभौमिक धर्म बन जाती है। अपने अद्वैत रूप में समाने के बाद यही कुल्ल माता या राधा या आदि सुरत कहलाती है और यही आदि शब्द में समाकर स्वामी का रूप अर्थात् इस सृष्टि का अधिष्ठाता बन जाती है। कहने का अभिप्राय यही है कि यहां सब कुछ दृष्य या अदृष्य राधास्वामी का रूप है, स्वंय राधास्वामी है। राधास्वामी से अलग कुछ भी नहीं है। सार वचन राधास्वामी में लिखा गया है:

राधास्वामी नाम धराया राधास्वामी।
राधास्वामी रूप दिखाया राधास्वामी।।
राधास्वामी भान, किरण राधास्वामी।
राधास्वामी सिंध, बूंद राधास्वामी।।
राधास्वामी गगन, गिरा राधास्वामी।
राधास्वामी धरन, नीर राधास्वामी।।
राधास्वामी अग्नि, पवन राधास्वामी।

राधास्वामी तीन, चार राधास्वामी।।
राधास्वामी दोय, एक राधास्वामी।
राधास्वामी सात, बीस राधास्वामी।।
राधास्वामी जुक्त, जोग राधास्वामी।
राधास्वामी भुक्त, भोग राधास्वामी।।
राधास्वामी निमिष, जाम राधास्वामी।
राधास्वामी धूप, छांव राधास्वामी।।
राधास्वामी व्याप, व्यापक राधास्वामी।
राधास्वामी सृष्टी, सृष्टा राधास्वामी।।

अत: सम्पूर्ण अस्तित्व राधास्वामी है और जब इस धार में विभाजन आरम्भ होता है तो सृष्टि अस्तित्व में आने लगती है। इसलिए इस विभाजन या विरोधी गुणों से भरे द्वैतवाद से ऊपर उठने के लिए अभ्यास आवश्यक है और अभ्यास यदि दुरस्ती के साथ करना है तो मन को शुद्ध रखना अति आवश्यक है। शुद्ध और ऊंचे विचार ही मन को पवित्र रख सकते हैं और उसके अन्दर खुदा के आने के लिए रास्ता बना सकते हैं। ऊंचे विचार हमें द्वैतवाद के घेरे से छुटकारा दिलाते हैं और इन्द्रियों में से बहती हुई फैलाव की ताकत या आत्मा की विरोधी ताकत को एकमुखी बनाकर ऊपर की तरफ चढ़ाने में मदद करते हैं। द्वैतवाद में रहता हुआ मनुष्य भ्रम का शिकार बना रहता है। यह पहले भी कहा गया है कि भ्रम या संशय आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। इसी द्वन्द से निकालते हैं ऊंचे व शुद्ध विचार जो मनुष्य को विवेक शक्ति देकर आत्मिक आनन्द का भागी बनाते हैं।

विचारों में इतनी शक्ति है कि एक अच्छा विचार अन्दर में खुशी की लहर पैदा कर देता है और उदासी भरा विचार शरीर की जान निकाल लेता है, शरीर में दु:खन व बिमारी पैदा कर देता है। जिस प्रकार कोई शब्द या एक स्वर वातावरण में गति उत्पन्न करता है उसी

प्रकार आकाश के सूक्ष्म मण्डलों पर संकल्प और विचार की तरंगें दौड़ती, काम करती और दूर-दूर तक पहुंचती हैं । मस्तिष्क से विचार की तरंगें लगातार निकलती रहती हैं और वायुमण्डल में फैलती रहती हैं। तरंगों को भेजने वाला स्रोत जितना शक्तिशाली होगा, उन तरंगों में उतनी ही दूर-2 तक फैलने की क्षमता होगी। ऐसी विचार धाराएं जिनके साथ संकल्पशक्ति का प्रबल बल विद्यमान होता है जो ऐसे महाचैतन्य स्रोत से निकलती हैं, उन तरंगों के फैलाव को दूर ब्रह्माण्ड तक प्रकृति की कोई ताकत रोक नहीं सकती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि हमें अपने अन्दर ऐसे विचार पैदा करने का कोई अधिकार नहीं है जो आसपास के वातावरण को अशुद्ध करें या उदासी से भरें। वे कहते हैं, '' योगी को चाहिए कि वह रात्रि को सोते समय और प्रातः काल जागने पर चारों दिशाओं में मूंह करके प्रबल संकल्पशक्ति से सारे संसार की भलाई और शान्ति के अर्थ अपने विचारों की धार छोड़े।'' फिर कहते हैं, ''घृणा का प्रत्येक विचार जो मनुष्य के हृदय के बाहर आता है वह और अधिक ताकत लेकर अंत में उसी के पास घूमकर वापिस आ जाता है, और उसे ही हानि पहुंचाता है। ऐसा करने से उसको कोई ताकत रोक नहीं सकती है।''

इसलिए अभ्यास को गति प्रदान करने के लिए ऊंचे व शुद्ध विचारों का होना अभ्यासी के लिए बहुत ही आश्वयक है। स्वामी ओमानन्द तीर्थ अपनी पुस्तक पातञ्जलयोगप्रदीप में विचारों की शक्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं, ''अध्यात्म विद्या के गुरू जब अपने किसी शिष्य से कोई काम करवाना चाहते हैं तो उसको पत्र आदि नहीं लिखा करते, प्रत्युत अपने विचारों को ही उसके मन में रख देते हैं। ये विचार उसके अन्दर पहुंचकर उसको वही काम करने के लिए प्रेरणा करते हैं जिसका कराना उसके गुरू को अभिप्रेत होता है। यही मानसिक प्रेरणा है, यही गुप्त आध्यात्मिक संबंध और आत्मिक सहायता है जो

पिछले महात्मा अपने शिष्यों के साथ रखते थे। यदि तुम किसी के प्रति बुरे विचारों की भावना करोगे तो वे वहां दुःख और व्याकुलता देने के पश्चात् अपने सजातीय अन्य विचारों को तुम्हारे लिए उत्पन्न करेंगे अर्थात् जितने घृणा के विचार तुम दूसरों के निमित उत्पन्न करोगे उनसे कहीं अधिक मात्रा में लौट कर तुम को वही विचार मिलेंगे और यदि प्रेम के विचार भेजोगे तो वे भी प्रभावरहित न रहेंगे। इसलिए हमारे शास्त्रों ने उपदेश किया है कि प्रत्येक मनुष्य को जीवनमात्र की भलाई के लिए प्रबल शक्ति के साथ यह प्रार्थना करनी चाहिएः

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भ्रदाणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात।।

अर्थात् सम्पूर्ण जीवों को सुख प्राप्त हो, सब प्राणि निरोग हों, सबका कल्याण हो, किसी को भी दुःख ना हो। अतः अभ्यासी को सदा शुद्ध व ऊंचे विचार रखने चाहिए।''

अभ्यास में तीसरी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है ब्रह्मचर्य की। यह भी पहली दोनों आवश्यकताओं अर्थात् शुद्ध भोजन और शुद्ध विचार से किसी भी तरह कम नहीं आंकी जा सकती है। अभ्यासी के लिए ब्रह्मचर्य जीवन का अंग होना चाहिए। अभ्यासी को ब्रह्मचर्य का नाश करने वाले पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए, कामोत्तेजक दृष्यों व विचारों से हमेशा बचना चाहिए। ब्रह्मचारी व्यक्ति के लिए कोई भी कार्य असंभव नहीं है। वीर्य एक अनमोल वस्तु है, शक्ति है जिसे उर्ध्वमुखी बनाकर प्रकाश के ओजस में बदलना है। दूसरा इसका लाभ यह है कि जब अभ्यास की उन्नति में गति आ जाती है तो चेतना का सिमटाव होने के कारण शरीर के स्थूल केन्द्रों की कार्यशैली शिथिल पड़ने लगती है। शरीर व मन में प्रकाश की मात्रा बढ़ती जाती है। इस ताकत के अवतरण को सहन कर पाना शरीर के लिए कठिन हो जाता है। शरीर में बिमारी होने का खतरा बढ़ सकता है, लेकिन यदि ब्रह्मचर्य

मजबूत है तो शरीर में इसे सहन करने की क्षमता बनी रहती है। अभ्यास में हमें धीरे-2 ऐसी अवस्था प्राप्त करनी है जो एक मनुष्य के अन्दर मुत्यु के समय होती है अर्थात् जीते-जी-मरने का अभ्यास करना है। इसलिए ब्रह्मचर्य की ताकत को संचित करना आवश्यक है।

अभ्यास में शारीरिक ब्रह्मचर्य के साथ-2 मानसिक ब्रह्मचर्य की अधिक आवश्यकता है, बल्कि शारीरिक ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए मानसिक ब्रह्मचर्य जरूरी है। यदि मन में कामनी का विचार मौजूद रहता है और शारीरिक ब्रह्मचर्य पर जोर देते हैं तो ब्रह्मचर्य खण्डित हो जाता है। ब्रह्मचर्य मन से होता है, शरीर से नहीं। यदि मानसिक ब्रह्मचर्य कमजोर हुआ तो आत्मा, मन व शरीर की चेतना में समता न होने से शरीर में बिमारी लगने का भय रहता है। इसलिए सुरत-शब्द योग में ब्रह्मचर्य का एक विशेष महत्त्व है। फिर भी यदि गृहस्थी मनुष्यों के घर में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से पति-पत्नी के संबंध में तनाव रहता है तो उनके लिए यही निर्देश दिया जाता है कि पहले अपने घरों में शान्ति रखें क्योंकि जो अभ्यास बन रहा है, तनाव और क्लेश से वह भी नहीं बन पाएगा। ऐसे मनुष्य धीरे-2 सुरत-शब्द योग के रास्ते पर चलते रहें और अपने विचार मजबूत रखें तथा अपने साथी को इसकी अच्छाई-बुराई समझाते रहें। सतगुरू अपने समय पर सहायता अवश्य करेंगे।

अभ्यासी के लिए चौथी आवश्यकता है - कर्तव्यपरायणता। अभ्यासी को अपने कर्तव्य का पालन निष्ठा के साथ करना चाहिए। यहीं पर हमें कर्मयोग को तपाना है। अभ्यासी के लिए यह संसार तपोभूमि है। यह तपोभूमि हमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक संयम सिखाती है। आत्म शुद्धि के लिए यह सबसे अच्छा स्थान है। यहां पर सामाजिक व पारिवारिक व्यवहार में हर तरह की कमजोरी प्रकट हो जाती है और अभ्यासी को लगातार आत्म अवलोकन का अवसर मिलता रहता है।

कामनाओं के इस संसार में अभ्यासी का गिरना मुमकिन है लेकिन हर बार के गिरने से कुछ ना कुछ अनुभव निकालना है, आत्मा को आगे बढ़ाने का रास्ता व नींव मजबूत करनी है। कहीं मान-बड़ाई मिलती है तो उसमें अहंकार को नहीं आने देना है क्योंकि मान बढ़ाई का सबसे पहला साथी अहंकार है। मान बड़ाई मिलती है तो उसमें भी सतगुरू की दया और मेहर का शुक्र मनाना है और उन्हें ही अर्पण कर देना है। मान बड़ाई सुनकर या दान-पुण्य या कोई भी कार्य करते समय यदि अभ्यासी के अन्दर दीनता का भाव नहीं आया है और उसकी शारीरिक व मानसिक चेतना का खिंचाव अन्दर की तरफ नहीं हुआ है तो यह अभ्यासी के लिए दुरस्त नहीं है। अहंकार आते ही शिष्य सतगुरू की धार से अलग हो जाता है और यदि अभ्यासी को किसी कार्य के लिए जिल्लत या अपमान झेलना पड़ता है तो वह भी सतगुरू की दया से होता है, किसी अहंकार को तोड़ने के लिए होता है जो हमें अन्दर की तरफ खींच कर ले जाता है जिससे आत्मिक लाभ होने का अवसर मिलता है। अत: ऐसे समय में भी हमें सतगुरू का धन्यवाद समझना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि यह संसार परमात्मा की अभिव्यक्ति है और इसमें से हमें आत्म शुद्धि करते हुए परमात्मा का अनुभव निकालना है।

यहां पर साधक अपने और अपने सतगुरू की पहचान अपने कर्मों से ही करवाता है। अपने माता-पिता के प्रति, अपने परिवार और समाज के प्रति हर मनुष्य का कर्तव्य बनता है। जिस कार्य के द्वारा हम अपनी और परिवार की जीविका कमाते हैं, उसे मेहनत और निष्ठा के साथ करना चाहिए। इससे मनुष्य के मन और बुद्धि पवित्र होते हैं, उनमें पवित्र विचारों का संचार बना रहता है। चेतना की अवस्था ऊंची बनी रहती है। ऐसा मनुष्य परमात्मा का दिया हुआ कार्य पूर्ण करने में योगदान देता हुआ उसका सच्चा यंत्र बना रहता है। परम्संत ताराचन्द जी महाराज फरमाते हैं, ''घरों में शान्ति व प्रेम बनाए रखना राधास्वामी योग की

पहली सीढ़ी है, पिता आकाश के सारे देवताओं से बड़ा है और मां पृथ्वी के सारे देवी-देवताओं से बड़ी। यदि आकाश और पृथ्वी के सारे देवी-देवताओं को खुश करना है तो मां-बाप व सास-ससुर की सेवा करनी चाहिए तभी व्यक्ति राधास्वामी योग की शिक्षा पाने का अधिकारी हो पाता है। यदि घर में मां-बाप और सास-ससुर भूखे-प्यासे हैं और हम मन्दिरों में जाकर पत्थर की मूर्तियों पर पानी और दूध चढ़ाते हैं या सतगुरू को भेंट चढ़ाते हैं तो ऐसे पुरूष महापापी हैं, महाहत्यारे हैं और नर्क के अधिकारी हैं तथा सुरत-शब्द योग उनके बस की बात नहीं है। इस बारे में कहते हुए यह शाखी सुनाते हैं:

घर का शंकर मरै पियासा, बाहर करै जलधारा।
ऐसा पुत्र नरक का वासी, महादुष्ट हत्यारा।।''

इसलिए घरों में प्यार और कर्तव्यपरायणता से मन में शान्ति आती है, घर-परिवार स्वर्ग बने रहते हैं और अभ्यास के लिए उचित वातावरण बना रहता है तथा अभ्यासी की उन्नति भी बनी रहती है।

इसके अतिरिक्त राधास्वामी योग में धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन कोई विशेष जरूरी नहीं है। पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत आदि सुरत की यात्रा में विघ्नकारक हैं। धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने से ज्ञान का अहंकार बढ़ता है। फिर भी यदि शास्त्रों या पुस्तकों का अध्ययन करना हो तो ऐसे शास्त्र पढ़ें जिनसे अन्तर में प्रेम की लहर उठे। साथ-2 ध्यान भी करते जाना चाहिए। अभ्यास की कीमत पर शास्त्र नहीं पढ़ने चाहिए। अभ्यास करते रहने से शास्त्रों का असली मंतव्य भी समझ में आता जाएगा। बिना अभ्यास के शास्त्रों का अर्थ समझना आसान नहीं है क्योंकि अनुभव के आधार पर ही शास्त्रों और ग्रन्थों की रचना की गई है। बगैर ध्यान-भजन के ऐसे साहित्य को पढ़ना मनमुखता की तरफ ले जाता है। हम अपने आपको कुछ का कुछ समझने लगते हैं जबकि आत्मिक उन्नति कुछ भी नहीं होती है और अपना अहित कर लेते हैं तथा

दूसरों को भी भ्रमित कर देते हैं। यही हाल पूजा-पाठ व तीर्थ-व्रत करने वालों का है। सुरत-शब्द योग दृढ़ करनी का मार्ग है।

यह करणी का मार्ग है नहीं बुद्धि विचार।
कथनी छोड़ करनी करो तब पावै कुछ सार।।

अत: राधास्वामी योग व्यावहारिक मार्ग है। कोई ऐसी पुस्तक जो विरह और सतगुरू के प्रति प्रेम को जगाए और उनके निकट ले जाए, ऐसी पुस्तकें पढ़ने से लाभ होता है और साधक अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ता जाता है। बुद्धि की कांट-छांट ज्ञान नहीं है। असली ज्ञान वह है जो अर्जुन को श्री कृष्ण का विराट स्वरूप देखने के बाद हुआ था और कण-कण में वासुदेव ही वासुदेव नजर आने लगे थे। ज्ञान की यही परिभाषा श्री अरविन्द अपनी पुस्तक "Essays on the Gita में देते हैं। यह ज्ञान होने के बाद ही साधक को अतिमानसिक अनुभव की प्राप्ति हो सकती है जो केवल प्रेम और भक्ति से प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि कर्म और ज्ञान योग को भी साथ लेकर चलना होता है। श्री अरविन्द दूसरी पुस्तक 'Synthesis of Yoga' में कहते हैं कि प्रेम, ज्ञान व कर्म का सरताज है (Love is the Crown of Knowledge and works) वे इस सम्पूर्ण दृष्टा-अदृष्टा और आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक व शारीरिक संसार को प्रेम की अभिव्यक्ति कहते हैं।

इसके अतिरिक्त सुरत-शब्द योग में समर्पण का होना बहुत ही जरूरी माना गया है, लेकिन सतगुरू में विश्वास और प्रेम दृढ़ होने से समर्पण अपने आप ही पूरा हो जाता है क्योंकि प्रेम लेना नहीं जानता है, उसका गुण केवल देना है। यही समर्पण का सच्चा अर्थ है। प्रेमी सतगुरू से मुक्ति भी नहीं मांगता है, वह अपने मुर्शिद से केवल भक्ति दान देने की प्रार्थना करता है। भक्त अपने प्रीतम से कहता है:

भक्ति दान मोहे दीजिए गुरू देवन के देव।
और कछु नहीं चाहिए निस दिन तेरी सेव।।

अत: राधास्वामी योग में सबसे बड़ी आवश्यकता है सतगुरू प्रेम। यदि प्रेम मजबूत रहता है तो उनमें विश्वास और समर्पण स्वत: ही बना रहता है। अभ्यासी के सारे कर्म और ज्ञान तथा उनका फल अपने आप ही सतगुरू के समर्पित होता रहता है। उसकी हर सांस सतगुरू के विरह और वियोग को प्रकट करती है। उसका ख्याल और वृति हर समय सतगुरू चेतना के अन्दर समाए रहते हैं। प्रेम की मजबूती के लिए रहणी की मजबूती बहुत जरूरी है तथा रहणी की मजबूती के लिए जिन चीजों की आवश्यकता होती है उनका वर्णन इस अध्याय में कर दिया गया है।

अध्याय 10

अभ्यास में विघ्न

इस अध्याय में वे विघ्न विशेष तौर पर वर्णन किए जाएंगे जो आन्तरिक विघ्न कहलाते हैं और सतगुरू की धार से अभ्यासी को विभाजित करते हैं तथा सुरत को प्रकाश और शब्द से दूर हटाते हैं। सबसे पहला और मुख्य विघ्न है सतगुरू के प्रति अभाव होना। लगभग देखा गया है कि नाम की दीक्षा लेने के बाद कुछ दिनों तक व्यक्ति खूब अभ्यास करता है और सतगुरू के प्रेम में रहता है। नाम का स्मरण करता रहता है और अभ्यास का आनन्द उठाता है। बहुत से अभ्यासियों का सतगुरू दया से प्रकाश भी खुल जाता है। प्रकाश का खुलना सतगुरू प्रेम और नाम स्मरण पर निर्भर करता है। यदि ये बातें नहीं हैं तो प्रकाश व शब्द का खुलना आसान नहीं है। यदि ये प्रकट हो भी जाते हैं तो अधिक समय तक नहीं टिकते हैं। सतगुरू स्वरूप का ख्याल और नाम का स्मरण बिखरी हुई वृति को एकत्रित करता है। ध्यान द्वारा उसे तीसरे तिल पर लगातार धारण करने या ठहराने का अभ्यास किया जाता है और भजन द्वारा शब्द की धार को पकड़कर वृति को उर्ध्वमुखी किया जाता है। स्मरण अभ्यास की सबसे पहली सीढ़ी है। यदि स्मरण नही है तो अभ्यास भी नहीं है। सत्संग बहतरणी नदी है, त्रिवेणी का स्नान है जहां पर सतगुरू आत्मा का मैल धोकर बाहर निकालता है। सत्संग में जाकर आत्मा का रूप उजला हो जाता है। सत्संग में जाने से सतगुरू का ख्याल और स्मरण मजबूत बना रहता है। कहा भी गया है:

सत्संग की आधी घड़ी, तप के वर्ष हजार।
तब भी नहीं बराबरी, सन्तन कियो विचार।

सत्संग में जाने से तन,मन और सुरत शुद्ध होते हैं। तन, मन और सुरत तीनों एक लय में आ जाते हैं। सत्संग में जाने से मनुष्य के अन्दर प्रेम का

संचार बढ़ता है। यहां आकर सत्संगी निस्वार्थ भाव से एक-दूसरे की सेवा करते हैं, झूठे बर्तन मांजते है और आपसी भाईचारे का अनूठा उदाहरण पेश करते हैं। हर व्यक्ति जात-पात व रंग-रूप का भेद भूल कर प्रेम की मजूबत धार में बहने लगता है। सेवा करने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे मनुष्य का अहंकार कम होता है और प्रेम मजबूत होता है। सत्संग में ऊंचे दर्जे के अभ्यासी आते हैं जिससे यहां पर ऐसी तरंगें विसर्जित होती रहती हैं जो अभ्यासी के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होती हैं। इन तरंगों से मन व आत्मा की शुद्धि होती है और बाद में भी सतगुरू स्वरूप का ख्याल और स्मरण बना रहता है। पूर्ण सतगुरू, पूर्ण सत्संग और पूरा नाम यदि किसी को मिल जाता है तो उससे बड़ा भाग्यशाली कोई नहीं होता है। यदि सतगुरू पूर्ण है तो उनका सत्संग भी पूर्ण होगा और नाम भी। पूर्ण सतगुरू के अन्दर ऊंचे मण्डलों की ताकत झाल मारती रहती है जो विकिरण बनकर सत्संग में फैलती रहती है। कोई भी मनुष्य यदि विश्वास के साथ सत्संग में जाता है तो वह स्पष्ट रूप से इसका लाभ अनुभव कर सकता है।

अत: सत्संग में सतगुरू आत्मा का मैल धोकर उतारता है जिससे सतगुरू प्रेम बढ़ता है और उनके स्वरूप का ख्याल व स्मरण पक्का होता है। सत्संग से दूर रहने से मनुष्य के ऊपर दुनियावी रंग चढ़ने लगता है, यही कर्मों का भार बनकर दु:ख व बंधन का कारण बन जाता है। कर्म बंधन काटने के लिए सत्संग की महिमा अवर्णनीय है। यह कर्म-बंधन या कर्मों के संस्कार ही होते हैं जो सतगुरू के प्रति ख्याल व स्मरण को कमजोर करते हैं। संतों की शरण में जाने से मनुष्य मानसिक धार से निकलकर आत्मिक धार में शामिल हो जाता है और सतगुरू के प्रति अभाव समाप्त हो जाता है। संशय और भ्रम मिट जाते हैं। संशय का आना और दुनियावी ख्याल का बढ़ना ही सतगुरू के प्रति अभाव पैदा करते हैं जिससे अभ्यासी का ख्याल और स्मरण टूट जाता है। यही

अभ्यास का सबसे बड़ा विघ्न है।

सतगुरू में प्रेम सतगुरू के प्रति अभाव को दूर करता है और ख्याल को मजबूत करता है। यह पहले भी बार-बार लिखा गया है कि जब अभ्यासी का ध्यान किसी अवस्था पर जाकर रूक जाता है तो सतगुरू प्रेम और नाम का स्मरण ही ऐसे हथियार हैं जो किसी भी रूकावट को पल में धराशाही कर सकते हैं और सतगुरू में प्रेम व नाम का स्मरण तभी तक मजबूत रहते हैं जब तक अपने मुर्शिद प्यारे में भाव बना रहता है तथा इनका सबसे बड़ा शत्रु है संशय जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है। स्वत: संत ताराचन्द जी महाराज अपने सत्संगों में बार-बार यही फरमाते हैं और कहते हैं, ''भाव ही मुनाफा देता है''। अत: सुरत-शब्द योग में सतगुरू के प्रति अभाव का पैदा होना अभ्यास की नींव को हिला देता है। यही अभ्यास का सबसे बड़ा और मुख्य विघ्न है। यदि अभ्यासी पहला विघ्न नहीं आने देता है तो बाकि के विघ्न गौण हो जाते हैं, लेकिन फिर भी उनका थोड़ा वर्णन यहां किया जा रहा है।

अभ्यास का दूसरा विघ्न है रिद्धि-सिद्धियों का आना और उनका शिक्षण-परीक्षण। इनसे साधक को बिना चाहते हुए भी लगाव हो जाता है। कभी-2 वह महसूस करने लग जाता है कि उसकी सारी इच्छाएं अपने आप ही पूरी हो जाती हैं। जब तक साधक सतगुरू की धार में समाया रहता है तब तक सतगुरू अपने प्रिय शिष्य की सारी जिम्मेदारियां स्वयं अपने ऊपर ले लेता है। सतगुरू की यही ताकत उसकी जायज इच्छाओं की पूर्ति का सामान इकट्ठा करती रहती है लेकिन धीरे-2 उसे इसका अहंकार होने लगता है और वह बाहर भी अपनी सफलता को प्रकट करने लग जाता है। कभी-2 अभ्यासी अपने अभ्यास की उपलब्धि को सांसारिक कार्य या स्वार्थ की पूर्ति के लिए प्रयोग करने लग जाता है। ऐसा करना मनुष्य के लिए बहुत हानिकारक

सिद्ध होता है। वह काल की मार से बच नहीं सकता है। उसके अभ्यास की उन्नति रूक जाती है। अहंकार बढ़ जाता है। यदि अभ्यासी सतगुरू की मौज में रहे और सारे कार्य उनके समर्पित करता चले तो वे खुद ही उसकी सम्भाल करते हैं और उसके उचित स्वार्थ भी पूरे करते हैं। कोई भी मां अपने बेटे को दु:खी नहीं देख सकती है और उसे सभी सुख देने की कोशिश करती है। कोई भी सम्राट अपने पुत्र को दु:खी नहीं देख सकता है। इस विषय पर परम् संत ताराचन्द जी महाराज कहते हैं कि जब बच्चे के शरीर पर फोड़ा हो जाता है तो बच्चे की मां फोड़े पर चीरा लगवाते समय अपने बच्चे को जोर से दबा लेती है तथा उसके रोने-चिल्लाने की परवाह नहीं करती और यदि वही डाक्टर बिना कारण उसके बच्चे की तरफ चाकू उठाए तो वही मां अपनी जान पर खेल जाएगी। इतनी ही सम्भाल करता है राधास्वामी दयाल भी अपनी प्यारी सुरत की।

इन रिद्धि-सिद्धियों का वर्णन अलग-2 तरीके से अनेक धार्मिक ग्रन्थों में किया गया है। पतञ्जली मुनि कृत योग दर्शन में इनका वर्णन किया गया है तथा बौद्ध, जैन आदि ग्रन्थों में भी इनकी व्याख्या की गई है, लेकिन सभी ने इन रिद्धि-सिद्धियों को मुक्ति के रास्ते की बाधा माना है। इनका अस्तित्व बहुत ही नीची रचना की चेतना के साथ है। नीचे के स्तर पर मन की चेतना के अनुसार साधक के अन्दर कोई रूप प्रकट हो जाता है जिसे साधक सच्च मानकर भ्रमित हो जाता है। किसी भी देवी-देवता के पास इतनी ताकत नहीं है कि वह मुक्ति का रास्ता बता सके क्योंकि शास्त्रों में वर्णित सभी देवी-देवता इच्छाओं और वासनाओं में फंसे रहते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता में सभी देवताओं को मियादी कहा गया है। इनके जीवन की आयु भी निश्चित होती है। सतगुरू ताराचन्द जी महाराज कहते हैं कि हमारे शुभ कर्म देवता हैं और दुष्ट या बुरे कर्म राक्षस हैं। जब शुभ कर्म जागते हैं तो वही देवता का

रूप बनकर प्रकट हो जाते हैं और जब बुरे कर्म खुलते हैं तो वही राक्षस का रूप बनकर सामने आ जाते हैं। हमारा मन ही देवता है, मन ही राक्षस है और मन ही पित्तर-भूत बन कर हमारे विश्वास के अनुसार प्रकट हो जाता है। इन्हें ही साधक रिद्धि-सिद्धियां मानकर रास्ते में अटक जाता है। ये रिद्धि-सिद्धियां हमारी चेतना की अवस्था और इच्छा के अनुसार हमारे अन्दर प्रकट हो जाती हैं और हमें अनेकों रहस्य की बातें बताने लगती हैं। अवचेतन मन के अन्दर सुषुप्त शक्तियां अभ्यास की विद्युत-चुम्बकीय तंरगों से तरंगित होकर हमारे सामने अविश्वसीनय रूप में आकर प्रकट हो जाती हैं और ये शक्तियां ऐसे-2 भेद खोल सकती हैं जो हमारी बुद्धि या विवेकशक्ति की पहुंच से बाहर हैं। अवचेतन मन की चेतना का संबंध ब्रह्मण्डी मन की चेतना के साथ होता है। यही कारण है कि संसार के कई महत्वपूर्ण अविष्कार स्वप्न की देन हैं। अवचेतन मन की इस शक्ति को विज्ञान भी स्वीकार करता है।

अत: जो व्यक्ति अपने असली ध्येय से अपरिचित होते हैं या अपने गुरू से रास्ते का पूरा भेद प्राप्त नहीं किया है वे इन रिद्धि-सिद्धियों की चकाचौंध देखकर पथभ्रष्ट हो जाते हैं। ये जीवन शक्तियां ऐसी-2 बातें बता सकती हैं जिनके ऊपर मनुष्य का मस्तिष्क घूम जाता है। उनकी प्राप्ति को ही मंजिल मान लेता है और अपने आपको परमात्मा की शक्ति मान बैठता है। कभी-कभी ऐसी घटनाएं किसी नए धर्म या सम्प्रदाय को भी जन्म दे देती हैं लेकिन यह बहुत ही नीचे का व्यवहार है। आज्ञा चक्र और सहस्रार के बीच ऐसी रिद्धि-सिद्धियों की भरमार है। कभी-2 तो आज्ञा चक्र का प्रकाश प्रकट होने से पहले ही यह प्रकट होने लगती हैं और अभ्यासी को काल की गाल में खींच कर गिरा देती हैं।

कभी-कभी ऐसे ज्ञान का प्रचार किया जाता है और कहा जाता है कि परमात्मा ने या शिव बाबा ने स्वयं प्रकट होकर या किसी देवता ने स्वयं अभ्यासी के अन्दर दर्शन देकर यह ज्ञान प्रदान किया है या

भविष्य वाणी की है। ऐसी अवस्था आज्ञा चक्र या तीसरे तिल या तीसरी आंख या दिव्य चक्षु के खुलने के समय आ सकती है जब आत्मा का सत्तोगुण ज्योति-स्वरूप बन कर प्रकट होता है। यह बहुत ही नीचे का व्यवहार है क्योंकि ऐसी अवस्था आत्मा को स्वीकार्य नहीं हो सकती है जिसमें कोई बाहरी शक्ति आकर मन व शरीर पर अधिकार जमाए और अपनी ताकत से आत्मा को चलाए। क्योंकि आत्मा स्वयं परमात्मा का सनातन अंश है। आत्मा को स्वयं अपने अन्दर शक्ति को उतारना है, शब्द को प्रकट करना है और खुद ही इसे विशेष चैतन्य और महाचैतन्य की व्यापकता में व्याप्त होना है तथा उसी का स्वरूप बनना है। वहां का परम् सुख व आनन्द अपने अन्दर उतारना है। आत्मा को स्वयं इतना सक्षम होना है कि वह परमात्मा का पूर्ण और सच्चा यंत्र बनकर इस भौतिक संसार को भी परम् आनन्द प्राप्ति का रास्ता दिखा सके उसका रूपान्तरण कर सके।

इसी प्रकार कुछ लोग अपने गुरू, जो शरीर छोड़ कर जा चुके हैं, का रूप स्वप्न या ध्यान में प्रकट कर लेते हैं और उनसे आज्ञा पाकर गुरू बन बैठते हैं तथा आध्यात्मिक प्रचार व प्रसार का कार्य करने लग जाते हैं। ऐसे मनुष्य अपने छिपे हुए स्वार्थी विचारों को अपने अन्दर प्रकट कर लेते हैं। वही ख्याल गुरू के स्वरूप में प्रकट हो जाता है और शिष्य की मनचाही बात कह देता है। यह भी नीचे का व्यवहार है। जिस मनुष्य से सतगुरू ने काम लेना होता है, वह अपने जीते जी शिष्य को तैयार करते हैं, उसे आध्यात्मिक मंजिले तय करवाते हैं, उसकी सुरत को स्थायी तौर पर प्रकाश और शब्द-धुन की उच्चतम अवस्था में स्थित करते हैं तथा अपने जीते जी उसकी सुरत की सतगुरू रूप प्रदान करते हैं।

यदि नामदान या गुरू की दीक्षा लेने के बाद भी ऐसी रिद्धि-सिद्धियां रास्ते में आती हैं तो इसे हमारे समर्पण की कमी समझना चाहिए। ऐसे विचार हमें सतगुरू से विभाजित करते हैं और नीचे गिराने

का साधन पैदा करते हैं। इसलिए यह ध्यान रखना है कि इस तरह के अनुभव हमारी ही कमजोरियों का परिणाम हैं। सतगुरू का असली स्वरूप प्रकाश और शब्द है, जिन्हें पकड़कर ऊपर चढ़ना है। बाकी रूप, चाहे वह सतगुरू का है या किसी और महात्मा का, कृष्ण या राम का, ईसा मसीह या हजरत मुहम्मद का, सभी काल और माया के घेरे में हैं। यदि अभ्यासी के अन्दर कोई भी रूप, आकृति, रेखा, दृष्य प्रकट होते हैं तो वे सब काल की सीमा के अन्दर हैं। केवल प्रकाश और प्रकाश का शब्द ही सतगुरू का आन्तरिक और असली स्वरूप है। अंधकार का शब्द भी काल और माया का शब्द है। अब प्रश्न उठता है कि जब अभ्यासी को ध्यान की अवस्थाओं में सतगुरू के साकार स्वरूप के दर्शन होते हैं, तो क्या ये भी काल और माया के अन्तर्गत आते हैं? इसका उत्तर इस पुस्तक के अगले, अध्याय 'सतगुरू के साकार रूप का महत्त्व' में दिया गया है। यहां पर इसका पूर्ण वर्णन करना उचित नहीं है क्योंकि वर्तमान अध्याय में आवश्यकतानुसार इसका वर्णन कर दिया गया है।

अभ्यासी जब ध्यान में बैठता है और ऊंचे मण्डलों में जाता है तो उस समय उसके साथ किसी ऊंचे दर्जे के सन्त-महात्मा के साथ बातचीत हो सकती है या उन मण्डलों में रह रही आत्माएं जिनके शरीर प्रकाश से निर्मित होते हैं, नजर आ सकती हैं या ऊंची रचना के मनमोहक दृष्य दृष्टिगोचर हो सकते हैं। ऐसे भी दृष्य प्रस्तुत हो सकते हैं जिनमें अनेक देवी-देवता जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, लक्ष्मी, सरस्वती, शक्ति आदि ऐसे शिष्य के दर्शन करने के लिए आते हैं तथा अभ्यासी के दर्शन करके धन्य हो जाते हैं। समस्त देवतागण भी इकट्ठे होकर सतगुरू के प्यारे अभ्यासी के दर्शन करने के लिए आ सकते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि सतगुरू के प्रकाश रूप या निराकार रूप से हमारी आत्मा का प्रकाश रूप ही प्रश्न करे और सतगुरू का प्रकाश रूप ही उसका उत्तर

दे। ऐसा भी हो सकता है कि पहले का कोई ऊँचे दर्जे का सन्त महात्मा अभ्यासी के अन्दर प्रकट हो और उसे किसी आध्यात्मिक कार्य को पूरा करने का आदेश दे और कहे कि संसार में पाप बहुत बढ़ गए हैं। इसलिए तुम्हें ही (अभ्यासी को) इनका समूल नाश करना है और सम्पूर्ण संसार की चेतना को बदलना है। ऐसा भी हो सकता है कि दृष्य में हमारे सतगुरू साथ हों और उनके साथ हमारे दादा-गुरू, परदादा-गुरू या उनके गुरू या ईसा मसीह, पीर-पैगंबर या स्वयं परमात्मा का कोई रूप हो। और भी तरह-तरह के दृष्य अभ्यासी के समक्ष प्रस्तुत हो सकते हैं।

जब अभ्यासी को ऐसा कोई भी वीजन या दृष्य दृष्टिगोचर होता है तो इसमें एक अच्छी बात है और एक गलत है। अच्छी यह है कि जब अभ्यासी को ऐसे दर्शन होते हैं तो उस समय अभ्यासी की चेतना की अवस्था सामान्य पुरूष की चेतना से अधिक विकसित होती है। उसके अंदर चेतना के सूक्ष्म मण्डलों का अनुभव उतरने लगता है और वहां के दृष्य सुरत के सामने अभ्यासी की मानसिक दशा के अनुसार प्रस्तुत होने लगते हैं।

उदाहरण के तौर पर यदि अभ्यासी को सांसारिक भलाई या आध्यात्मिक प्रचार करने की अनावश्यक चिन्ता अधिक रहती है और अपने अभ्यास की तरफ ध्यान कम रहता है तथा उसके लिए ज्ञान अर्जित करने की लालसा बनी रहती है, शास्त्र-ज्ञान की भूख रहती है, ऐसे अभ्यासी के सामने संसार की भलाई करने से संबंधित दृष्य ही प्रस्तुत होंगे। यदि राम-कृष्ण या मसीहा में विश्वास है तो राम-कृष्ण व मसीहा ही ध्यान में या स्वप्न में दृष्टिगोचर होंगे। इन सबके लिए हमारी मानसिक दशा और अहंकार जिम्मेदार हैं। क्योंकि एक हिन्दु या मुसलमान को ईसा मसीह के दर्शन नहीं होते। एक ईसाई को राम व कृष्ण के दर्शन नहीं होते और एक यहुदी को गुरू नानक के दर्शन नहीं होते। हां इतना अवश्य है कि अभ्यासी की चेतना का स्तर सामान्य पुरूष की चेतना से

ऊंचा है।

ऐसे दृष्यों के अन्दर गल्त बात यह है कि ये अभ्यासी के अंदर अहंकार की मजबूती करते हैं तथा सतगुरू से विभाजित करते हैं। कोई भी दृष्य जो सतगुरू से ध्यान हटाए और दूसरी तरफ लगाए, अभ्यासी के लिए हानिकारक होता है। अभ्यास के अंदर हमारी मनोदशा स्वयं ही प्रकट हो जाती है। दृष्य के अंदर यदि सतगुरू के साथ हमारे दादा-गुरू या आदि गुरू या स्वयं परमात्मा भी मौजूद हों और यदि हमारा ख्याल उनकी तरफ खिंच जाता है तो समझना चाहिए कि सतगुरू के प्रति हमारे विश्वास में कमी है और बाद में इसके लिए सतगुरू से क्षमा याचना करनी चाहिए। कभी-कभी ये दृष्य अभ्यासी के आगे की सारी उन्नति रोक देते हैं। अभ्यासी अपने आपको संत कहने लगता है और गुरू बन बैठता है। ऐसा गुरू स्वयं तो नरक का भागी होता ही है, अपने शिष्यों को भी नरक का वासी बना देता है। कहने का अभिप्राय यही है कि अभ्यासी को इन दृष्यों की तरफ अधिक ध्यान नहीं देना है और न ही उनका चिन्तन करना है। अत: रिद्धि-सिद्धियों या आन्तरिक उपलब्धि का कोई भी लालच अंदर में विकार पैदा कर सकता है, सतगुरू में अभाव पैदा कर सकता है। हमें अपना ध्यान केवल सतगुरू के चरणों में केन्द्रित रखना है। कई अभ्यासी कहते हैं कि कभी-कभी काल भी सतगुरू का रूप धारण करके प्रकट हो सकता है। इसका जवाब अगले अध्याय 'सतगुरू के साकार रूप का महत्व' में लिखा गया है। कई अभ्यासी यह भी कहते हैं कि परमात्मा के रास्ते में विरोधी शक्तियां आती हैं और अभ्यास में विघ्न डालती हैं। इस प्रश्न का उत्तर इस पुस्तक के अंतिम अध्याय 'अभ्यास में प्रेम मार्ग व ज्ञान मार्ग का महत्व' में वर्णित किया गया है।

अभ्यास का तीसरा मुख्य विघ्न है ध्यान में मन का भटकना। अनेक अभ्यासी यह शिकायत करते हैं कि ध्यान में मन नहीं टिकता है,

कहीं-कहीं दौड़ने लगता है। मन के बारे में महात्माओं ने कहा है -

कबीर मन चंचल भया, कहूं तो मानै रोष।
जहां गली साहिब बसैं, तांहे ना चाले कोस।।-1
साधो मन है बड़ा जालिम।
जिसका पड़ा मन से वास्ता उसी को है मालूम।।-2

मन का विषय बहुत पेचीदा है। संसार का सारा पसारा ही मन का खेल है। मन मनुष्य को आकाश की बुलन्दियों पर स्थिर कर सकता है और मन ही आत्मा को नरक की यातनाएं सहने पर मजबूर कर सकता है। मन ही नीचे उतरकर इन्द्रियों के भोग भोगता है, आत्मिक शक्ति को बाहरमुखी बना देता है और यही मन अन्तर्मुखी होने पर आत्मिक सुख का अमृत पान करता है। मन का काम ही दौड़ना है। यदि यह अपनी दौड़ समाप्त कर देगा तो सांसारिक कार्य ठप्प पड़ जाएगा। मन आत्मा की क्रियात्मक शक्ति है। मन और मन के अहंकार के आसरे ही आत्मा सांसारिक वृत्तियों में फंसी रहती है और इसी के सहारे यह परमात्मा के परमार्थिक कार्य सम्पूर्ण करवाती है। अत: मन में बहुत भारी ताकत है। इसकी अधोमुखी शक्ति को उर्ध्वमुखी बनाना है। इसकी तामसिक और राजसिक वृतियों को सत्तोगुणी बनाना है और यह कार्य केवल अभ्यास द्वारा किया जा सकता है। मन को कुछ ना कुछ स्मरण अवश्य करना है। अब यह हर समय दुनियावी स्मरण में व्यस्त रहता है। इसी दुनियावी स्मरण से हटाकर इसे नाम के स्मरण में लगाना है। यह आसान काम नहीं है लेकिन फिर भी लगातार अभ्यास से यह कार्य किया जा सकता है। जिस समय सतगुरू या अपने इष्ट के प्रति प्रेम बढ़ता है, तभी मन का दुनियावी ख्याल भी छूटने लगता है और इसकी वृति सतगुरू चरणों में लीन होने लगती है। प्रेम का समावेश होते ही मन के संसारी संकल्प-विकल्प टूटने लगते हैं। कबीर साहब कहते हैं:

मन पंछी तब तक उड़े विषय वासना माहि।
प्रेम बाज की झपट में जब तक आया नाहि।।

बुल्लेशाह कहते है:

मन दा की लावणा,
इथे ते सुटणा ते उथे लावणा।

संत ताराचन्द जी कहते है:

मुश्किल है मन का डाटना पल-पल लेत उडारी।
सहजा है मन का डाटना जब सतगुरू बने मल्हारी।।

अत: सतगुरू प्रेम मन को काबू करने का सबसे अच्छा व आसान उपाय है।

मन की दौड़ को नियंत्रित करने के लिए अष्टांग योग में 'प्रत्याहार' और 'धारणा' का अंग महत्वपूर्ण है। फिर ध्यान द्वारा उसे तीसरे तिल पर स्थिर किया जाता है और समाधि में जाकर मानसिक चेतना रूपान्तरित होकर आत्मिक चेतना में विलीन हो जाती है। जब अभ्यासी ध्यान में बैठता है तो मन इधर-उधर छलांग मारता रहता है लेकिन बार-बार मन की वृति को पकड़कर आज्ञा चक्र पर लाना है। धीरे-धीरे यह अभ्यास पकता जाएगा और यही मन एक समय पर जाकर ज्योति-स्वरूप बनकर प्रकट हो जाएगा। मन के दौड़ने के बारे में अभ्यासी को ज्यादा चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। अभ्यासी को ध्यान-भजन में बैठने का अपना कार्य पूरा करते जाना है। अभ्यास नित्य-प्रति नियम के साथ करते जाना है। अभ्यास किसी दिन भी छूटना नहीं चाहिए। अभ्यास में बैठने से सतगुरू के दरबार में हाजरी बनी रहती है। यही अति आवश्यक है। तभी सतगुरू की दया का अवतरण होगा, अभ्यासी के अंदर प्रेम लहर जागेगी और आत्मा का प्रकाशित रूप प्रकट हो जाएगा। फिर मन भी उसके अंदर आनन्द लेने लगेगा और उसमें समाता चला जाएगा। ज्यों-ज्यों ध्यान पकता जाएगा,

प्रकाश व शब्द खुलते जाएंगे, ऊंची चेतना के मण्डलों में मानसिक चेतना की रसाई होती जाएगी तथा मन की उछल-कूद भी समाप्त होती जाएगी। यही मन जो एक समय कौआ था अब यही मन हंस बन जाता है। कहा भी है -

पहले ये मन काग था, करता जीवन घात।
अब ये हंसा भया, चुग-चुग मोती खात।।

गुरू नानक कहते हैं:

नानक मन जीता तो जुग जीता।

कबीर साहब कहते हैं:

कबीर मन मानियां तो सतगुरू जानियां।।

अभ्यास का चौथा विघ्न है -ध्यान की अवस्था को बाहर प्रकट कर देना। अभ्यास की सफलता को दूसरों के सामने जताना उचित नहीं है। यह एक ऐसी बात है जिसकी खबर दूसरों को नहीं है, क्योंकि कोई भी आपके अंदर चल रही अवस्था को समझ नहीं पाएगा और लोग कुछ का कुछ कहेंगे जिससे आपके विश्वास को हानि पहुंचेगी और आगे की उन्नति रूक जाएगी। दूसरा सतगुरू का दिया हुआ नाम भी बाहर प्रकट नहीं करना चाहिए। यह सतगुरू की कमाई हुई वस्तु है और उन्हीं की दात है। दूसरे मनुष्य इस बात का महत्व नहीं समझ सकते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो अपने खजाने का भेद सबके सामने खोलता हो, फिर नाम तो अभ्यासी के लिए एक ऐसी अनमोल वस्तु है जो सम्पूर्ण सृष्टि के खजाने की चाबी है। नाम और ध्यान की अवस्था बाहर प्रकट करने से अभ्यासी की कमाई में रूकावट पड़ जाती है। अत: अभ्यासी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

आन्तरिक विघ्नों के अलावा थोड़ा बहुत बाहरी विघ्नों के बारे में भी लिखा जाता है। एक बाहरी विघ्न है तन्द्रा जो जागृति और निद्रा के बीच की अवस्था है इसे लय भी कहते हैं। अभ्यास करते समय प्राय:

यह अवस्था आने लगती है, यह मन की एकाग्रता के कारण होती है और अभ्यासी इसे समाधि अवस्था मानकर प्रसन्न हो जाता है। जब ऐसा होने लगे तो अभ्यासी को तुरन्त खड़ा हो जाना चाहिए और कुछ समय घूमते हुए स्मरण करना चाहिए और फिर ध्यान में बैठ जाना चाहिए।

प्रमाद भी एक विघ्न है जिसमें अभ्यासी को अपनी उपलब्धि पर घमण्ड हो जाता है जिसकी वजह से उन्नति रूक जाती है। इससे सावधान रहना चाहिए।

और भी कई तरह के विघ्न हैं जिन्हें हुजूर सालिगराम जी महाराज ने इस प्रकार वर्णन किया है :

1. पहला विघ्न तन्द्रा है, जिसका वर्णन कर दिया गया है।
2. विक्षेप : विक्षेप ध्यान या भजन में एक दम चित्त के हट जाने या झटका लग जाने का नाम है। इसके लिए अभ्यासी अपने लोगों को समझा दे कि अभ्यास के वक्त उसे कोई जोर से ना पुकारे। यदि आवश्यक हो तो आहिस्ता-आहिस्ता आवाज देवें या नरमी के साथ पैरों को छू देवें।
3. कषाय : तीसरा विघ्न कषाय है। इसका अर्थ है कि पिछले जन्मों के ख्याल भजन के समय उठें जिनको अभ्यासी ने इस जन्म में नहीं देखा है और न ही सुना है। ऐसे ख्याल थोड़ी देर के लिए आते हैं और अपना भोग देकर चले जाते हैं। यदि अभ्यासी प्रेम और विरह के साथ भजन करता है और गुरू स्वरूप को आगे करके अभ्यास करता है फिर यह विघ्न नहीं आएगा। अत: जब भी ऐसे ख्याल आएं तो उस वक्त भजन के साथ ध्यान पर भी जोर दिया जाए।
4. चौथा विघ्न है रसास्वाद। इसका अर्थ है कि अभ्यासी भजन के समय थोड़ा रस पाकर मगन और तृप्त हो जाता है और फिर ज्यादा अभ्यास में नहीं बैठा जाता है। जब ऐसी हालत पैदा हो

तो कुछ समय के लिए अभ्यास छोड़कर थोड़ी देर घूम-फिर कर दोबारा अभ्यास में बैठे।

5. कई बार अभ्यास में माथे में या आंखों में दर्द हो जाता है। यह उनके साथ होता है जो अपनी पुतलियों को जबरदस्ती ऊपर की तरफ चढ़ाने की कोशिश करते हैं। ऐसा होने पर अभ्यास को बीच में छोड़ देना चाहिए और फिर 3-4 घंटे बाद जब मौका मिले तब ध्यान में बैठना चाहिए। अभ्यासी को अभ्यास में यह संकल्प करके बैठना चाहिए कि इतने समय तक अभ्यास करना है। इससे बहुत फायदा मिलेगा।

सालिगराम जी महाराज 'जुगत प्रकाश राधास्वामी' के वचन 107-117 में कहते हैं कि भजन का अभ्यास करते समय अर्थात् शब्द सुनते समय हमारे अन्दर की कमियां व गुनावन जाग सकते हैं क्योंकि शब्द की धार ऊपर के प्रदेशों से रचना करती हुई नीचे के काल व माया के देश में आई हुई है अर्थात् इसका रूझान ऊपर की तरफ रहता है। जब हम भजन का अभ्यास करते हैं तो यह धार हमारे मन व सुरत की धार के साथ लिपटकर बुद्धि से इन्द्रियों की तरफ आ जाती है जिससे हमारे अन्दर की कमियां जाग जाती हैं। वचन 114 में इसका वर्णन करते हुए कहते हैं, ''सबब इसका यह है कि शब्द ज्यादा सफाई चाहता है और जब तक कि अभ्यासी के मन व सुरत में भोगों की मलिनता धरी हुई है, वह उसको फौरन प्रकट करके मन और सुरत की मलिन धार को नीचे को गिरा देता है यानि अपने सन्मुख से हटा देता है।''

आगे कहते हैं कि जब गुनावन जागें तब ध्यान का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् प्रकाश या गुरू के स्वरूप पर वृति टिकानी चाहिए। वचन 115 में लिखते हैं, ''और ध्यान में इस कदर फायदा है कि शौक और प्रेम की धार जो अभ्यासी के हृदय से उठकर ऊपर को जारी होती

है, वह अभ्यासी के मन और सुरत की धार को जो प्रेम की धार के संग चलती है, निर्मल और साफ करती हुई ऊपर की तरफ को खींचती है और स्वरूप उस प्रेम की धार को ताकत देता है और मिलने के शौक को बढ़ाता जाता है, और जिस कदर कि वह प्रेम और शौक की धार ऊपर को चढ़ती जाती है, उसी कदर ऊंचे देश का रस और आनन्द मिलता जाता है और शान्ति और शीतलता आती जाती है कि जिसके सबब से मलिन ख्वाहिशें कमजोर होती जाती हैं और अभ्यास दिन-दिन बढ़ता जाता है यानि एक धाम से दूसरे और दूसरे से तीसरे और इसी तरह सतलोक तक ध्यान के द्वारा अभ्यासी अपनी सुरत की धार को गौण अंग करके पहुंचा सकता है।

वचन 117 में फिर कहते हैं, ''ध्यान में इस कदर आसानी है कि अभ्यास स्वरूप के आसरे किया जाता है और स्वरूप में प्रेम जल्द आ सकता है, चाहे वह स्वरूप मुकामी या गुरू का, और जाहिर है कि जिस स्वरूप में जिस चीज में प्यार होता है तो उसकी तरफ मन और सुरत की धार जल्द उठकर जारी होती है और भजन में शब्द की धार को पकड़कर शब्दी की तरफ चलना बगैर सफाई और गहरे प्रेम के मुश्किल है।'' ध्यान और भजन का और अधिक वर्णन इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में किया जाएगा।

अत: ध्यान में जब भी ख्याल मलिन होने लगे या गुनावन उठने लगें उस वक्त भजन (शब्द का सुनना) को छोड़ कर ध्यान (प्रकाश या सतगुरू रूप को देखना) करने पर अधिक समय लगाना चाहिए।

अध्याय-11

अभ्यास में सतगुरू के साकार रूप का महत्व

साकार का अर्थ है आकार सहित अर्थात् जो वस्तु आकार में बंधी हुई है वही साकार है, जो वस्तु दृष्टि-मुष्ठि में आ गई वही साकार है। जो हम सुनते हैं वह भी साकार है क्योंकि वह भी आकार में बंधकर हमारे कानों तक पहुंचती है और आकार में आकर ही हमारा मन व बुद्धि उसे ग्रहण करते हैं। साकार वस्तु का रूप और हमारे मन की वृति का पूरा मेल या समता होनी आवश्यक है तभी जाकर हम वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यदि मन कहीं ओर है और नजर किसी वस्तु पर टिकी है तो हम उस वस्तु का ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकते हैं। इसलिए मन की वृति और वस्तु का पूरा संयोग होना अति आवश्यक है। यही सिद्धान्त अध्यात्म में भी काम करता है। इसमें अभ्यासी को स्थूल और सूक्ष्म ज्ञान को पार करते हुए कारण और महाकारण का साक्षात्कार करना होता है, इसलिए मानसिक वृति को ऊँचे मण्डलों की चेतना के साथ तादात्मय स्थापित करना होता है, तभी जाकर उन मण्डलों का अनुभव मानसिक, प्राणिक और शारीरिक चेतना का अंग बन पाता है।

परमात्मा के निराकार और निर्गुण स्वरूप का अनुभव प्राप्त करने के लिए हमें उसके साकार रूप को पकड़ना पड़ेगा। पहले साकार रूप का साक्षात्कार किया जाता है और जब मन व बुद्धि सूक्ष्म होते जाते हैं तो परमात्मा के सूक्ष्म और कारण रूप को भी पकड़ सकते हैं। मन व बुद्धि की सूक्ष्मता शास्त्र-ज्ञान से सम्भव नहीं है बल्कि सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए और इन्हें सूक्ष्म बनाने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। प्रकृति के इस मण्डल में आकार की मुख्यता है। बिना आकार में आए न तो हम इस प्रकृति का भोग कर सकते हैं और न ही इसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। कोई भी सुख-दु:ख,

अच्छाई-बुराई, आनन्द, द्वेष-प्रेम आदि सभी कुछ साकार रचना की दात है। बिना साकार के समझे किसी भी आकार का आन्तरिक रहस्य जहां से ये सभी आकार निकले हैं, समझ में नहीं आ सकता है। उदाहरण के तौर पर एक कांच का गिलास है जो साकार रूप में हमारे सामने विद्यमान है लेकिन कभी ऐसा भी समय था जब इसका कोई अणु आकार में नहीं आया था और दोबारा फिर एक समय ऐसा आएगा जब इसका आकार फिर समाप्त हो जाएगा और इसका कण-कण हवा या अग्नि के रूप में ऊर्जा बनकर इस वातावरण में खो जाएगा। जो रूप एक समय स्थिर नजर आ रहा था वही दूसरे समय अलग अस्तित्व बनकर दूसरी व्यवस्था (system) का हिस्सा बन जाता है। इसी प्रकार हम अपने शरीर आदि का भी उदाहरण ले सकते हैं। अत: इस कांच के निराकार स्वरूप को जानने के लिए पहले हमें इसके साकार रूप के साथ एकता स्थापित करनी होगी और इसकी गहराई तक जाना पड़ेगा। जब धीरे-धीरे हम इसकी गहराई में झांकते जाएंगे तो हमारे मन का ज्ञान भी स्थूलता से सूक्ष्मता की तरफ बढ़ता जाएगा और इस गिलास का स्थूल रूप जो ऊपर से स्थिर व बेजान मालूम पड़ता है, उसकी गहराई में जाकर उसके अंदर परमाणुओं और नाभिकीय कणों की गतिशीलता और संवेदनशीलता इतनी बढ़ जाती है कि उनके बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करना अनिश्चित हो जाता है। यहां आकर विज्ञानवेता यह कह देते हैं कि यहां हिजनबर्ग का 'अनिश्चितता का सिद्धांत' कार्य करता है। यही स्तर है अध्यात्म का आरम्भ और वैज्ञानिक तथा स्थूल रचना का अंत। इससे आगे जाकर ऊर्जा का यह अस्तित्व तरंगों में बदलने लगता है और इन आंखों से या किसी भी यंत्र से उसके व्यवहार को पकड़ पाना कठिन हो जाता है और उसकी गहराई तक का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो जाता है क्योंकि यह मण्डल ऐसा है जहां सब कुछ तरंगों में बदल जाता है। कोई स्थूल या सूक्ष्म यंत्र या बुद्धि की पहुंच यहां नही हो

सकती है। यह अध्यात्म के केवल बाहरी स्वरूप का वर्णन है। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में भी ऐसा क्षेत्र है जहां की तरंगों से इस स्थूल जगत की सारी आकृतियां और रूप आकार ग्रहण करते हैं और अपने समय पर इसी के अंदर जाकर समा जाते हैं। जिस प्रकार स्थूल रचना की सूक्ष्म ताकत तक पहुंचने के लिए हमें कई ऊर्जा के स्तर पार करने पड़ते हैं उसी तरह से सूक्ष्म व कारण संसार की ताकत के भी अनेकों मण्डल या दिवार हैं जिन्हें पार करके ही सूक्ष्म और कारण का अनुभव किया जा सकता है।

इसी तरह से सतगुरू का साकार रूप पहले हमें परमात्मा के स्थूल रूप को समझाता है व विराट पुरूष का ज्ञान करवाता है। फिर हिरण्यगर्भ (अक्षर पुरूष) और अव्यक्त या परमात्मा (परम अक्षर) का साक्षात्कार कराता हुआ सतपुरूष की चेतना में पहुंचा देता है क्योंकि सतगुरू का शरीर एक ऐसा स्रोत है जहां पर चारों लोक की ताकत अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण एक साथ विद्यमान रहती है। सूक्ष्मता के सारे मण्डल खुले हुए होते हैं। वे सतपुरूष की ताकत के चलते-फिरते यंत्र हैं और महाचेतन की धार उनमें पूर्ण रूप से हर समय झरने की तरह बहती रहती है। उनके अंदर परमात्मा की ताकत के सभी स्तर खुलकर प्रकट हो जाते हैं और एकता की धार में बंधकर बिजली की तरह लगातार बहते रहते हैं। सतगुरू एक विशाल चुम्बक की तरह होते हैं। जिस तरह से चुम्बक और बिजली के विशाल स्रोत के चारों तरफ विद्युत-चुम्बकीय तंरगों का एक मण्डल विकसित हो जाता है उसी तरह सतगुरू के अंदर और चारों तरफ महाचेतन मण्डल की शक्ति की विद्युत चुम्बकीय तरंगें मौजूद रहती हैं और दूर-दूर तक विकिरण के रूप में विसर्जित होती रहती हैं। सतगुरू के साकार रूप में निराकार के गुण विद्यमान रहते हैं। उनमें उच्चतम ताकत का प्रकाश और शब्द लगातार बने रहते हैं और जो भी मनुष्य उस रूप के साथ एकता स्थापित

करता है उसके अंदर भी वही गुण प्रकट होने लग जाते हैं। एकता स्थापित करने से ही हम किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

प्रकृति का हर कण चाहे वह स्थूल रूप में है या तरल व गैस रूप में है, उसकी प्रवृति अपने समान गुणों वाले कण की सन्निधि प्राप्त करने की या उसमें समाने की रहती है। पक्षी-पक्षी की संगत में जाना चाहता है, पशु-पशु की, अच्छा मनुष्य अच्छे मनुष्यों में और बुरा मनुष्य बुरे मनुष्यों की संगत में जाना चाहता है। मिट्टी-मिट्टी में, पानी के अणु पानी में, हवा के हवा में मिलने की इच्छा रखते हैं। यही नियम सभी जगह समान रूप से कार्य करता रहता है। इससे बचा नहीं जा सकता है। हर कण और कणों से बना हर अस्तित्व असहाय होकर अपने समान कणों और अस्तित्व की ओर खिंचे जा रहे हैं। यही त्रिगुणात्मक प्रकृति का गुण है। तमोगुण तमोगुण की तरफ और रजोगुण व सतोगुण भी रजोगुण और सतोगुण की तरफ खिंचे जा रहे हैं। अभ्यासी को अभ्यास के अनुभव द्वारा इन गुणों के स्वभाव को समझना है। कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य अपनी जात अर्थात् मनुष्य के साथ ही एकता स्थापित कर सकता है और लाभ उठा सकता है। किसी दूसरी जात (पशु या देवता) के साथ उसकी एकता स्थापित नहीं हो सकती है। यदि होती है तो वह आंशिक रूप से हो सकती है। इससे उसके असली रहस्य तक नहीं पहुंचा जा सकता है। मनुष्य का शरीर परमात्मा का जीता-जागता सबसे उत्तम मन्दिर है। इसमें पांचों तत्व अपने विकसित स्वरूप में विद्यमान हैं। किसी भी दूसरे रूप में यह अवस्था मौजूद नहीं है। मनुष्य के दिल के अन्दर हर समय परमात्मा का नूर बसा रहता है और जीवित बनकर धड़कता रहता है। दिल और बुद्धि का अनूठा संगम केवल मनुष्य के अंदर ही है। इसलिए मनुष्य का चोला सबसे उत्तम माना गया है लेकिन परमात्मा का यही सर्वश्रेष्ठ स्वरूप एक तत्व से बनी मूर्तियों की पूजा करता रहता है और उसी के कारण पांच

तत्वों से निर्मित परमात्मा के मन्दिर (मनुष्य) को बेरहमी के साथ तोड़ता रहता है। जब मनुष्य का दिल टूटता है तो खुदा का घर टूटता है। इस विषय पर बोलते हुए स्वत: संत ताराचन्द जी महाराज कहते हैं :

मन्दिर तोड़ो, मस्जिद तोड़ो ये तो यार मुजाका है।
पर दिल किसी का मत तोड़ो, यही घर खास खुदा का है।।

महात्मा बुल्लेशाह इसे इस प्रकार कहते हैं:

मन्दिर ढ़ाहदे मस्जिद ढ़ाहदे, ढ़ाहदे जो कुछ ढ़हंदा ए।
पर दिल किसे दा न ढ़ाहवीं, रब दिलां विच रहंदा ए।।

मिट्टी तो केवल एक ही तत्व है, दूसरे तत्व उसमें नाममात्र के हैं। इस मिट्टी से बनी मूर्तियों को यदि पूजा जाएगा तो हमारे अंदर मिट्टी की स्थूलता के गुण ही आएंगे क्योंकि हमारी मानसिक वृति मिट्टी की प्रकृति के साथ एकता स्थापित करती है। इतना अवश्य है कि यदि मिट्टी ना समझकर उसको अपने इष्ट की ताकत का जीता-जागता स्वरूप समझा जाता है तो वह रूप हमारे दिल के अंदर उस इष्ट का ख्याल पैदा करता है और हमारे मन को गति देकर स्थूलता से सूक्ष्मता की तरफ मोड़ देता है। पत्थर की मूर्ति का केवल इतना मकसद होता है कि हमारे मन के अंदर एक विचार या ख्याल को आकृति प्रदान करे और हम उस आन्तरिक चेतन आकृति को पकड़कर अन्तर्मुखी होकर सार-तत्व तक पहुंचें। इसी आधार को लेकर महात्माओं ने आन्तरिक नक्शा तीर्थ व मन्दिरों के रूप में बाहर स्थूल रूप में उतारने की कोशिश की है ताकि स्थूल बुद्धि लोग स्थूल साधन अपनाकर या परमात्मा के साकार रूप को पकड़कर प्रभु की भक्ति-उपासना कर सकें और अंदर की तरफ झांक सकें, लेकिन बहुत ही कम लोग इस बात को समझ पाते हैं और अपना सारा जीवन इसी स्थूलता की पूजा में गंवा देते हैं। दूसरा मिट्टी की मूर्ति को जितनी भी कोशिश करो, परमात्मा या अपने इष्ट का जीता-जागता स्वरूप नहीं समझा जा सकता

है, क्योंकि एक चेतन पुरूष यह कैसे भूल सकता है कि यह मूर्ति स्थिर है, खाती नहीं, पीती नहीं और बोलती भी नहीं। हम अपने ख्यालों की ताकत देकर इसे स्वप्न में जीवित कर लेते हैं और खिला-पिला देते हैं या बातें कर लेते हैं। यह सब हमारे विश्वास का परिणाम है जिसके कारण हमारी वृत्ति उसी रूप में इकट्ठी हो जाती है और स्वप्न में प्रकट हो जाती है। स्थूल रूप ख्याल में आकर सूक्ष्म रूप में परिवर्तित हो जाता है, लेकिन ऐसा होने के बाद भी हम उसी स्थूलता को पकड़े रहते हैं। उस पत्थर की मूर्ति का केवल इतना ही काम था कि वह अंदर में बिखरी हुई वृति को एकत्रित करने में मदद करे। यह कार्य पूरा होने के बाद हमें अन्तर्मुखी होकर आन्तरिक साधन को मजबूत करना चाहिए और अपनी आत्मा का स्वभाव जानना चाहिए। लेकिन भक्त समझता है कि यह हमारे ख्याल नहीं, ये तो हमारे इष्ट देवता के दर्शन ही हैं। इसका जवाब परम् संत पण्डित फकीर चन्द जी महाराज देते हुए कहते हैं कि यदि ऐसी बात है तो फिर एक हिन्दू को हजरत मोहम्मद के दर्शन क्यों नहीं होते और एक मुसलमान को राम और कृष्ण के दर्शन क्यों नहीं होते या एक इसाई को किसी हिन्दू देवता के दर्शन क्यों नहीं होते। ये सब हमारे ख्याल हैं जिन्हें हम मनचाहा रूप देकर अपने अंदर पकाते रहते हैं और इकट्ठा करते रहते हैं। वे विचार ही इष्ट का रूप बनकर उन्हीं गुणों के साथ जिनकी हमने इनके अंदर कल्पना की थी, प्रकट हो जाते हैं। एक डाकू काली मां के अंदर काले गुणों की शक्ति की कल्पना करके उसके ऊपर बलि चढ़ाता है और उसकी शक्ति को अपने अंदर प्रकट करके पाप कमाता है लेकिन उसी काली मां को स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने मुक्ति की देवी समझा और उसके इसी उज्जवल स्वरूप को अपने ध्यान में अपने अंदर उतारा। अत: हम अपने इष्ट के अंदर जैसे गुणों की कल्पना करते हैं, वैसे ही गुण हमारे अंदर भी प्रकट होने लग जाते हैं तथा हमारा व्यक्तित्व भी उन्हीं गुणों के सांचे में ढ़लने लग जाता है

अर्थात् हम उसी का स्वरूप बनने लग जाते हैं। यह सब हमारे ख्याल और विश्वास का परिणाम है। इसलिए स्पष्ट है कि स्थूल मूर्ति की ताकत के साथ योग करने से हमारे विश्वास के अनुसार हमारी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है, मुक्ति का रास्ता व जीवन की मंजिल का भेद नहीं मिल सकता है। मूर्ति व देवताओं की पूजा हमें अंदर की मंजिलों का भेद नहीं समझा सकती है। प्रकाश के मण्डलों और दस प्रकार के शब्दों का भेद नहीं बता सकती है। 52 अक्षर और 72 नालों का पता नहीं दे सकती है। यह काम तो पंचतत्व से निर्मित मनुष्य शरीर के अंदर विद्यमान सतपुरूष की ताकत ही कर सकती है। सतगुरू सतपुरूष के प्रतिनिधि बनकर पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। उनके स्पर्श मात्र से ही अंदर में उच्च प्रकृति (Higher Nature) का जीवन प्रवाहित होने लगता है जो एक जड़ आत्मा को भी आध्यात्मिकता की तरफ मोड़ देता है।

सतगुरू का यह स्थूल और साकार रूप केवल दिखने में स्थूल लगता है, इसके अंदर अनन्त ऊंचाईयों और अनन्त गहराईयों के रहस्य छिपे रहते हैं, जिसका अनुमान लगाना बुद्धि के वश की बात नहीं है। इसी साकार रूप को हमें आरम्भ में अपने अंदर उतारना है, इसी रूप की भक्ति करनी है। जब यह रूप अंदर में समाने लगता है तो इस रूप में से नूरी रूप अर्थात् प्रकाशित रूप प्रकट हो जाता है और जब एकाग्रता व अभ्यास से प्रकाश बढ़ने लगता है तो सतगुरू का शब्द-स्वरूप भी अन्तर में प्रकट हो जाता है। लगातार गहन अभ्यास से एक समय ऐसा भी आता है जब ये सभी रूप समाप्त हो जाते हैं, सुरत शब्द में समा जाती है अर्थात् सुरत खुद सतगुरू का स्वरूप बन जाती है। सतगुरू का शब्द-स्वरूप इस रचना का आदि है। सारी रचना का आदि शब्द है और अन्त भी। यही बाइबिल का भी कथन है। सुरत शब्द में समा जाती है और शब्द भी अशब्द गति में जाकर परमात्मा के अनामी

स्वरूप में विलीन हो जाता है। यही सतगुरू का निज स्वरूप है जिसे उनके साकार रूप अर्थात् प्रकाश और शब्द को पकड़कर ही प्राप्त किया जा सकता है। सुरत-शब्द योग में सतगुरू के साकार स्वरूप के भी दर्जे हैं। सबसे पहले अभ्यासी को सतगुरू के स्थूल रूप से एकता स्थापित करनी होती है, उसके बाद उनके प्रकाश (नूरी) स्वरूप और फिर शब्द (नादी) स्वरूप को पकड़कर मंजिल-मंजिल आगे बढ़ा जाता है। तब जाकर उनके निराकार व निज स्वरूप में रसाई प्राप्त होती है।

साकार स्वरूप का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि अपने समान गुणों में मिलने के स्वभाव के कारण हम सतगुरू के स्थूल रूप के साथ जल्दी प्रेम व एकता स्थापित कर सकते हैं और जब यह तादात्मय स्थापित हो जाता है तो आज्ञा चक्र पर आकर उनके विराट स्वरूप और आत्मा के विश्व स्वरूप का साक्षात्कार होता है। तीसरा नेत्र अर्थात् दिव्य चक्षु खुल जाता है। आज्ञा-चक्र का ध्यान पूरा होने पर योगी के लिए कैवल्यपद, निर्वाण, योगीप्रत्यक्ष, तुरीयपद, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि, विकल्प और निर्विकल्प समाधि, सबीज और निर्बीज समाधि तथा षडदर्शन की पूर्णता हो जाती है। इसी पुरूष को श्री अरविन्द्र ने चैत्य पुरूष (Psychic Being) कहा है। जो हृदय चेतना की आंतरिक गुफाओं में आवृत रहता है इसका साक्षात्कार कर लेने पर योगी अपने अंदर परमात्मा की उपस्थिति महसूस करने लग जाता है। लगभग सभी योगी आज्ञा चक्र के ध्यान को ही सहस्रार का ध्यान कह देते हैं, जिसकी स्थिति ब्रह्मरेन्द्र के स्थान पर कहते हैं। जब 'दीया' या दीपक बुझ जाता है तो उसे सहस्रार का अनुभव मान लिया जाता है। आज्ञा चक्र पर 'दीया' जल जाता है और कहते हैं कि सहस्रार में आकर, जो आत्मा का सातवां शरीर है, दीया बुझ जाता है, केवल 'नास्ति', देहशून्यता का अनुभव रह जाता है। लगभग दूसरे सभी दर्शन अर्थात् सांख्य योग, न्याय, वैशेशिक, उपनिषद्, वैदिक, वेदान्त, बौद्ध,

जैन, ब्रह्मकुमारी, ओशो, हंसा देश इत्यादि अभ्यास की इसी अवस्था को उच्चतम अवस्था मान बैठे हैं। सभी दर्शन इसी अवस्था को अलग-अलग तरीके से वर्णन कर देते हैं। कोई कहता है कि यहां इतना अधिक प्रकाश है जिसको इन आंखों से देखा नहीं जा सकता है। कोई कहता है कि यहां का प्रकाश इस प्रकार है जैसे हम 1000 वाट का बल्ब लगे हुए कमरे से निकलकर दूसरे कमरे में आ जाते हैं जहां 200 वाट का बल्ब जल रहा है। कोई कहता है कि यहां आकर मन की सभी वृति बुझ जाती हैं अर्थात् पहले जलती हैं और फिर प्रकृति की मूल अवस्था यानी सत, रज, तम की साम्यवस्था आ जाती है जो अंधकारमय है जिसका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। इसी अवस्था को तुरीयपद, असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि का नाम दिया जाता है। श्री अरविन्द इस अवस्था को 'रात्रि' का नाम देते हैं। यहां सहस्रार में आने वाले महाप्रकाशवान मण्डल से पहले की शांति है जो रात्रि बनकर प्रकट होती है। यह आज्ञा चक्र और सहस्रार के बीच के शून्य मण्डल की अवस्था है। यहीं पर आकर आत्मा की प्राज्ञस्थिति मान ली जाती है। लेकिन अभी आत्मा का विश्व-स्वरूप ही प्रकट हुआ है। यह गीता के विराट पुरूष की अभिव्यक्ति है। यहां आकर सतगुरू के स्थूल स्वरूप के साथ पूर्ण एकता और समता स्थापित हो जाती है। इसके बाद प्रेम का रास्ता आरम्भ होता है। यदि साधक में प्रेम है तो वह सतगुरू के सूक्ष्म व कारण स्वरूप को खोल सकता है, वरना सारा जीवन अभ्यास करते रहो, शास्त्र पढ़ते रहो, सतगुरू के इन रूपों में रसाई नहीं हो सकती है। यही कारण है कि संसार के सभी दर्शन यहां तक समाप्त हो जाते हैं। अत: इसके बाद सहस्रार के महाप्रकाशवान मण्डल में आकर सतगुरू का सूक्ष्म स्वरूप खुलने लग जाता है। यहां पर सतगुरू के ज्योत-निरंजन स्वरूप, अक्षर पुरूष, आत्मा के तैजस स्वरूप और परमात्मा के हिरण्यगर्भ स्वरूप के दर्शन होते हैं जिसे श्री अरविन्द्र ने ज्ञान का देवता

(Lord of Knowledge) व उर्ध्वमन (Universal Mind) कहा है। इसे ही उन्होंने काल (Time The Destroyer) कह कर पुकारा है। इस रूप का अनुभव करने के बाद अभ्यासी को कण-कण व रोम-रोम में एक ही आत्मा के दर्शन होने लगते हैं, यही ज्ञान की उच्चतम भूमि है।

यहां सतगुरू अपने नूरी स्वरूप यानी सूक्ष्म स्वरूप का अवलोकन करवाते हैं इससे ऊपर त्रिकुटी में जाकर सतगुरू ओंकार पुरूष बनकर अपनी पूर्ण ज्योति और शक्ति के साथ विराजमान रहते हैं। यह आत्मा का प्राज्ञस्थिति का अनुभव है। यहां आकर सतगुरू का सूक्ष्म व नूरी स्वरूप खुलकर प्रकट हो जाता है। त्रिकुटी को सन्तों ने ''गुरू के चरण'' कह कर पुकारा है। त्रिकुटी में आकर अभ्यासी गुरू के चरणों में समा जाता है। इसी पुरूष को श्री अरविन्द ने परमात्मा, पुरूषोतम, अतिमन (Supermind) व प्रेम और भक्ति का स्वामी (Lord of Love and Devotion) कह कर पुकारा है। त्रिकुटी में नूरी स्वरूप के खुलने के साथ-साथ सतगुरू के शब्द-स्वरूप का भी अवलोकन होने लगता है। शब्द स्वरूप के दर्शन उनके कारण-स्वरूप के दर्शन हैं। आज्ञा चक्र और सहस्रार तक साधक अनेक प्रकार के शब्द सुनता है, लेकिन ये शब्द उनके शब्द-स्वरूप की केवल छाया हैं। त्रिकुटी के मण्डल में आकर सुरत को सतगुरू के कारण-स्वरूप की झलक मिल जाती है। जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति परब्रह्म लोक में जाकर होती है। अत: त्रिकुटी से ऊपर जाकर सतगुरू रारंग-पुरूष बनकर विराजमान है जिसे सुरत-शब्द योग में सुन्न मण्डल कहा जाता है। यहां आकर जड़-चेतन की गांठ खुलने लगती है और सुरत की रग-रग व्याकुल होने लगती है। यही संतों का दशवां द्वार है जिसका मार्ग बहुत तंग है। इससे ऊपर सोहं पुरूष या भंवर गुफा के प्रकाश की भंवर में घूमते हुए, बासुरी की धुन सुनते हुए ऊपर चढ़ने लगते हैं। यह सतलोक का द्वार है और परब्रह्म की ऊपरी सीमा है। यहां तक तीन लोक का पसारा है। यहां

तक की रचना महाप्रलय में सिमट जाती है, इससे ऊपर नहीं, क्योंकि इससे ऊपर अंधकार का कोई अस्तित्व नहीं रहता है, केवल सतपुरूष का नूर ही नूर है। ब्रह्मलोक अर्थात् परब्रह्म की ऊपरी सीमा तक ब्रह्म के साथ प्रकृति (परामाया) का वजूद बना रहता है और जहां तक प्रकृति है वहीं तक प्रकाश के साथ-साथ अंधकार का वजूद भी बना रहता है। इसलिए भंवर गुफा के नीचे तक की रचना में हर दिन का प्रकाश रात्रि के अंधकार को भी अपने साथ लिए हुए होता है। इसीलिए यहां तक की रचना लय, प्रलय और महाप्रलय में सिमट जाती है।

सच्चखण्ड में आकर प्रकाश ही प्रकाश है, अंधकार नाम मात्र भी नहीं है। इसलिए सतलोक से ऊपर की रचना कभी भी नष्ट नहीं होती है। यही सतों का निवास स्थान है और सतगुरू का महाकारण स्वरूप। यहां का अनुभव आत्मा को मस्ती और आनन्द से भर देता है। लगातार अभ्यास से अभ्यासी की सुरत सतलोक और अलख लोक को पार करती हुई अगम लोक में जाकर अपने आदि स्वरूप में समा जाती है और सुरत सदा के लिए प्रकाश और धुन के मण्डल में जाकर समा जाती है। अभ्यासी के शरीर का कण-कण नूर में समा जाता है। प्रकाश झरने की तरह सारे शरीर में हर समय बहता रहता है। इससे ऊपर जाकर सतगुरू का निजधाम या स्वामी स्वरूप आ जाता है। जो सतगुरू के महाकारण स्वरूप की पूर्ण व्याख्या है। यहां पहुंचकर सुरत अपने सतगुरू में पूर्ण रूप में विलीन हो जाती है, उसी का रूप बन जाती है। सतगुरू शिष्य एक हो जाते हैं। सुरत को निज-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। जब अभ्यासी आंख बंद करता है तो उसे नूर ही नूर नजर आता है और हर समय राधास्वामी धुन गुंजायमान रहती है। अभ्यासी जब ध्यान में बैठता है तो आंख बंद करते ही अखण्ड प्रकाश की धार में बहता चला जाता है और राधास्वामी राधास्वामी धुन शरीर, मन व आत्मा के रोम-रोम को पुलकित करती हुई सुरत को निज-धाम की तरफ खींचने लगती है।

ध्यान की गहराई में जाकर धीरे-धीरे प्रकाश समाप्त होने लगता है, राधास्वामी धुन भी आदि शब्द में समाने लगती है। आंखों की पुतलियां खिंचकर उल्ट जाती हैं। जीभ खिंचकर गिर जाती है उसके बाद सुरत अर्थात् राधा, स्वामी के स्वरूप में जाकर आनन्द और मस्ती के अथाह भण्डार अर्थात् अनादि, स्वरूप में समा जाती है। इस अनुभव का वर्णन करना इस बुद्धि के वश की बात नहीं है। फिर सुरत जब इस अकथनीय अवस्था का अमृत पान करके स्तह की तरफ लौटना चाहती है तो आंखों की पुतलियां स्थिर हो जाती हैं, नीचे नहीं उतरना चाहती हैं, बुद्धि यदि कोई विचार उठाना चाहती है तो बार-बार उसी अविचार की अवस्था में जाकर समा जाती है। सारे शरीर की इस तरह से गांठ बंध जाती है जैसे कोई चीज बरसों एक जगह पड़े रहने से जाम हो जाती है और अपना संकल्प नहीं छोड़ना चाहती है। जीभ हिलना चाहती है लेकिन फिर-फिर कर अंदर की तरफ खिंच जाती है। यह वर्णन उस परम् अनुभूति की अवस्था से बाहर आने के बाद शारीरिक और मानसिक परिस्थितियों का मामूली सा वर्णन है। आत्मिक सुख और आनन्द का अनुभव करना संभव नहीं है। अत: जब सुरत धीरे-धीरे ध्यान की सतह पर आने का प्रयास करती है तो प्रकाश बढ़ने लगता है और राधास्वामी धुन भी प्रकट हो जाती है। ध्यान से उठने से पहले अर्थात् स्तह पर आकर प्रकाश उसी तरह प्रबल होकर झाल मारने लगता है और राधास्वामी धुन लगातार गुंजायमान हो जाती है। अत: यहां आकर अभ्यासी एक ही समय के ध्यान में पूर्ण प्रकाश में वास करता हुआ अप्रकाश और आदि धुन को सुनता हुआ आदि शब्द और अशब्द गति में समाता चला जाता है। ध्यान से उठते ही उसकी अवस्थिति उसी आदि धुन और प्रबल प्रकाश के अंदर हो जाती है जो हर समय बनी रहती है। यह है राधास्वामी योग या सुरत-शब्द योग की असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि का स्वरूप जो सभी धर्म और सम्प्रदायों की समाधि से सम्पूर्णतया

भिन्न है। सभी धर्म व मतों में उच्चतम समाधि की पूर्णता अंधकार के मण्डल में या बिना धुन के शब्द की शून्य अवस्था में जाकर होती है लेकिन राधास्वामी योग में सुरत की अन्तिम स्थिति महाप्रकाशवान मण्डल और शब्द-धुन जो आदि धुन है, में जाकर होती है। केवल अभ्यास की गहराई में जाकर धुन आदि शब्द में विलीन होती है, लेकिन उस अवस्था से बाहर निकलते ही उसकी स्थिति धुन के मण्डल में हो जाती है। इसे समझने के लिए शब्द और शब्द-धुन का भेद समझ में आना अति आवश्यक है, लेकिन यह समझने के लिए मनुष्य को पूर्ण सतगुरू की शरण में रहते हुए अभ्यास करने की आवश्यकता है। उसके बिना मंजिलों का भेद समझ में नहीं आ सकता है। इसका कुछ-कुछ वर्णन इस पुस्तक के सातवें अध्याय ''अभ्यास की 18 मंजिलें'' में किया गया है।

इस प्रकार हम सतगुरू के साकार रूप को पकड़कर उनके स्थूल, सूक्ष्म, कारण व महाकारण स्वरूप से मेल करते हुए उनके निराकार और निज-स्वरूप में समा जाते हैं और सुरत की अनामी धाम में रसाई हो जाती है। सतगुरू के साकार स्वरूप के साथ पूर्ण एकता तभी संभव हो सकती है जब हम सतगुरू के अंदर कुल मालिक का नूर देखते हैं, उन्हें पूर्ण परमात्मा का अवतार समझते हैं। उन्हें कुल मालिक का दर्जा देते हैं। यह सत्य भी है क्योंकि उनके अंदर परमात्मा की पूर्ण सत्ता का जुहूर हर समय झाल मारता रहता है। जो मनुष्य गुरू को साधारण पुरूष समझते हैं, उन्हें अधिक लाभ नहीं मिलता है। कहा भी गया है :

गुरू को मानुष जानते, ते नर कहिए अन्ध।
दु:खी होए संसार में, आगे यम का फन्द।।

इसलिए गुरू के अंदर सर्वोच्च सत्ता का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है और इस विश्वास में कमी नहीं आनी

चाहिए, वरना अभ्यास की उन्नति रूक जाएगी। कबीर साहब गुरू को परमात्मा से भी ऊंचा दर्जा देते हुए कहते हैं :

गुरू गोविन्द दोऊ खड़े काके लागू पाय।
बलिहारी गुरूदेव की जिन गोविन्द दियो मिलाय।।

सभी भारतीय दर्शनों में गुरू की महता को स्वीकारा गया है। हमें जीवन के हर क्षेत्र में गुरू की आवश्यकता पड़ती है। जब किसी विद्यार्थी के सामने गणित का सवाल अटक जाता है और वह कई दिनों तक इसका हल नहीं खोज पाता है तो गुरू की मदद लेकर वही विद्यार्थी कुछ ही क्षणों में कठिन से कठिन सवाल का हल ढूढ़ लेता है। इसी प्रकार कोई भी तकनीकी ज्ञान गुरूजनों की मदद लिए बगैर अधूरा ही रहता है। कोई भी क्षेत्र है उसी में गुरू की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए परमात्मा के साकार रूप अर्थात् गुरू की आवश्यकता होती है।

अभ्यासी के लिए परमात्मा के निराकार स्वरूप को पकड़ पाना या उसका अनुभव करना आसान कार्य नहीं है। पहले स्तर पर निराकार स्वरूप हमारे अंदर और चारों तरफ सामान्य चैतन्य के रूप में व्याप्त है। उसका नियम सहस्रार का नियम है जिसके अंदर से हजारों धाराएं निकलती और फैलती रहती हैं तथा हर धारा अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती रहती है। इसका गुण अनेकता का गुण है, अस्थिरता का गुण है। अनेकता की धार को पकड़कर एकता तक पहुंचने का कार्य अति दुर्लभ है, बल्कि एक काल्पनिक स्वप्न है। अपितु इस रास्ते द्वारा अनेकता के स्रोत सहस्रार तक पहुंचना भी कठिन हो जाता है। फिर इसकी अन्तरतम गुफाओं में छिपा हुआ सतगुरू का सूक्ष्म, कारण और महाकारण स्वरूप तो हमारी पहुंच से बहुत दूर रह जाता है। यदि साधक सूक्ष्म स्वरूप तक पहुंच भी जाता है या परमात्मा का नूर अपने अन्दर प्रकट कर भी लेता है तो वह भी निराकार स्वरूप नहीं कहा जा सकता

है क्योंकि वह भी आकार में आकर ही हमें दृष्यमान होता है। माना कि उसकी कोई आकृति नहीं होती है, फिर भी प्रकाश रूप में आंखों के सामने फैलता हुआ या बहता हुआ प्रकट होता है लेकिन अभ्यासी इसे ही परमात्मा का निराकार स्वरूप मानकर संतुष्ट हो जाता है। यदि शब्द भी प्रकट होता है तो वह भी आकार में आने के बाद ही हमें सुनाई दे सकता है। इसलिए निराकार की पूजा करने वाले को भी अंदर में जाते ही परमात्मा के साकार स्वरूप के आमने-सामने होना ही पड़ता है इससे बचा नहीं जा सकता है।

सामान्य चैतन्य की धार को पकड़कर चलने से आज्ञा चक्र का प्रकाश खुलना भी कठिन हो जाता है क्योंकि साधक हमेशा अनेकता के मण्डल में समाया रहता है। जिसने भी सामान्य चैतन्य को पकड़कर चलने की कोशिश की है वही अधूरा रह गया है या बीच में ही टूट कर गिर गया है। सतगुरू के साकार स्वरूप के अंदर विशेष चैतन्य और महाचैतन्य जीवित स्रोत बनकर हर समय मौजूद रहता है जिसका स्पर्श मात्र हमारे अंदर आनन्द की लहर पैदा कर देता है। इसके अतिरिक्त साकार रूप की सन्निधि में जाकर मनुष्य के अंदर प्रेम की भावना बढ़ती है जो निराकार रूप के साथ सम्भव नहीं हो पाती है। यही प्रेम की धार जब बढ़ती है तो प्रकाश बनकर प्रकट हो जाती है और अभ्यासी सतगुरू के नूरी और नादी स्वरूप को पकड़ता हुआ उसके निराकार और निज स्वरूप तक पहुंच जाता है। अत: आज तक कोई भी योगी या साधक ऐसा नहीं हुआ है जो परमात्मा के साकार स्वरूप के पकड़े बिना मुक्ति धाम में चला गया हो या निर्वाण प्राप्त किया हो।

आध्यात्मिकता में गुरू का स्थान वही है जो बचपन में एक बच्चे को सम्भालने के लिए व उचित पालन-पोषण करने के लिए मां का होता है। एक अनाथ बच्चा अपनी पीड़ा और व्यथा किसे सुना सकता है। इधर-उधर भटकता हुआ दु:ख के सागर में लहरों की टक्कर

खाता हुआ वह दिशाहीन होकर भटकता रहता है। सतगुरू भी मां की तरह अपने शिष्य को अनदेखी और अनसुनी अंधकार की खाइयों से सुरक्षित रखता है, काल की मार से बचा कर रखता है। रास्ते का सही और पूर्ण भेद देकर अपने प्यारे शिष्य के साथ-साथ चलता रहता है और पग-पग पर उसकी संभाल करता रहता है। निराकार और निर्गुण की भक्ति में यह गुण नहीं है। सामान्य चैतन्य की धार स्वयं काल और माया की धार है जो वृति को फैलाने का कार्य करती है। यह धार ऊपर चढ़ते हुए अभ्यासी को ही अपने स्वाभाविक गुण के कारण नीचे गिराती रहती है। साधक मकड़ी की तरह बार-बार जाल पकड़कर चढ़ता रहता है और घूम-घूम कर उसी जाल में फंसा हुआ प्राण तोड़ देता है। लाख कोशिश करने पर भी अंदर का रास्ता नहीं खुल पाता है। कठोर साधना के बाद अंदर का चैत्य पुरूष कभी-कभी थोड़ी झलक देता है और फिर छुप जाता है। यदि प्रकट होता भी है तो अपने सांवले और नीले स्वरूप में, क्योंकि बाहरी स्तर पर आत्मा के ऊपर काल व माया का गिलाफ (Cover) या आवरण चढ़ा रहता है, इसी कारण इसका रंग बादलों के रंग या आकाश के रंग जैसा होता है। योग दर्शन और अन्य शास्त्रों में इस प्रकाश के प्रकट होने को 'धर्ममेघ समाधि' कहा गया है। अभ्यास में जब बादलों की तरह सांवला और नीला रंग घूम-घूमकर आने लगता है तो योग शास्त्र में वर्णित 'धर्ममेघ समाधि' की सिद्धि हो जाती है। स्वामी विवेकानन्द ने इसे 'पूर्ण साहित्य' के भाग-1 (The complete works of swami Vivekananda Volume-1) में योग सूत्र का वर्णन करते हुए चौथे अध्याय 'कैवल्यपाद' (Independence) में इसे 'आत्मिक बादल' (Cloud of virtue) कह कर पुकारा है। योग सूत्र के 27वें सूत्र का वर्णन करते हुए लिखते हैं : प्रसंख्यानेऽप्याकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेधर्ममेघ: समाधि !!26!!

"When the Yogi has attained to this discrimina-

tion (the Samadhi called the 'Cloud of virtue') all the power (सिद्धि) come to him, but the true Yogi rejects all them. Unto him comes a peculiar Knowledge, a particular light, called the Dharma Megha, the cloud of virtue. अर्थात् समाधि की इस अवस्था को प्राप्त करके योगी को सभी रिद्धि-सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं, लेकिन सच्चा योगी इनसे दूर रहता है।

सुरत-शब्द योग में अभ्यासी के लिए यह अवस्था कोई महत्व नहीं रखती है। संतों का मार्ग सहस्रार से आरम्भ होता है जबकि बाकी सभी रास्ते यहां आकर बंद हो जाते हैं। बिना प्रेम का रास्ता या निराकार की साधना का रास्ता यहां आकर दम तोड़ जाता है। इससे आगे प्रेम व भक्ति की चढ़ाई आरम्भ होती है जिसे सातवें अध्याय में वर्णन कर दिया गया है।

सतगुरू का साकार रूप अपने शिष्य की संभाल पग-पग पर करता रहता है। उसे खान-पान, रहणी और करनी के बारे में बताता रहता है, उसका रास्ता किस दिशा में जा रहा है इसका भी ध्यान रखता है। कभी-कभी सुरत काल के रास्ते पर चल पड़ती है और उसका काल का शब्द अर्थात् बांया कान की तरफ का शब्द खुल जाता है लेकिन सतगुरू अभ्यासी को तुरंत इसका इलाज बता देता है। परन्तु निराकार और निर्गुण में यह गुण नहीं है। वह गुणहीन है। वह सबसे निचले स्तर पर अचेत पड़ा हुआ सो रहा है। ऊपरी स्तर पर जाकर उसमें से हजारों धार (सहस्रार) निकल रही हैं और नीचे की तरफ फैल रही हैं। उसे सारी विराट रचना की संभाल करनी है। अपने समय पर यही पुरूष सहस्रार से नीचे की सृष्टि की रचना करता है और समय पूरा हो जाने पर काल बनकर सारी सृष्टि को बेरहमी के साथ निगल जाता है। उस पर किसी व्यक्ति विशेष की प्रार्थना का कोई असर नहीं पड़ता है और निराकार

की पूजा करने वाला इसी उतार चढ़ाव में फंसा हुआ आवागमन के चक्र काटता रहता है।

मनुष्य कर्म करता रहता है क्योंकि वह कर्म करने के लिए स्वतंत्र होता है। वह निराकार व निर्गुण स्वरूप उसे यह नहीं कहेगा कि यह कर्म गलत किया जा रहा है लेकिन जब मनुष्य कर्म कर चुका होता है तो उसे कर्म का फल भोगने के लिए मजबूर होना ही पड़ता है। कर्म भोगने में वह परतंत्र हो जाता है। कर्म करने में स्वतंत्र और उसका फल भोगने में परतंत्र।

ईश्वर के विधान का यही नियम स्वामी दयानन्द अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि कर्मों के सारे संस्कार हमारी ही चेतना पर अंकित हो जाते हैं और मृत्यु के बाद वही कर्म आत्मा के सामने आकर खड़े हो जाते हैं जिसके आधार पर हमें उनका फल भोगना ही पड़ता है। इससे बचा नहीं जा सकता है लेकिन सतगुरू का साकार स्वरूप हमारे सामने रहता हुआ इन सब कष्टों से बचाता रहता है और उचित दिशा प्रदान करता रहता है।

सतगुरू का साकार रूप निराकार और निर्गुण से भी ऊँचा है। इसमें महाचैतन्य की शक्ति हर क्षण हिलोरें मारती रहती है। यह अमृत का भण्डार है, जीवन-दाता है, मुक्ति और आनन्द है। इसमें किसी प्रकार की प्रलय या महाप्रलय का दु:ख नहीं है, इन सब व्याधियों से मुक्त है। दूसरी तरफ निराकार में भौतिक चेतना का अचेतन और निश्चेतन मुख्य है, चेतन तत्व गौण है। निराकार के सामान्य चैतन्य में केवल जीवन पाने का संघर्ष है, समर्पण और प्रेम भावना नहीं है। परहित और परसुख की इच्छा नहीं है, केवल स्वार्थ और अपर-विद्या का भोग है। इसके अंदर योगमाया का योग प्रबल रूप से विद्यमान है। जबकि सतगुरू बुद्धि और दिल का अनोखा संगम है जहां जीवन-मूल्यों की रक्षा होती है, आदर्श की स्थापना होती है, प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति

है, सच्चाई की सत्ता है, ज्ञान का स्रोत है, आनन्द की असीमता है। जब अभ्यासी संकल्प के साथ सतगुरू से कोई प्रार्थना करता है तो उसकी तुरंत संभाल की जाती है। सतगुरू के साकार रूप के सुख और आनन्द का वर्णन तो रचना की हर अभिव्यक्ति मौन रहकर भी कर रही है। निराकार की इच्छा रखने वाला मनुष्य बिना धार या डोरी के आकाश की ऊंचाईयों पर चढ़ना चाहता है। प्रकाश की किरण का ज्ञान किए बगैर ही सूर्य पर अधिकार करना चाहता है। समुन्द्र की ऊपरी सतह पर विजय पाए बिना ही उसकी गहराईयों पर राज करना चाहता है। खाना सगुण खाता है व आकार बनाकर खाता है। हवा और पानी आदि को भी आकार और गुण बनाकर स्वीकार करता है लेकिन कहता है कि यह निर्गुण और निराकार की भेंट चढ़ रहे हैं। जिस निर्गुण का कोई गुण ही नहीं है तो फिर वह कौन से गुण व आकार की भेंट स्वीकार करेगा? वह तो निराकार की साकार रचना में व्याप्त अनेकता के सामान्य चैतन्य को स्वीकार हो सकता है जो परमात्मा का विराट स्वरूप या क्षर पुरूष है, जो अस्थिर है, चलायमान रहता है, नाशवान है। ऐसा अभ्यासी जो इस पुरूष की साधना करता है वह यहीं तक की चेतना अर्थात् आज्ञा चक्र तक की चेतना का साक्षात्कार कर सकता है, इससे ऊपर नहीं जा सकता है। अधिक से अधिक लाखों में एक योगी सहस्रार के अक्षर पुरूष तक पहुंच सकता है। अत्रेय ऋषि का पुत्र दत्तात्रेय जिसे ऋषि ने स्वयं विष्णु को पुत्र रूप में आने का वरदान मांगा था, वह प्रकृति को अपना गुरू मानता था। वह ध्यान की ऊंची से ऊंची अवस्था में शंख ध्वनी का वर्णन करता है। जो बंकनाल का शब्द है। कहने का अभिप्राय यही है कि परमात्मा के निराकार स्वरूप की साधना प्रकृति की साधना है जो काल व योगमाया की शक्ति की अभिव्यक्ति है। बुद्धि स्वयं प्रकृति है। इसलिए इसकी सोच और पहुंच प्रकृति की हद से परे नहीं जा सकती है। बल्कि प्रकृति को अपने मूल स्वरूप में अनादि और निराकार

कहा गया है, जिसे बुद्धि भी साक्षात नहीं कर सकती है। योग दर्शन कहता है कि जब चित्त के ऊपर 25 प्रकृति के विकार प्रकाशित होते हैं तब पुरूष को उनका ज्ञान होता है इसे विवेकख्याति प्राप्ति कहा गया है। यहां पुरूष को प्रकृति के विकारों का ज्ञान हो जाता है, जिसे प्राप्त करके पुरूष मुक्त हो जाता है, यही सांख्य मत का विचार है। इसे ही सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है और जब चित्त के ऊपर अंधकार छा जाता है, प्रकृति के तीनों गुण सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण साम्य अवस्था में आ जाते हैं तो प्रकृति अपने मूल स्वरूप में प्रकट हो जाती है जिसे देखा नहीं जा सकता है। सारे कर्मों के संस्कार जल जाते हैं केवल निरोध संस्कार रह जाता है, इसे सांख्य-योग में असम्प्रज्ञात, निर्विकल्प व निर्बीज समाधि कहा गया है। जब तक चित्त के ऊपर कोई भी वृति प्रकाशित होती है या कोई संस्कार का बीज बाकी रहता है तक तब निर्बीज समाधि सिद्ध नहीं होती है, उसे सबीज समाधि कहा जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस दृष्यमान या अदृष्यमान जगत में किसी चीज का भी ध्यान करो, वही प्रकृति का ध्यान है। 25 प्रकृति के अंदर एक प्रकृति (मूल प्रकृति) है बाकी सभी प्रकृति मूल प्रकृति से निकली विकृति या विकार हैं।

सांख्य-योग में 25 प्रकृति इस प्रकार कही गई हैं :

25 प्रकृति = 8 प्रकृति + 16 विकृति + 1 पुरुष

1 8 प्रकृति = मूल प्रकृति, महत्तत्व (चित्त), अहंकार, पांच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)।

इनमें से एक प्रकृति है, बाकी सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं अर्थात् यह सातों आगे किसी तत्व को पैदा करने का कारण हैं इसलिए इन्हें प्रकृति भी कहा गया है।

1 16 विकृति = 11 इन्द्रियां (5 कर्मेन्द्रियां + 5 ज्ञानेन्द्रियां + 1 इनका नियंता मन) + 5 स्थूल भूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) जो 5

तन्मात्रा से पैदा हुए हैं। ये 16 प्रकृतियां केवल विकृतियां या विकार हैं जिनसे आगे कोई तत्व नहीं बनता।

1 1 पुरूष = प्रकृति के संबंध से पुरूष जिसे जीव भी कहा जाता है जो अज्ञानवश आवागमन में फंसा रहता है।

कई मनुष्य कहते हैं कि वे आकाश या ज्योत का ध्यान करते हैं। सांख्य-योग के अनुसार दोनों ही विकार हैं, केवल विकृति हैं। आकाश, शब्द तत्व से पैदा होता है। अग्नि, रूप तत्व से पैदा हुई है। अत: यदि हम आकाश और अग्नि तत्व की साधना करते हैं तो भी शब्द और रूप को ही प्रकट किया जा सकता है। जो निराकार व निर्गुण नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि वे भी दूसरी प्रकृति से उत्पन्न माने गए हैं। सुरत-शब्द योग में इसी शब्द और रूप को शब्द और प्रकाश कह कर वर्णन किया गया है लेकिन शब्द और प्रकाश भी परमात्मा के साकार रूप के अन्तर्गत ही आते हैं। अंतर सिर्फ इतना है कि सुरत-शब्द योग में प्रकाश और शब्द का पूरा भेद खोला जाता है जबकि दूसरे मत व दर्शन इनके बाहरी स्वरूप तक ही सिमट कर रह जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जो मनुष्य प्रकृति को निराकार का रूप मानकर साधना करते हैं वे सभी काल और माया के घेरे में रह जाते हैं और अन्तत: उन्हें भी परमात्मा के साकार स्वरूप के अंदर जाना ही पड़ता है। इसके बिना मुक्ति का रास्ता खुल ही नहीं सकता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि सतगुरू का साकार रूप ही निराकार और निर्गुण की उपासना और साधना करवा सकता है। गुरूमुख शिष्य हुजूर सालिगराम जी महाराज अपने सतगुरू स्वामी जी महाराज से उनके साकार व निर्गुण रूप का गुणगान करते हुए विनती करते हैं :

गुरू मोहे अपना रूप दिखाओ।
ये तो रूप धरा तुम सर्गुण जीव उभार कराओ।
रूप तुम्हारा अगम अपारा सोई अब दरसाओ।

ये भी रूप पियारा मोको इससे वो समझाओ।
तांते महिमा भारी इसकी पर वो भी लखवाओ।

फिर स्वामी जी महाराज जवाब देते हुए कहते हैं :

देख प्यारे मैं समझाऊं रूप हमारा न्यारा।
वो तो रूप लखै ना कोई जब तक देऊं ना सहारा।
करनी करो मार मन डालो इन्द्रि रोक द्वारा।
सुरत चढ़ाय गगन पर ध्याओ सुन्न सिखर के पारा।
सतगुरू का रूप दिखाऊं अलख अगम दरबारा
ताके आगे राधास्वामी वो निज रूप हमारा।

स्वामी जी महाराज कहते हैं कि जब तक सतगुरू का सहारा नहीं मिलता तब तक अलख, अगम के पार जाकर निज रूप की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

साधक जब अभ्यास में बैठता है तो उसे ध्यान में या स्वप्न में सतगुरू के साकार स्वरूप के दर्शन होने लगते हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या काल भी सतगुरू का रूप धारण करके आ सकता है और साधक को धोखा दे सकता है? यह प्रश्न अनेकों बार किया जाता है।

यह पहले लिखा जा चुका है कि हमें जब किसी देवता या इष्ट के दर्शन होते हैं तो यह हमारे ख्याल और विश्वास का परिणाम होता है और यह भी लिखा गया है कि साधक का अभ्यास चेतना के जिस स्तर पर होता है, उसी स्तर की चेतन शक्ति साधक के विश्वास के अनुसार आकृति लेकर प्रकट हो जाती है। अभ्यास में कई बार सतगुरू का साकार रूप अंतर में प्रकट होने लगता है जो समय-समय पर साधक को दिशा-निर्देश करता है या तरह-तरह की बातें भी बता सकता है। ज्यों-ज्यों सतगुरू में प्रेम और विश्वास दृढ़ होता जाता है उनका साकार रूप बार-बार प्रकट होने लगता है। इसका अर्थ यह है कि अभ्यासी के मन की वृति अन्तरमुखी होती जा रही है। वह सतगुरू की धार के साथ

तादात्मय स्थापित करता जा रहा है। उसके प्रेम की सतगुरू के दरबार में स्वीकृती हो रही है। यह अभ्यास की उन्नति के लिए अच्छा लक्षण है।

आरम्भ में जब सतगुरू के साकार रूप के दर्शन होने लगते हैं तो वे हमें दूर से दिखाई देते हैं, कभी सत्संग करते दिखाई देते हैं, तो कभी किसी के साथ बातचीत करते नजर आते हैं। कभी घूमते हुए भी दिखाई दे सकते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि उनके साथ शिष्य की एक दूरी बनी रहती है। अब ज्यों-ज्यों उनका ख्याल दिल में पक्का होता जाता है, वे हमें और भी निकट से दिखाई देने लगते हैं अर्थात् निकट से उनके दर्शन होने लगते हैं। ख्याल व प्रेम में और मजबूती आने पर उनका स्पर्श मिलने लगता है जैसे हमारे साथ बातचीत कर रहे हों और आशीर्वाद दे रहे हों या कोई कार्य करने के लिए हमें कह रहे हों। इसके बाद जब प्रेम और दृढ़ हो जाता है और अभ्यास पक जाता है तो वे शिष्य को और अधिक प्यार देने लग जाते हैं, ध्यान भजन की बातें बताने लग जाते हैं। शिष्य की हर समय रक्षा व संभाल करते हुए प्रकट होते रहते हैं तथा शिष्य भी उनके प्यार की धार में समाता चला जाता है। गुरू-शिष्य का यह व्यवहार शिष्य के दिल की सफाई और उसकी चेतना की दशा को दर्शाता है। जब शुरू-शुरू में सतगुरू के दर्शन होते हैं तो उनका स्वरूप पूरी तरह से साफ नजर नहीं आता है। कभी-कभी साफ भी दिखाई दे जाता है लेकिन कभी-कभी कुरूप या मैली अवस्था में भी उनके दर्शन हो सकते हैं। इस दर्शन को कोई साधक काल या विरोधी शक्तियों का कार्य मान लेता है जो आत्मिक सफर में रास्ता रोकती हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि काल सतगुरू का रूप धरकर आ जाता है। बल्कि यह हमारी आन्तरिक अवस्था और चेतना की सफाई को दर्शाता है हमारे अंदर विद्यमान मैली अवस्था को प्रदर्शित करता है या हमारे अंदर उनके प्रति भाव की कमी को प्रकट करता है। यह किसी विरोधी शक्ति का कार्य नहीं है। मन में यदि विरोधी शक्तियों का

ख्याल पकता रहता है तो ध्यान व जीवन में विरोधी शक्तियां आने लगती हैं और सारे कार्य बिगड़ने लगते हैं, इसलिए साधक को हमेशा सकारात्मक सोच रखनी चाहिए वरना रूहानी मार्ग अवरूद्ध हो जाएगा। जैसा दर्पण होता है वैसा ही प्रतिबिम्ब बन जाता है। हमारा चित्त दर्पण है। मन की जैसी सफाई और हालत होगी, उस पर वैसा ही स्वरूप प्रकट हो जाता है। फिर धीरे-धीरे जब हमारे मन व चेतना की सफाई होती जाती है और अभ्यास में उन्नति होती जाती है तो सतगुरू स्वरूप के दर्शन उजले होते जाते हैं और उनका स्वरूप निखरता जाता है। जब ध्यान की बहुत ही अच्छी अवस्था आती है तो उनका स्वरूप भी दिव्य होता चला जाता है और कभी-कभी वे तथा दूसरे दिव्य पुरूष प्रकाश की आभा के साथ या प्रकाश के अंदर प्रकट होने लग जाते हैं और प्रकाश व शब्द के अनेकों रूहानी भेद प्रकट करने लगते हैं। कभी-कभी सतगुरू शिष्य को अपने साथ रखते हुए प्रकाश व शब्द के मण्डलों की यात्रा करवाते हैं। इस प्रकार सतगुरू का साकार रूप अभ्यासी की उन्नति में अत्यधिक मदद करता है। सतगुरू के यह दर्शन सतगुरू शिष्य की रेडिएसन का मिलाप व शिष्य की चेतना की अवस्था पर निर्भर करता है। शिष्य की जितनी अधिक आत्म शुद्धि होती जाएगी और अभ्यास पकता जाएगा उतना ही उनका दिव्य स्वरूप शिष्य के अंदर प्रकट होता जाएगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि योग में सतगुरू के साकार रूप का बहुत अधिक महत्व है। यह भक्ति मार्ग है और भक्त के लिए सतगुरू के किसी भी रूप का दर्शन सर्वोपरि है, उसके लिए सब कुछ सतगुरू ही सतगुरू है। प्रेमी भक्त के लिए काल और महाकाल का कोई अस्तित्व नहीं है। उसके पास काल नहीं आ सकता है। विरोधी शक्तियां ऐसे भक्त का रास्ता नहीं रोक सकती हैं। इसका और अधिक वर्णन अगले और अन्तिम अध्याय 'अभ्यास में प्रेम मार्ग व ज्ञान मार्ग का महत्व' में किया जाएगा।

अब दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या सतगुरू के साकार रूप के दर्शन होना काल और माया की परिधि में आता है? इसका जवाब देते हुए परम् सन्त पण्डित फकीर चन्द जी महाराज कहते हैं कि यदि अभ्यासी इसी अवस्था तक आकर अटक जाता है और अपने इष्ट के साकार रूप के दर्शन को ही अपनी मंजिल मान बैठता है तो वह काल और माया के घेरे में है। इस स्वरूप से हम अपने विश्वास और रेडिएसन के कारण अपनी बिमारियों की दवाई पूछ सकते हैं, इसी स्वरूप से हम अपने प्रश्नों के हल करवा सकते हैं। अपने बिगड़े हुए कार्य संवार सकते हैं, अर्थात् इस दुनियां के अनेक स्वार्थों की पूर्ति इसी स्वरूप को प्रकट करके करवा सकते हैं लेकिन यदि इसी ख्याली स्वरूप को पकड़कर अपने अंदर सतगुरू का नूरी व नादी स्वरूप प्रकट नहीं किया गया तो हम मुक्ति के रास्ते पर नहीं चढ़ सकते हैं। सुख-दुःख से छुटकारा नहीं पा सकते हैं। यह सत्य है कि सतगुरू के अंतर में दर्शन साधना की उन्नत अवस्था का प्रतीक है लेकिन जब तक हम किसी भी रूप, रेखा व आकृति में कैद हैं तब तक काल और माया के घेरे में हैं। अतः सतगुरू के स्थूल व ख्याली स्वरूप को पकड़कर अंतर में सूक्ष्म (नूरी) स्वरूप को प्रकट करना है, फिर कारण (नादी) और महाकारण (अनादि) स्वरूप में लीन होते हुए निज धाम में पहुंचना है।

साकार और निराकार के महत्त्व का वर्णन श्रीमद्भगवद गीता के 12 वें अध्याय में किया गया है। अर्जुन श्री कृष्ण से पूछता है कि जो भक्तजन एकाग्रचित से आपकी उपासना करते हैं और जो आपको अविनाशी निराकार मानकर पूजते हैं उनमें से कौन भक्त अति उत्तम योग का जानने वाला है? श्री भगवान उत्तर देते हुए कहते हैं कि जो मुझ में मन लगा कर और निरंतर मेरे में लगे हुए अतिशय श्रद्धा से मुझे पूजते हैं वह लोग मेरी राय में उत्तम योगी हैं। जो निराकार (निर्गुण) का ध्यान करते हैं, उनको कठिनता अधिक होती है क्योंकि निराकार का मार्ग

साकार से कठिन है। उसमें कठिनता से पहुंच होती है और जो सम्पूर्ण कर्मों को मेरे में अर्पण करके मुझ में एकाग्रचित होते हैं और ध्यान योग से मुझे पूजते हैं। हे पार्थ! मैं उनको मृत्यु रूप संसार सागर से शीघ्र ऊंचा उठा लेता हूँ। उनका चित्त मुझ में लगा रहता है। (अध्याय 12/1-7)।

प्रेम वाणी में सतगुरू के साकार रूप का महत्व और उसकी पूर्णता का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

गुरू की कर हर दम पूजा।
गुरू समान कोई देव ना दूजा।।
गुरू चरण सेव नित करिए।
तन मन गुरू आगे धरिए।।
गुरू दरस करो आंखन से।
गुरू वचन सुनो सरवन से।।
गुरू के बल मन को मारो।
गुरू के बल काल संहारो।।
गुरू ब्रह्म रूप धर आए।
गुरू पार ब्रह्म गति गाए।।
गुरू सतनाम पद खोला।
गुरू अलख नाम को तोला।।
गुरू रूप धरा राधास्वामी।
गुरू से बड़ नहीं अनामी।।

शास्त्रों में गुरू का पद ब्रह्मा, विष्णु, महेश और परब्रह्म से भी ऊंचा माना गया है -

गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णु गुरूर्देव महेश्वरः।
गुरू साक्षात् परब्रह्म तस्मैः श्री गुरूवे नमः।।

अध्याय-12

अभ्यास में प्रेम मार्ग व ज्ञान मार्ग का महत्व

प्रेम और ज्ञान मार्ग में केवल एक ही मौलिक अंतर है जिसकी वजह से सम्पूर्ण ज्ञान और समाधि की परिभाषा बदल जाती है। वह यह है कि ज्ञान सब कुछ जानना चाहता है जबकि प्रेम सब कुछ भूलकर स्वयं को भी अपने इष्ट के प्यार में मिटा देना चाहता है। उसी का रूप बन जाता है। इसी से एक विवेकी पुरूष अनुमान लगा सकता है कि कौन सा मार्ग ऊँचाई प्रदान करने वाला है। योग का एक मार्ग (कर्म मार्ग) और भी है जिसे कुछ देर बाद लिया जाएगा, जिसका कुछ-कुछ वर्णन पहले भी कर दिया गया है। ज्ञान मार्ग में मनुष्य अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व अलग से सुरक्षित रखना चाहता है, और अलग रहते हुए किसी वस्तु या अस्तित्व की आन्तरिक तहों के अंदर झांकना चाहता है। यही ज्ञान की प्रकृति के नियम के अनुसार आवश्यक भी है। आरम्भ में दोनों मार्ग अपनी-अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुसार आगे बढ़ते हैं लेकिन आगे जाकर ज्ञान मार्ग की आवश्यकता हो जाती है कि ज्ञान की अनेकता की सीमाएं तोड़ी जाएं अर्थात् अलग-अलग अस्तित्व को एकता के सूत्र में बांधा जाए परन्तु उस समय तक बुद्धि के अहंकार का अंग इतना मजबूत हो चुका होता है कि वह अपनी विचार धारा से अलग नहीं हो पाता है तथा ध्यान की अवस्था में भी प्रकाश व शब्द के अनुभव को अपनी बुद्धि के तराजू पर रखकर तोलने लग जाता है क्योंकि वह उस अनुभव को गहराई से जानना चाहता है, दूसरे मनुष्यों के लाभार्थ उन्हें बताना चाहता है और लेखनीबद्ध करना चाहता है। परमात्मा का कार्य, प्रचार व प्रसार करने की और गुरू बनने की इच्छाएं ज्ञानी के अंदर हमेशा कभी प्रकट और कभी अप्रकट रूप से हिलोरें मारती रहती हैं। वह परमात्मा का यंत्र बनना चाहता है। ऐसा ज्ञानी पुरूष ध्यान

अवस्था में जब किसी मण्डल की चेतना में समाने लगता है तो वहां भी कदम-कदम व हर पल का अनुभव जानना चाहता है और अपनी बुद्धि को सतर्क रखता है। अपने व्यक्तित्व या अहंकार से हटना नहीं चाहता है। अपना आकार अलग से बनाए रखना चाहता है, यही अहंकार की सूक्ष्म व्याख्या है। यह व्यक्तित्व उसे उस मण्डल की चेतना में समाने नहीं देता है। समाधिस्थ अवस्था में भी बुद्धि का प्रयोग करना चाहता है। अत: ऐसा अभ्यासी किसी भी मण्डल की चेतना के साथ पूरी तरह एकता स्थापित नहीं कर पाता है इसलिए उसके सामने किसी भी मण्डल का शब्द और प्रकाश खुलकर प्रकट नहीं हो पाते हैं। वह प्रकाश के मण्डल में जाकर भी बार-बार अंधकार का अनुभव बटोरता रहता है और एक ही मण्डल में बहुत लम्बे समय तक अटका हुआ संघर्ष करता रहता है। ऐसे अभ्यासी के लिए आज्ञा चक्र का ध्यान प्रकट करना ही कठिन हो जाता है। यदि कठोर साधना से प्रकट हो भी जाता है तो उसकी चेतना और ऊपर नहीं जा पाती है और सारा जीवन इसी अंधकार की वादी में बिता देता है क्योंकि जब तक शक्ति के पहले मण्डल के साथ पूर्ण एकता नहीं बनेगी तब तक ऊपर के मण्डल का रास्ता नहीं खुल सकता है। ऊपर के मण्डल का द्वार नीचे के मण्डल के हृदय से अर्थात् मध्य से खुलता है क्योंकि ऊपर वाले मण्डल की स्थिति पहले मण्डल की आन्तरिक तह में है। जबकि प्रेमी की अवस्था इसके विपरीत है। ज्ञानी पुरूष चाहते हुए भी अपने आपको अहंकार की कड़ी से अलग नहीं कर पाता है। अपने अस्तित्व को दूसरे अस्तित्व की चेतना में लीन नहीं कर पाता है। जब तक बुद्धि के अंदर विचार पैदा होता है या प्रकाश को देखता हुआ और शब्द को सुनता हुआ अपना व्यक्तित्व महसूस करता है तब तक अहंकार का भाव अंदर में सूक्ष्म रूप से मौजूद रहता है।

स्वयं को मालिक की सत्ता से अलग महसूस करना अहंकार

का सूक्ष्म अंग है। जब तक मनुष्य मालिक के साथ समाधिस्थ अवस्था में जाकर एकाकार नहीं होता तब तक अहंकार की समाप्ति नहीं है। प्रकाश के देखने और शब्द के सुनने से अहंकार समाप्त नहीं हो जाता है। हर मण्डल के स्वामी का अपना आकार अर्थात् अहंकार (अहम्+आकार) है। जहां तक साकार रचना का वजूद है वहां तक अहंकार की भी समाप्ति नहीं है। हुजूर सालिगराम जी महाराज ने सतलोक तक की रचना को साकार रचना कहा है। अत: भंवर गुफा तक अहंकार की समाप्ति नहीं है। सच्चखण्ड में जाकर आंखों की चेतना खिंच जाती है आंखों की पुतली उल्ट जाती हैं, साथ ही बुद्धि भी चेतना विहीन होकर निर्विचार हो जाती है, जुबान अंदर की तरफ खिंच जाती है, चेहरा भी अंदर की तरफ खिंचने लगता है। यह सब धीरे-धीरे एक प्रक्रिया के अधीन होता है जिसे अभ्यासी महसूस करता चलता है। यह पूरी प्रक्रिया कोई 2-4 मिनट में पूरी नहीं होती है, इसके लिए कम से कम 1-1½ घंटे के स्थिर ध्यान की आवश्यकता है। यह कोई स्वप्न की तरह नहीं है कि होश गुम हुआ और कह दिया कि आत्मा अनामी धाम में पहुंच गई। यह सारा अनुभव जीवित अनुभव है। इस अनुभव में शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा की चेतना सिमटकर सुरत चेतना में विलीन हो जाती है। इनके अंदर व्याप्त सारे संकल्प व विचार स्वयं ही गिर जाते हैं क्योंकि बुद्धि की सम्पूर्ण गति शिथिल हो जाती है, यह बेजान हो जाती है, तब जाकर होती है अहंकार की समाप्ति।

अत: ज्ञानी पुरूष के अंदर कभी भी अहंकार की समाप्ति नहीं हो पाती है। वह विराट पुरूष के अहंकार में ही विलीन नहीं हो पाता है, फिर ओंकार, रारंग व सोहम् पुरूष के अहंकार का पसारा तो बहुत विस्तृत है। ज्ञानी के लिए पहले प्रकाश के मण्डल तक पहुंच पाना ही कठिन है। इसका कारण यह है कि वह शब्द की धार के साथ एकमएक नहीं हो पाता है। वह सतगुरू को बुद्धि की तराजू पर रखकर तोलता

रहता है। उनके गुण-दोष पर दृष्टि रखता है। ऐसा मनुष्य प्रेम की धार से वंचित रह जाता है। प्रेम की धार हृदय से निकलकर ऊपर की तरफ जाती है और शब्द की धार ऊपर से नीचे की तरफ बहती है। ज्ञानी पुरूष शब्द की धार को पकड़ता है जो बुद्धि को चेतन करती हुई नीचे इन्द्रियों में फैल जाती है। बिना प्रेम के शब्द की धार को पकड़ना जोखिम भरा काम भी हो सकता है क्योंकि शब्द की धार सुरत को बार-बार नीचे की तरफ फैंकती रहती है जिससे हमारी इन्द्रियों के पुराने संस्कार जाग जाते हैं और अभ्यास में विघ्न डालते हैं लेकिन यदि प्रेम की शक्ति साथ है तो सुरत लगातार शब्द-धुन को पकड़कर ऊपर चढ़ती रहती है। इसका खुलासा हुजूर सालिगराम जी महाराज ''जुगत प्रकाश राधास्वामी'' के वचन 110-125 में इस प्रकार करते हैं :

''भजन के अभ्यास में (अर्थात् शब्द के सुनने में) मन और सुरत को शब्द की धार के आसरे जो ऊपर से नीचे को आती है, चढ़ाना पड़ता है और इस सबब से जब कोई तरंग उठती है और उस का रूख नीचे की तरफ को है, तो शब्द की धार जबर तरंग के साथ मन और सुरत को नीचे की तरफ रूजू होने में मदद देती है और इस सबब से अभ्यासी को अपनी सम्हाल रखना कठिन हो जाता है।

लेकिन ध्यान के अभ्यास में (अर्थात् गुरू स्वरूप यानी प्रकाश के देखने में) जिस कदर कि शौक और प्रेम है, उसी मुवाफिक मन और सुरत की धार हिरदे के मुकाम से उठकर अपने प्रीतम से मिलने के लिए ऊपर को चढ़ती है। इस हालत में दूसरी किश्म की तरंग का पैदा होना और नीचे की तरफ को उसका झुकाव बन नहीं सकता, जब तक कि अभ्यासी आप ही ध्यान को छोड़कर दूसरा ख्याल न उठावें।

खुलासा यह है कि भजन के समय जो कोई जबर ख्वाहिश मन में धरी हुई है, उसको शब्द की धार जगा देती है और ध्यान के समय शौक और प्रेम की धार जो अभ्यासी के हिरदे से उठती है, वह और

ख्वाहिशों की तरंग को नहीं उठने देती यानी दबाए और सुलाए रखती है और जिस कदर कि प्रेम ज्यादा होगा, उसी कदर और तरंगें जईफ और कमजोर होती जावेंगी।

मतलब यह है कि ध्यान में अभ्यासी बगैर मुकाबला विरोधी ख्वाहिशों के, कर सकता है और भजन में विरोधी ख्वाहिशें जल्द जाग उठती हैं और ताकत पैदा करके अभ्यासी के मन और सुरत की धार को जल्द नीचे की तरफ गिरा देती हैं। सबब इसका यह है कि शब्द ज्यादा सफाई चाहता है और जब तक कि अभ्यासी के मन और सुरत में भोगों की मलीनता धरी हुई है। वह उसको फौरन प्रकट करके मन और सुरत की मलिन धार को नीचे गिरा देता है यानी अपने सन्मुख से हटा देता है। भजन में शब्द की धार को पकड़कर शब्दी की तरफ चलना बगैर सफाई और गहरे प्रेम के मुश्किल है।

इस वचन से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि भजन करना मना है या ओछा काम है, बल्कि उसको दुरस्ती से करने के वास्ते मन में सफाई और प्रेम पैदा करना चाहिए। इस कदर समझ इस वचन से लेनी चाहिए कि जब कभी भजन में नापाक गुनावन और बुरे ख्याल या अपवित्र और पाप की भरी हुई तरंगें बारम्बार उठें तो ऐसी हालत में भजन कम कर देना चाहिए और बजाय उसके ध्यान का अभ्यास ज्यादा करना चाहिए। जब मन सफाई और प्रेम के साथ कार्रवाई करने लगे, तब भजन का वक्त जिस कदर मुनासिब हो, बढ़ा दिया जावे।''

इन बचनों से स्पष्ट है कि यदि अभ्यासी के अंदर प्रेम मजबूत नहीं है तो उसके मन व सुरत बार-बार नीचे गिरते रहेंगे और अन्दर की कमियां व विकार प्रकट होने लगेंगे जिससे बिना सतगुरू की मदद वह पथ भ्रष्ट भी हो सकता है। प्रेमी और ज्ञानी पुरूष में यही भेद होता है कि प्रेमी मनुष्य हृदय की धार को पकड़कर चलता है जबकि ज्ञानी बुद्धि के तर्क-वितर्क पर अधिक ध्यान देता है और बुद्धि के अन्दर से

नीचे की तरफ आती हुई शब्द धार को पकड़कर चलता है। यह शब्द धार ऊपर के मण्डलों में से होती हुई व रचना करती हुई नीचे तक आती है। वचन में कहा गया है कि शब्द की धार को पकड़कर शब्दी की तरफ चलना बगैर सफाई और गहरे प्रेम के मुश्किल है। अत: ज्ञानी पुरूष ऊपर की तरफ चढ़ने वाली प्रेम धार जो हृदय से निकलती है उसमें शामिल नहीं हो पाता है, यदि थोड़ा प्रेम जगाकर उसमें सम्मिलित हो भी जाता है तो जब वह धार एकता में आकर ऊपर की तरफ बहने लगती है और प्रकाश रूप में आने लगती है तो उसी समय वह तर्क और बुद्धि से उसके गुण व दोष की परीक्षा में लग जाता है तथा वहीं पर अटक जाता है। इसके विपरीत प्रेमी उस एकता की धार में समाता चला जाता है। बुद्धि से जिस चेतन धार का उदय होता है वह नीचे की तरफ इन्द्रियों में से होकर गुजरती है और हृदय से जो धार निकलती है वह मेरूदण्ड के साथ होकर सुषुम्ना नदी में मिलकर ऊपर की तरफ जाती है। बुद्धि से तर्क शक्ति का जन्म होता है और जिस इन्द्रि के साथ योग बनता है वह धार उसी इन्द्रि की तरफ बहने लग जाती है। मस्तिष्क के अन्दर सभी इन्द्रियों से संबंधित केन्द्र होते हैं। अत: जब भी अभ्यास में मस्तिष्क के अन्दर ताकत का शक्तिपात होता है तभी ये सभी इन्द्रियों के केन्द्र भी जागृत होते हैं जिनसे इनके पुराने संस्कार जागृत हो सकते हैं।

ज्ञान मार्ग के विपरीत भक्ति मार्ग पूरी तरह अपने आपको भी भूल जाने का मार्ग है। एक भक्त की अपनी कोई इच्छा नहीं होती है। वह अपने आपको अपने इष्ट या सतगुरू की चेतना के अन्दर डुबो देना चाहता है। वह गुरू से न तो मुक्ति मांगता है और न ही शक्ति मांगता है। सतगुरू से सतगुरू की भक्ति और सेवा मांगता है। सतगुरू की धार के अन्दर अपने आपको पूरी तरह मिला देता है जहां पर सतगुरू-सतगुरू नहीं रहता और शिष्य-2 नहीं रहता है। शिष्य सतगुरू में समा जाता है सतगुरू शिष्य का रूप बन जाता है । इसलिए कबीर साहब कहते हैं कि

''प्रेम गली अति सांकरी तां में दो ना समाय''।

राधास्वामी योग प्रेम का मार्ग है। प्रेम मार्ग में कर्म योग व ज्ञान योग अपने आप ही पूर्ण हो जाते हैं। यह योग भक्ति योग से आरम्भ होता है और भक्ति में ही समा जाता है। इसमें ज्ञान व कर्म योग स्वत: ही पूर्णता को प्राप्त कर जाते हैं क्योंकि इस मार्ग में ध्यान व भजन की महिमा सबसे अधिक रखी गई है। ध्यान-अभ्यास के द्वारा आन्तरिक ज्ञान और सृष्टि का ज्ञान खुलता जाता है जिससे ज्ञान योग आप ही पूर्ण हो जाता है तथा जब ज्ञान पूर्ण हो जाता है तो हर कर्म के अन्दर परम् सत्ता की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होने लगती है। सभी कर्म और उनके फल सतगुरू रूपी यज्ञ में स्वयं ही समर्पित होते जाते हैं। कण-2 में एक ही आत्मा के दर्शन व अनुभव होना ज्ञान की उच्चतम निष्ठा है। सारी सृष्टि परमात्मा का कर्म है। आत्मिक ज्ञान की स्थूल रूप में अभिव्यक्ति ही कर्म है, यही विज्ञान का प्रकटीकरण है। ज्ञान का क्रियात्मक स्तर पर उतार ही विज्ञान है। इसी कर्म व विज्ञान की भूमि पर परमात्मा क्षर पुरूष बनकर सारी रचना के कार्य को संभाल रहा है, विश्वकर्मा बनकर इसे तराश रहा है। आज्ञा चक्र पर जाकर जब क्षर पुरूष का साक्षात्कार हो जाता है तो कर्मों का स्वामी प्रकट हो जाता है और कर्म योग पूर्ण हो जाता है। इसके बाद सभी कर्म आहुति बनकर आज्ञा चक्र पर विद्यमान कर्मों के स्वामी के यज्ञ में अपने आप ही भेंट चढ़ते रहते हैं। यह सारी सृष्टि परम् पुरूष का यज्ञ है जिसका हर कर्म उस यज्ञ की आहुति है। इसलिए यदि मनुष्य ज्ञान द्वारा अपना हर कर्म व उसका फल इस यज्ञ की भेंट करता रहता है तो वह परम्-पुरूष की शरण में रहता हुआ मुक्ति का अधिकारी बनता है और यदि अज्ञानवश समस्त कर्मों को मानवकृत मानता है तो वह अंधकार व दु:खों का भागी बनता है। ऐसे मनुष्य के ज्ञान को योगमाया हर लेती है और वह असहाय होकर प्रकृति के गुणों के अधीन होकर कालचक्र की धार में बहता चला जाता है।

यद्यपि उसका भी हर कर्म परमात्मा की इच्छा के अनुसार ही होता है क्योंकि वह भी पुरूष की त्रयगुणात्मक प्रकृति के अधीन ही कार्य करता है। यह त्रयगुणात्मक प्रकृति ही ब्रह्म की शक्ति बनकर कार्य करती है और ईश्वर की इच्छा की पूर्ति करती है, लेकिन अज्ञानी मनुष्य को इसका ज्ञान नहीं होता है। वह हर कार्य को स्वयंकृत मानता है जिसके कारण उसे नर्क के भोग भोगने पड़ते हैं। श्री कृष्ण गीता में अर्जुन को कहते हैं कि यह युद्ध अवश्य होना है, पहले ही हो चुका है, इसका परिणाम भी अवगत है, इसलिए हे अर्जुन! तू कर्म करता जा, इसके फल को विद्याता की इच्छा पर छोड़ दे। इस युद्ध के सभी पात्रों का चुनाव किया जा चुका है। तू यह ज्ञान लेकर यह युद्ध लड़। तू मुक्ति का अधिकारी बनेगा। दुर्योधन आदि सभी योद्धा अज्ञानवश होकर इस युद्ध में भाग लेंगे। वे सब नहीं जानते कि यह युद्ध विधि के विधान के अनुसार ही लड़ा जा रहा है, वे इसे स्वंयकृत मानते हैं, इसलिए ये सब नर्क के अधिकारी बनेंगे।

अत: सारी सृष्टि को परमात्मा की कृति मानकर इसमें कार्यरत रहना और फल की इच्छा न करना ही ज्ञान है और इससे अनभिज्ञ रहना अज्ञान है। हमारे सभी कर्म और उनके फल हमारी प्रारब्ध के अनुसार पूर्व निश्चित हैं। जब ऐसा ज्ञान व्यवहार में उतर जाता है तो मनुष्य को शान्ति आती चली जाती है और वह मनुष्य ज्ञानी कहलाता है। ऐसा ज्ञान होने पर मनुष्य को हर कर्म के अन्दर वही कर्म पुरूष बैठा हुआ नजर आता है। सुरत-शब्द योग में जब अभ्यासी का नूर खुलता है तो वह प्रकाश में खेलता है। उसे अनुभव होने लगता है कि यह सारी सृष्टि इसी नूर की अभिव्यक्ति है। उसे कण-कण में सतगुरू ही सतगुरू नजर आने लगते हैं। वह सतगुरू के अन्दर इतना समा जाता है कि उसकी हर सांस सतगुरू के ख्याल व स्मरण को उजागर करती है और सतगुरू रूपी यज्ञ में भेंट चढ़ती रहती है। उठते-बैठते, सोते-जागते वह उसी धार

में समाया रहता है। अत: उसका कोई भी कर्म सतगुरू विहीन नहीं होता है, उसके हर कर्म पर सतगुरू की स्वीकृति की मोहर लगी होती है जिससे उसका कर्म योग और ज्ञान योग स्वयं ही पूर्ण हो जाता है।

श्रीमद्भगद् गीता में कहा गया है कि जब अर्जुन श्री कृष्ण के विराट स्वरूप के दर्शन करता है तो उसे कण-कण में वासुदेव ही वासुदेव नजर आने लगते हैं। सुरत-शब्द योग में अभ्यासी जब सहस्रार के मण्डल पर विराजमान पुरूष ज्योत-निंरजन के दर्शन कर लेता है तो उसे इस विराट जगत के आदि पुरूष का ज्ञान व अनुभव हो जाता है। उसे इस ब्रह्माण्ड के कतरे-कतरे में सतगुरू का यही स्वरूप अनुभव होने लगता है और सतगुरू के प्रति उसकी भक्ति दृढ़ होती चली जाती है तथा वह सतगुरू के स्थूल रूप की भी बहुत इज्जत करने लग जाता है। यही गीता में भी कहा गया है कि जब अर्जुन को श्री कृष्ण के इस स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो श्री कृष्ण के प्रति उसकी दृष्टि ही बदल जाती है। जिस कृष्ण को वह अब तक सखा मानता था, मित्र कहता था, उसे मनुष्य जानता था, उसके साथ एक ही चारपाई पर बैठ कर खाना खाता था अब वही कृष्ण उसके लिए पूज्य हो जाते हैं और उनके चरणों में गिरकर अपनी गल्तियों के लिए क्षमा याचना करता है। यहां से अर्जुन का भक्ति योग आरम्भ होता है। श्री कृष्ण कहते हैं कि उनके पुरूषोतम स्वरूप की प्राप्ति केवल भक्ति से हो सकती है। इस स्वरूप के दर्शन केवल अनन्य भक्त ही कर सकते हैं। यही भक्ति की पूर्णता है। कर्म, ज्ञान व प्रेम योग का यही वर्णन श्री अरविन्द ने अपनी पुस्तक 'गीता पर प्रस्ताव' (Essays on the Gita) में किया है। उन्होंने भी प्रेम को ज्ञान व कर्म का सिरमौर अर्थात् चोटी कहा है। राधास्वामी योग में भक्त सतगुरू स्वरूप में विलीन होता हुआ चेतना के अनेकों मण्डल पार करता जाता है और सच्चखण्ड में जाकर निज धाम में विश्राम पाता है। इसका वर्णन अनेक स्थानों पर कर दिया गया है। अत: राधास्वामी

योग में सभी योग सुगमता से पूर्ण हो जाते हैं। रास्ते का अंधकार प्रेम की शक्ति के प्रकाश के आगे झुकता चला जाता है।

जो मनुष्य ज्ञान मार्ग पर आरूढ़ हैं वे प्राय: एक प्रश्न किया करते हैं कि प्रेमी पुरूष को कोई भी अधूरा गुरू धोखा दे सकता है क्योंकि प्रेमी के पास वह बुद्धि नहीं होती है जो गुरू की पहचान कर सके। प्रेमी के अच्छे-बुरे की पहचान स्वयं परमात्मा करता है क्योंकि प्रेम ही परमात्मा है। स्वामी विवेकानन्द ने प्रेम को परमात्मा का दूसरा नाम कहा है। दूसरा, जब मनुष्य पूर्ण गुरू के सत्संग में जाता है तो वह साक्षात सतगुरू की धार को अपने अन्दर महसूस करता है। ज्ञानी मनुष्य इस अनुभव से वंचित रह जाता है। वह तर्क-शक्ति के द्वारा गुरू की पहचान करता है, परन्तु पूर्ण गुरू तो तर्क-वितर्क से परे का अनुभव है। वहां तक का परीक्षण व पहुंच तर्क और बुद्धि के वश की बात नहीं है। इसके विपरीत प्रेमी यदि सत्य का सच्चा खोजी है तो वह तुरंत पूर्ण गुरू की धार को पहचान जाता है। उसी समय गुरू के समक्ष ही उनकी ताकत का अपने अन्दर उतार अनुभव करने लगता है और उसकी आत्मा चढ़ाई आरम्भ कर देती है। तीसरी बात यह है कि सच्चा व पूर्ण सतगुरू अन्दर का भेद खोलता है, अनुभव की बातें बताता है, आप-बीती वर्णन करता है। वह पुस्तक ज्ञान या सुनी हुई बातों का मोहताज नहीं है। अपने सत्संग में अभ्यास की मंजिलों की बातें करता है। दस प्रकार के शब्दों का भेदी है, 52 अक्षर और 72 नालों का भेद देता है। ऐसे सतगुरू की रहणी एक मिशाल होती है। वह ध्यान-भजन को पूरा समय देता है। उसका खाना और सोना नाममात्र का रह जाता है। स्थूल खाना उसकी जरूरत नहीं है। उसकी खुराक बहुत ही कम होती है। जब वह सत्संग करता है तो उसकी वाणी अन्दर में जाकर करंट पैदा करती है और आत्मा की धार को ऊपर की तरफ खींचती है। सभी संशय दूर होते जाते हैं। मनुष्य गुरू के साथ जुड़ता चला जाता है। वहां दो का

भाव यानी द्वैतवाद मिटता चला जाता है तथा साधक अभ्यास के मार्ग में दिनों-दिन उन्नति करने लगता है। इतना होने के बाद भी ज्ञानी पुरूष पूर्ण गुरू की प्राप्ति से वंचित रह सकता है, प्रेमी नहीं। प्रेमी हृदय से सतगुरू की जांच करता है और जब उसके सारे संशय मिट जाते हैं तो वह अपने आप पूर्णतया उनके समर्पित हो जाता है। उसके मन में कोई भ्रम नहीं रहता है जिसके कारण उसके अभ्यास के सारे विघ्न दूर हो जाते हैं क्योंकि संशय ही अभ्यास का सबसे बड़ा विघ्न है जो प्रेमी के प्रेम की हद से बाहर ही रहता है। दूसरी तरफ ज्ञानी मनुष्य अपने दिमाग में पुस्तक ज्ञान के आधार पर अच्छे गुरू के लक्षण निर्धारित कर लेता है, यदि कोई गुरू उसके बनाए हुए सांचे के अन्दर फिट बैठ जाता है तो वह पूर्ण है नहीं तो अधूरा है। पूर्ण गुरू अक्सर बच्चों जैसा व्यवहार कर दिया करते हैं। वे साधारण मनुष्यों में जाकर साधारण बन जाते हैं, बच्चों के साथ बच्चे बन जाते हैं और बूढों के साथ बूढ़े। जिस गुरू के पास सच्चे ज्ञान की दौलत है वह दिखावा नहीं करते हैं। अपने शिष्यों को अनावश्यक गंभीरता का परिचय नहीं देते हैं, किसी चमत्कार या रिद्धि-सिद्धि का प्रदर्शन नहीं करते हैं। ऐसे कार्य वे अधूरे गुरू करते हैं जो दूसरों की नजरों में महात्मा बनकर रहना चाहते हैं। अपनी रोजी-रोटी का ख्याल रखते हैं। पूर्ण गुरू को परमात्मा की शक्ति पर विश्वास होता है। उस की आध्यात्मिक कमाई इतनी अधिक होती है कि रोजी-रोटी के लिए उसे किसी का मोहताज नहीं होना पड़ता है। राधास्वामी दयाल परम्संत ताराचन्द जी महाराज प्राय: कहते थे कि जो गुरू दो वक्त की रोटी नहीं दे सकते, उसके लिए चंदा इकट्ठा करते फिरते हैं, वो मुक्ति कैसे दे सकते हैं। मुक्ति तो बहुत ऊंची दौलत है। मुक्ति प्राप्त होने के बाद तो सारे संसार की दौलत उनके चरणों की भिखारी बन जाती है। वे कहते हैं :

मुक्ति मुक्ति है नहीं मुक्ति खांडे की धार।
जो तू चाहे मुक्ति तो कर सतगुरू से प्यार।।

साधारण मनुष्य मुक्ति प्राप्त करने के लिए भक्ति आरम्भ नहीं करता है। यह तो उसकी आत्मा की आवश्यकता है, मुक्त होना उसका स्वभाव है। हर व्यक्ति बंधनों से मुक्त होना चाहता है, दु:खों से दूर जाना चाहता है। सुख की तलाश में जंगलों में भटकता फिरता है। यही तलाश उसे मुक्ति यानी पूर्ण सतगुरू की शरण में खींचकर ले जाती है और उसकी आत्मा अपने स्वभाव के अनुसार अपने आदि स्वरूप की प्राप्ति की तरफ अग्रसर हो जाती है। जब वह अपने आदि स्वरूप में समा जाती है तो रचना का कर्ता बन जाती है। स्वामी की शक्ति बनकर निज धाम में जाकर समा जाती है। यही आत्मा की मुक्ति है। हर आत्मा इस स्वरूप की प्राप्ति करना चाहती है, हमें इस बात का ज्ञान हो या न हो। लेकिन गहराई में जाकर सोचा जाए तो यही सत्य है। हर व्यक्ति कार्य करता हुआ हर रोज अपने स्थायी विश्राम स्थल या घर पर जाना चाहता है जहां उसे शान्ति मिलती है, शक्ति मिलती है, उसकी थकान मिटती है और नित नयी ताजगी का संचार होता है। यही कारण है कि दिन भर कार्य करने के पश्चात् आत्मा विश्राम करने के लिए सुषुप्ति अवस्था में जाती है जहां ताजगी और शक्ति का भण्डार है। अत: हर व्यक्ति अनायास ही ज्ञान या अज्ञानवश होकर योग का अनुसरण करता रहता है। वह देर सवेर हृदय सागर की गहराईयों पर आवृत चैतन्य पुरूष को छूकर सुख व आनन्द की अनुभूति करता रहता है। सुषुप्ति में जाकर शारीरिक व मानसिक चेतना को नित नयी ताजगी प्रदान करता रहता है। सुषुप्ति के अंधकार में जाए बिना जागृति के विकास की कहानी नहीं लिखी जा सकती है।

अत: प्रेमी व्यक्ति इसी प्रकार पूर्ण सतगुरू की शरण में जाकर नित नई ताजगी प्रदान करने वाले सुख और आनन्द के भण्डार की तरफ स्वाभाविक तौर पर खिंचता चला जाता है लेकिन ज्ञानी पुरूष अपने दिमाग में बनाई गई पूर्ण सतगुरू की तस्वीर को लेकर उनके

परिक्षण में लगा रहता है। धीरे-2 वह विरह और अनुराग जो आरम्भ में था वह समाप्त होने लगता है और ऐसा मनुष्य जीवन के सत्य की खोज से वंचित रह जाता है। परमात्मा की खोज करने का जो आरम्भिक उत्साह और विरह उठता है वह अन्दर की मंजिलों को खोलने में अभ्यासी की बहुत मदद करता है। प्रेमी मनुष्य इस अवस्था का तुरंत लाभ उठा जाता है, लेकिन ज्ञानी उस शिक्षण-परीक्षण में रह जाता है और कीमती समय को बरबाद कर देता है। फिर भी यदि ज्ञानी मनुष्य पूर्ण सतगुरू को ढूंढ़ लेता है तो उसके संशय कभी भी उभर सकते हैं जो उच्च कोटी के अभ्यास को भी पल में धूल में मिला देते हैं। इतना अवश्य है कि यदि ऐसे अभ्यासी के अन्दर अभ्यास करते-2 प्रेम अंग मजबूत हो जाता है और वह सतगुरू को सार तत्त्व से जान लेता है तो ऐसा अभ्यासी धीरे-2 उच्चतम दर्जे का महात्मा बनता है। प्रेमी के अन्दर संशय का आना संभव हो सकता है लेकिन ऐसे ज्ञानयुक्त व विवेकयुक्त प्रेमी का रास्ते से विचलित होना संभव नहीं हो सकता है। वह नि:संदेह परम् गति को प्राप्त करता है। अत: सुरत-शब्द योग में यह हिदायत दी जाती है कि मनुष्य को पहले ही सतगुरू के सत्संग में जाकर या उनसे बातचीत करके अपने सभी संशय दूर कर लेने चाहिए तभी नाम दीक्षा लेने का लाभ मिल सकता है। पूर्ण सतगुरू का सत्संग भी पूर्ण होता है इसलिए वह सत्संग कराते समय ही संगत में विद्यमान लोगों की जरूरत के अनुसार सभी प्रश्नों के उत्तर स्वयं ही दे देते हैं।

प्रश्न था कि प्राय: ज्ञानी पुरूष कहते हैं कि प्रेमी जन को भावनावश अधूरा गुरू मिल सकता है और उसे धोखा दे सकता है। प्रकृति का यह नियम है कि समान गुण वाली वस्तु, चाहे वह छोटे से छोटा कण हो या बड़े से बड़ा अस्तित्व, आपस में एक दूसरे को अपनी तरफ खींचती हैं। सालोक व साधर्म का यह नियम हर जगह काम करता है, इससे बचा नहीं जा सकता है। अत: यह निश्चित है कि अधूरा

गुरू अधूरे शिष्य को ही खींचता है। पूर्ण शिष्य देर सवेर जब संस्कार जागृत होते हैं तो पूर्ण गुरू की तरफ स्वयं ही खिंच जाता है। इसके लिए कोई विशेष प्रयत्न कार्य नहीं करता है। पूर्ण शिष्य की संभाल करना अधूरे गुरू के वश की बात नहीं है। फिर भी यदि यह मान लिया जाए कि प्रेमी शिष्य को अधूरा गुरू मिल सकता है तो वह प्रेमी उसे पूर्ण मानकर ही उसकी आराधाना करता है। उसकी वृति पूर्ण के साथ ही जुड़ी रहती है। ऐसे समय में अधूरा गुरू यदि शिष्य को धोखा देता है तो पूर्ण गुरू के स्वरूप को प्रेमी के अखण्ड विश्वास के कारण उसकी रक्षा करनी ही पड़ती है। पूरा शिष्य अपने विश्वास के कारण अधूरे गुरू को भी पूर्ण बना सकता है और उसके अन्दर पूर्ण की सत्ता को खींच कर ला सकता है। प्रेमी का प्रेम एक ऐसी शक्ति है जो परमात्मा को भी झुका सकती है। कहा भी गया है कि भगवान भक्त के वश में होते हैं। अत: पूर्ण शिष्य के कारण कभी-2 अधूरे गुरू को भी परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं और गुरू भी भवसागर के पार हो जाता है।

इसके अतिरिक्त पूर्ण गुरू की पहचान करना किसी भी शिष्य के वश की बात नहीं है। पूर्ण की पहचान तो पूर्ण ही कर सकता है, अधूरा नहीं। हीरे की पहचान केवल जोहरी ही कर सकता है। फिर भी जहां मन गवाही दे, शिष्य को वहीं गुरू धारण कर लेना चाहिए तथा अपना कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। बाकि का काम परमात्मा पर छोड़ देना चाहिए क्योंकि इस रास्ते के ग्राहक वही होते हैं जो स्वयं को लुटा देने के लिए तत्पर रहते हैं। जो स्वयं को जितना बचाने की कोशिश करता है वह रहस्य से उतना ही वंचित रह जाता है। यदि अधूरा गुरू मिला है तो प्रकृति के नियम के अनुसार उसकी पहुंच पूरे गुरू तक अवश्य ही हो जाएगी।

ज्ञानी अक्सर एक सवाल और भी उठाता है कि आध्यात्मिक मार्ग पर सचेत होकर चलना चाहिए क्योंकि इसमें विरोधी ताकतें रास्ते

में आती हैं और साधक को नुकसान पहुंचा सकती हैं। प्रेमी कहता है कि काल और विरोधी ताकतों का इस रास्ते में कोई अस्तित्व ही नहीं है। सब कुछ सतगुरू ही सतगुरू है। यह बात दोनों की मनोदशा को दर्शाती है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानी विभाजित होता है और प्रेमी हमेशा सतगुरू की एकता की धार में समाया रहता है। उसे हर चीज व अनुभव के अन्दर सतगुरू की मौज नजर आती है। यदि रास्ते में कोई कठिनाई आती भी है तो वह इसे सतगुरू की मौज समझकर स्वीकार कर लेता है। सतगुरू की ताकत के समीप काल और माया की विरोधी ताकतें नहीं आ सकती हैं। अत: प्रेमी के लिए इनका कोई अस्तित्व नहीं है। प्रेमी के लिए वह अपमान भी धन्य है जो उसके अन्दर मालिक के प्रति प्रेम या दीनता का भाव पैदा करता है और उसकी तरफ झुकाता है।ज्ञानी ऐसे किसी भी अनुभव को विरोधी ताकत का कार्य कह कर पुकारता है। ऐसे मनुष्य के दिल में हमेशा विरोधी ताकतों का ख्याल बना रहता है। उसका यही ख्याल अभ्यास में विरोधी ताकतें लाकर खड़ा कर देता है। ऐसे संघर्षशील अभ्यास में वह थोड़ी सी उन्नति को भी विशेष उपलब्धि मान बैठता है। वह सोचने लगता है कि वह एक विशेष ताकत बनकर उभर रहा है। यही अहंकार उसे धीरे-2 खा जाता है और उसका रास्ता पहले ही मण्डल के शब्द की लय अवस्था में जाकर गुम हो जाता है। यदि एक लय अवस्था से विरह और प्रेम प्रकट करके उभरता भी है तो दूसरे मण्डल के अंधकार की शून्यवस्था में जा गिरता है जो दूसरे मण्डल के अंधकार की लय अवस्था है और वह इसी लय अवस्था को उच्चतम समाधि की अवस्था मानकर हमेशा के लिए संतुष्ट हो जाता है। ऐसी शिथिलता आने के बाद उसके अन्दर आगे बढ़ने वाली ताकत ठण्डी व सुस्त पड़ जाती है। विरह और प्रेम की धार टूट जाती है तथा रास्ता सदा के लिए अवरूद्ध हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेमी के अन्दर अहंकार नहीं होता है। यह पहले भी लिखा जा चुका है

कि भंवर गुफा तक अहंकार सूक्ष्म रूप से बना रहता है, लेकिन प्रेमी अभ्यासी का अहंकार भी उसके सतगुरू के समर्पित होता है। वह अहंकार में रहने के बाद भी सतगुरू के चरणों में प्रार्थना करता है, उसमें सतगुरू के प्रति दीनता और प्रेम का भाव बना रहता है जो उसे अहंकार की हानि से बचा कर रखता है और उसे रास्ते की रूकावट नहीं बनने देता है। यदि सतगुरू के चरणों में प्रेम व विरह नहीं रहता है और अहंकार बना रहता है तो ऐसा प्रेमी भी अंधकार की गलियों में टक्कर खाता रहता है।

उपरोलिखित व्याख्या का अभिप्राय यह नहीं है कि आध्यात्मिक रास्ते में कोई विरोधी ताकत, काल या माया का कोई अस्तित्व ही नहीं है। आज्ञा चक्र और सहस्रार के मण्डलों से पहले और बाद में विरोधी ताकतों का जमघट है। जहां भी अंधकार के मण्डल व्याप्त हैं यानी अंधकार में जाकर शून्य की लय अवस्था है वहीं पर काली ताकतों का अस्तित्व भी है। यही काली ताकतें अभ्यासी की कमजोरियों पर चोट मारती हैं, उन्हें उजागर करती हैं जो साधक की आत्म शुद्धि और समर्पण के लिए आवश्यक भी है। इनकी वजह से अभ्यास में निखार आता है लेकिन प्रेमी के प्यार में इतनी ताकत होती है कि वह किसी समय विभाजित नहीं होता है। विरोधी ताकतें उसी समय तक कार्य करती हैं जब तक वे साधक को गुरू की धार से विभाजित पाती हैं, उसे कमजोर पाती हैं। परन्तु प्रेमी हर समय सतगुरू की धार में समाया रहता है, उसका समर्पण हर समय अखण्डित रहता है, वह प्रेम और विरह का अभेद्य कवच हमेशा पहने रहता है जिसके कारण विरोधी ताकतें बेअसर हो जाती हैं, उन्हें कार्य करने के लिए कोई जगह नहीं मिलती है। जब अभ्यासी के अन्दर सतगुरू के प्रति अभाव पैदा हो जाता है तभी वह काल व माया का खाजा बन सकता है। प्रेमी कहता है कि दुनियां की कोई ताकत ऐसी नहीं है जो उसका रास्ता रोक सके। काल या माया सतगुरू की धार से ही प्रकट होते हैं, एक मायने में वे सतपुरूष के नौकर

हैं, दरबारी हैं, जो सतगुरू की आज्ञा के बिना उसके अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते हैं। वह कहता है कि सतगुरू मेरे अंग-संग हैं। इतना भारी विश्वास होने पर प्रेमी से काल और महाकाल भी हार मान जाते हैं।

काल और माया का खाजा बनने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं। सबसे पहले साधक के समर्पण में कमी आ जाती है। यह कमी सतगुरू या इष्ट में प्रेम की कमी के कारण पैदा होती है। सतगुरू में अभाव पैदा होते ही अभ्यासी का मन किसी बाहरी वस्तु, रिद्धि-सिद्धि या लालच की तरफ खिंच जाता है तो वह गुरू की धार से विभाजित होकर अलग हो जाता है। उस समय विरोधी ताकतों को कार्य करने का मौका मिल जाता है।

दूसरा जब साधक के अन्दर यह धारणा घर कर जाती है कि उसके चारों तरफ हर समय विरोधी ताकतें मौजूद रहती हैं तो वह अपनी इसी कमजोरी के कारण किसी बाहरी या तीसरी ताकत के साथ मेल करने के साधन पैदा कर देता है और उसका ख्याल व विश्वास परमात्मा या सतगुरू से हटकर किसी अन्य जगह स्थित हो जाता है। यह सत्य है कि केन्द्र में वह परमात्मा का ही विचार रखता है लेकिन उसका विश्वास खण्डित हो जाता है तथा उसी का ख्याल बार-बार उसके सामने उभर कर विरोधी ताकत बनकर सामने प्रकट होने लगता है। वह खुद ही अपना दुश्मन बन जाता है। यही कारण है कि ज्ञानी पुरूष के अन्दर प्रकाश व शब्द का स्रोत खुलने के बाद भी वह अनेकों बार अंधकार में जाता रहता है और वह इसका कारण विरोधी ताकतों को मानकर संघर्ष करता रहता है। वही रूकी हुई प्रकाश व ध्यान की अवस्था दुबारा प्रकट होने में बहुत समय ले लेती है। इसके विपरीत प्रेमी के रास्ते में अंधकार की अवस्था कम प्रकट होती है और यदि आती भी है तो उसके विरह व प्रेम की धार और नाम का स्मरण तुरंत इस रूकावट को दूर कर देता है। ऐसा अभ्यासी सतगुरू के नूरी स्वरूप से दूरी सहन नहीं कर

पाता है। विरह और वियोग की अग्नि से उसका शरीर व मन तपने लगते हैं। इस गर्मी की भट्टी में जलकर अंधकार अपना रास्ता खोल देता है। इस अंधकार की जिम्मेदारी प्रेमी किसी विरोधी ताकत को नहीं देता है, बल्कि वह अपने अन्दर की कमियों को इसका कारण मानता है और पवित्र विचार तथा सतगुरू प्रेम की मजबूती करके आगे बढ़ने का रास्ता निकाल लेता है। इस प्रकार उसकी आत्मशुद्धि और रूपान्तरण का कार्य स्वयं ही आगे बढ़ता जाता है। आत्मा की बढ़ती हुई ताकत इस कार्य को और भी आसान बना देती है। यह दूसरा कारण भी सतगुरू में अभाव पैदा होने पर ही विघ्न पैदा करता है जिससे अभ्यासी के अन्दर विरोधी ताकतों का ख्याल घर करने लगता है। जब सतगुरू में प्रेम बढ़ जाता है तो विरोधी ताकतें भी दूर हट जाती हैं।

इसका तीसरा कारण यह है कि साधक के अन्दर त्रुटीपूर्ण खान-पान व रहन-सहन की वजह से विकार पैदा हो जाते हैं। मन में एक विकार के पैदा होते ही दूसरे विकार भी आने लगते हैं और इस तरह बुरे विचारों की धार साधक के अन्दर हलचल पैदा करने लगती है और वह काल और माया का शिकार बन जाता है। बल्कि दूसरे अर्थों में कहा जा सकता है कि ये बुरे या काले विचार ही अभ्यास या जीवन में विरोधी शक्तियां बनकर प्रकट हो जाते हैं। दिव्य और सकारात्मक मन के अन्दर हमेशा दिव्य शक्तियां ही प्रकट होती हैं। नकारात्मक व्यक्ति स्वयं ही अपने लिए कांटों की सेज निर्मित कर लेता है और जीवन भर के लिए दु:ख खरीद लेता है।

उपरोलिखित तीनों बातें तभी पैदा होती हैं जब हम सतगुरू या परमात्मा से विभाजित होते हैं और किसी दूसरी जगह अपने चित्त की वृति को लगाते हैं। श्री अरविन्द भी यही कहते हैं। ज्ञान मार्ग में ये तीनों बातें अधिकता या न्यूनता के साथ हमेशा विद्यमान रहती हैं और ज्ञानी इसका कारण विरोधी ताकतों को मानता है। प्रेम मार्ग में भक्त हमेशा

सतगुरू की धार में समाया रहता है। यदि कभी-2 उसका विश्वास खण्डित हो भी जाता है तो उसका आधार भक्ति होने के कारण वह अपने सतगुरू के साथ बहुत ही जल्दी एकता स्थापित कर लेता है तथा उसकी प्रेमधार में एकमएक हो जाता है। इसी प्रेम की दौलत के कारण प्रेमी के लिए विरोधी ताकत, काल व माया का कोई अस्तित्व नहीं होता है। वह सदा-2 सतगुरू की मौज व आनन्द रूप में समाया हुआ अमृतपान करता रहता है।

रामायण में एक प्रसंग आता है जिसमें श्री राम का 14 वर्ष का बनवास पूरा होने के बाद अयोध्या आकर हनुमान अपने स्वामी राम से पूछता है कि हे स्वामी! ज्ञान और भक्ति में कौन बड़ा है? तो श्री राम कहते हैं कि हे हनुमान! ज्ञान एक दीपक की तरह से है जो स्वयं जलाना पड़ता है, उसमें बात्ती, तेल और दीया तीनों का अलग-अलग अस्तित्व होता है, यदि इनमें से एक भी न हो तो दीपक जल नहीं सकता है। जलने के बाद भी उसे हल्की सी आंधी या हवा बुझा सकती है लेकिन भक्ति एक मणि की तरह है जो हर परिस्थिति में अपनी चमक बरकरार रखती है, किसी आंधी या तूफान का उस पर कोई असर नहीं पड़ता है। दूसरा अन्तर यह है कि ज्ञानी अपनी बुद्धि और विवेक से अपनी संभाल स्वयं करता है लेकिन भक्त उस छोटे से बच्चे की तरह होता है जिसे अपनी मां के सिवाय किसी का सहारा नजर नहीं आता है। जिसकी संभाल परमात्मा को स्वयं करनी पड़ती है।

स्वामी विवेकानन्द के पूर्ण साहित्य (The Complete works of Swami Vivekananada) के अध्याय Step to Realization में लिखा गया है कि जब दिल और दिमाग के बीच संघर्ष छिड़ जाए तो हमें दिल का अनुसरण करना चाहिए क्योंकि बुद्धि केवल एक अवस्था में रहती है। वह है बौद्धिक स्तर पर हर कार्य के कारण तक इसकी पहुंच, यह इससे आगे नहीं जा सकती है। केवल हृदय ही मनुष्य को

उच्चतम अनुभव तक पहुंचा सकता है जो कार्य बुद्धि कभी नहीं कर सकती है। बुद्धि की पहुंच कारण तक है लेकिन हृदय कारण (Reason) से भी आगे जाकर अन्तः प्रेरणा बन जाता है। जब हृदय में प्रकाश उतरने लगता है तो यही प्रेरणा का स्रोत बन जाता है। आगे कहते हैं कि चाहे कितने भी विज्ञान के ज्ञाता बने रहो, सारे संसार का ज्ञान भी आत्म-बोध नहीं करा सकता है। यह कार्य केवल शुद्ध हृदय ही कर सकता है।

इसी बात की पुष्टि श्री अरविन्द करते हुए कहते हैं कि हृदय की गहराई में स्थित चैत्य पुरूष (Psychic Being) या अन्तर्मन के द्वारा ही अतिमानसीकरण (Superamentalisation) के अनुभव को व रूपान्तरण के कार्य को सच्चाई के साथ पूर्ण किया जा सकता है। यह कार्य मानसिक चेतना या आध्यात्मिक चेतना व उर्ध्वमन के स्तर से पूर्णता के साथ नहीं हो सकता है।

स्वामी विवेकानन्द इसी पुस्तक के अध्याय (Vedanta and Privilege) में कहते हैं कि प्रेम से विश्व निकलकर आता है, प्रेम में रहता है और वापिस प्रेम में ही समा जाता है। भक्ति योग के बारे में वे पूर्ण साहित्य के भाग दो के अध्याय The Ideal of a Universal Religion में कहते हैं, ''जो मनुष्य भावात्मक स्वभाव के होते हैं वे प्रेमी होते हैं और भक्ति योग का रास्ता अपनाते हैं। संसार के जितने भी महान आध्यात्मिक पुरूष हुए हैं वे सभी इसी रास्ते की देन हैं। कोई भी सम्प्रदाय जिसने इससे दूसरा रास्ता अपनाया उसको समय ने बुरी तरह से नष्ट कर दिया। बिना इसके कोई भी धर्म रूखा है, वहां हठधर्मी है। संसार इस बात का साक्षात गवाह है। ऐसे लोगों पर घृणायुक्त मुस्कान मत फेंको। मैंने अपने सारे जीवन में जितने भी आध्यात्मिक प्रतिभा सम्पन्न पुरूष देखे हैं वे सभी इसी रास्ते की देन हैं और मैं अपने आपको उनके चरणों में बैठने के भी योग्य नहीं समझता हूं। तुम्हें हमेशा दिमाग में रखना चाहिए कि ऐसे मनुष्य सत्य की बंधी हुई आदर्श परिभाषाओं

की परवाह नहीं करते हैं। परमात्मा उनके लिए लचीली वस्तु है, जिसे वे अनुभव करते हैं, सुनते हैं, देखते हैं और उससे प्यार करते हैं। ये मनुष्य आदर्शवादियों को सिखाते हैं कि प्यार कैसे किया जाता है। ये बिना किसी इच्छा के परमात्मा से प्यार करते हैं क्योंकि इन्हें ऐसा करना अच्छा लगता है। वे ऐसा किसी स्वर्ग, बच्चे या दौलत को प्राप्त करने के लिए नहीं करते हैं। ये उन्हें सिखाते हैं कि प्रेम अपनी उच्चतम अवस्था में खुद परमात्मा है। जहां भी प्रेम है वहीं परमात्मा है। यही परमात्मा प्रेम पुरूष बनकर हर जगह व्याप्त है।'' ओशो प्रेम के बारे में कहते हैं, ''प्रेम के आसपास सारी यात्रा है। प्रेम उपलिब्ध है और प्रेम ही प्रस्थान है। प्रेम ही पहला कदम है और प्रेम ही अंतिम मंजिल।'' लाओत्से प्रेम को अपने जीवन का सबसे बड़ा खजाना बताते हैं। जीसस कहते हैं, ''प्रेम करो, प्रेम से ही ईश्वर को जाना जा सकता है क्योंकि प्रेम ही ईश्वर है।'' श्री अरविन्द भी सारी सृष्टि को प्रेम की ही अभिव्यक्ति मानते हैं। प्रेम को ही समस्त ज्ञान और कर्मों का आदि स्रोत मानते हैं।

अत: प्रेम ही मनुष्य का व्यावहारिक धर्म है जो शाश्वत धर्म तक जाने का मार्ग प्रशस्त करता है। पौधे, पक्षी व पशु शास्त्रीय ज्ञान को नहीं सुनते बल्कि प्रेम की नजरों को पहचानते हैं। इसलिए सच्चा धर्म वही धर्म हो सकता है जो प्रेम की भाषा को समझता है और प्रेम की ही व्याख्या करता है क्योंकि प्रेम सृष्टि के हर जीव (सजीव या निर्जीव) को जीवन-शक्ति प्रदान करता है।

प्रेम की इसी शक्ति के कारण रचना का एक कण दूसरे कण से लिपटा हुआ है, एक अस्तित्व दुसरे अस्तित्व के चारों ओर चक्कर काट रहा है। एक वस्तु दुसरी वस्तु की तरफ अनायास ही खिंची जा रही है। एक मनुष्य दुसरे मनुष्य के साथ रिश्तों की डोर से बंधा हुआ है। मनुष्य, पशु, पौधे इत्यादि इस पृथ्वी से बंधे हुए अपनी जड़ों का पोषण कर रहे हैं। पृथ्वी सुर्य की परिक्रमा कर रही है और सूर्य किसी दुसरे

सौरमण्डल का भ्रमण करता हुआ किसी आकाशगंगा का समन्वित अंग हुआ जा रहा है तथा एक आकाशगंगा दूसरी आकाशगंगा की परिधि का चक्कर काट रही है। यहां सभी कुछ तो एक दुसरे के साथ बंधा हुआ है और इतनी गति से घूम रहा है कि प्रकाश की गति भी फीकी पड़ जाए। यह खिंचाव और जोड़ की शक्ति प्रेम की ही तो अभिव्यक्ति है और इस शक्ति के अन्दर ज्ञान व कर्म के सभी स्रोत सुषुप्ति के अंधकार में पड़े हुए राख में दबे हुए अंगारे की तरह निद्रामग्न हैं और जागने के लिए समय की हवा का चिरकाल से इन्तजार करते रहते हैं ताकि सृष्टियों का सृजन किया जा सके और जीवनधारा का प्रस्फूटन हो सके तथा जीवन का बीज नित नई ताजगी के साथ अपना बजूद बना कर रख सके।

प्रेम ही वह संजीवनी बूटी है जो जाति-पाति, धर्म-सम्प्रदाय और देश-देशान्तर के अन्तर को पाटने में सक्षम है। सच्चा प्रेम यह कभी नहीं देखता कि जिस व्यक्ति की मदद करनी है वह ब्राह्मण है या शुद्र, हिन्दू है या मुसलमान। प्रेम तो बस अपनी मस्ती में बहने का नाम है जो कभी कुछ मांगता नहीं बल्कि स्वयं को न्यौछावर करता चलता है और दूसरे को अपने बड़पन का अहसास तक नहीं होने देता। प्रेम किसी को सुधारने की चेष्टा नहीं करता, न ही अपेक्षा करता है लेकिन प्रेम बड़े सुधार पैदा करता है। अहिंसक क्रांति का बीज केवल प्रेम की भुमि से पैदा होता है। अत: प्रेम की आत्मा में जाए बिना किसी भी छोटे से छोटे और बड़े से बड़े अस्तित्व की गहराई में छिपे जीवन के रहस्यों को उघाड़ना मुश्किल ही नहीं बल्कि असम्भव है। ज्ञान व कर्म की श्रेष्ठता और चित्त की सरलता प्रेम को तराशने का कार्य करती है। इसलिए प्रेम को सच्चे अर्थों में समझने के लिए चित्त में बोध का दीया और कर्म की व्यावहारिक भूमि का होना भी अति आवश्यक है लेकिन एक सच्चे प्रेमी के अन्दर ये चीजें स्वयं ही पैदा हो जाती है क्योंकि प्रेम ही इन सबका स्त्रोत है।

राधास्वामी।

अनुक्रमणिका

अक्षर पुरूष 47-49, 57, 151, 301, 307, 345, 361
अगम लोक 241-42, 255-84, 317, 353
अद्वैत दर्शन 25-28, 53, 121, 127, 134, 139
अधूरा/पूरा गुरू 378-82
अनाहत नाद/शब्द 37, 57-67, 79-81 118, 138, 142-43, 156, 180, 186, 192, 197-98, 201, 204, 207-08, 210, 219, 224, 234-35, 238, 242-49, 260-61, 271-76, 282, 350, 354, 371-72
अनेकांतवाद/स्यादवाद 36-37
अन्तगति/शरीर त्याग 134, 166,176-78, 181
अपराविद्या/अविद्या/माया/योगमाया 26, 99-101, 105, 119,127, 129, 137-39, 146-47, 149, 160, 175, 186, 190, 201-02, 205, 209, 218, 228, 230, 282, 289-91, 306, 309-10 334, 341, 360, 367, 375, 384-85, 387
अभ्यास के विघ्न 131-32, 166, 184, 190, 238-39, 253, 311-13, 320, 324, 328-42, 372-74, 379
अभ्यास में मन का भटकना 336-39
अर्मी रस 194, 209, 226-27, 231-32, 234, 253, 268, 317, 354
अर्धनारीश्वर 84, 259
अलख लोक 240-54, 261, 270-72, 282, 317, 353
अवतारवाद 53, 65, 190, 226, 309
अहंकार 369-72, 383-84
अष्टांग योग/मार्ग 11, 19, 30, 31, 87, 88, 19-21, 208, 290, 338
आज्ञा चक्र 28, 48, 63, 67, 83, 98, 112, 116-140, 175-76, 179, 181, 185, 188, 201, 208, 223, 240, 245, 252, 255, 278, 280, 282, 291, 333, 338, 350-52, 357, 375
आत्मा का पूर्ण दर्शन 247-51, 259-73, 276-78, 282-84, 290, 353-55
आनंद ब्रह्म 153, 167
आर्य समाज 21, 360

आलयविज्ञान 35
आवागमन 146,149, 176-79, 202, 221, 299-301, 317, 359, 363
इन्लाटंड 32
इस्लाम 42-46
ईसाई धर्म 35, 37-42, 57
उत्पत्ति-प्रलय 124, 129-31, 180-184, 203, 205, 294, 305
उद्गीत 37, 57, 59, 79, 119
उपनिषद दर्शन 14-16, 57-58, 281, 350
ओशो दर्शन 67, 139, 280-81, 291, 350, 389
ओंकार/ओ३म 50, 57, 59, 61, 150-51, 154, 156 160-75, 209, 223, 227, 242, 255, 266, 280-81, 317, 352
कर्तव्यपरायणता 323-25
कर्मयोग 53, 65, 153, 283, 304, 323-24, 375
कलमा 37, 58, 79-80, 120
कुण्डलीनी/सर्पिणी 66, 75, 77, 82-85, 113, 121, 125 208, 252, 259, 280-81, 283, 294
कैवल्यपद 11, 20, 122, 137, 139, 175, 290, 293, 350
कोष 27, 106, 189, 203, 204, 260, 317-18
क्षर पुरूष 47-49, 54, 149
गीता दर्शन 47-51, 119, 218, 300, 301, 304, 306, 331, 367, 377
ज्ञान योग 53, 65, 153, 283, 307, 326, 352, 369-90
चेतना/सुरत का आरोह-अवरोह 148, 180-84, 212, 242
चेतना/सुरत का सिमटाव 180,185-89, 193-99, 205, 209-11, 224-27 230-32, 334-38, 243-46, 249-53, 260, 267-71, 276-77
चैत्य/हृदय पुरूष 52, 127, 138-39, 149, 153, 176, 187, 307, 350, 358, 388
चौरासी लाख योनि 161, 176-78
जीते-जी-मरना 125, 160, 187, 245, 268, 291, 323
जैन दर्शन 33-37, 129, 139, 350
ज्योति-निरंजन 120, 147, 158, 175, 208, 227, 242, 255, 351, 377
डार्क मिस्ट्री आफ सोल 41-42, 157

तीन ताप 122, 289-90
तीर्थ-व्रत/देवी-देवता 299-301, 304, 325-26, 331-32, 334-35, 347
तुरीय पद 27, 63, 175, 350-51
त्रिकुटी 85-86, 120, 154-55, 160-75, 209-10, 223, 240, 243, 255, 258-59, 266, 268, 275, 352
त्रिविध दु:ख/ताप 18, 122, 289-90
त्रिवेणी/अमृतसरोवर 166, 194, 197-99, 269, 303, 317, 328
दस-अवतार 182-84
दसवां द्वार 79, 179-80, 196, 209, 268, 352
दिव्य-चक्षु 29, 32, 34, 41, 120, 128, 139, 175, 291, 350
ध्यान/स्वप्न में गुरू दर्शन 364-68
निज-स्वरूप प्राप्ति 247-48, 255-84 288, 309, 350, 353 355
निराकार उपासना 356-64
निर्जरा 36, 290
निर्वाण 29, 42, 55, 79, 88, 99, 137, 175, 281, 291, 350, 357
न्याय-वैशेशिक 22-23, 127, 139
परब्रह्म 27, 49-50, 59, 63, 176, 182, 197, 219, 223, 240, 255, 259, 307, 309, 352, 368
परमार्थ व स्वार्थ 301-303, 306-309, 330, 333, 337
पराप्रकृति/परामाया/पराशक्ति 146, 148-51, 156-59, 168, 175, 179, 200, 202, 205, 253
परोपकार/समाज सुधार 301-303, 306-309
पुतली पलटना 243-47, 270-72, 276, 354, 371
पुनर्जन्म 176-179
पुरूष-प्रकृति 28, 47-51, 121, 144, 148, 151, 153, 161-62, 177-79, 202, 290, 293, 300, 319, 349, 353, 361-63, 376
पुरूषोतम 47, 49, 51, 55, 151-52, 154, 171, 307, 352, 377
पंचामृत 226
पांच क्लेश 289, 291
प्रणव पुरूष 50, 57, 119, 156
प्रलय/महाप्रलय 148, 155-56, 176, 180-82, 201-203, 205, 221, 304, 307, 318, 352-53, 360
प्रवृतिविज्ञान 35
प्राज्ञ 221, 292, 294, 351-352
प्राणायाम 19, 66, 82, 84, 85, 87,124, 252
बीन का लहरा (शब्द-धुन) 156, 242-49, 267, 270, 279, 283
बौद्ध दर्शन 29-32, 128-29, 139 350
ब्रह्मचर्य 322-23
ब्रह्मण्डी मन 52, 55
ब्रह्मरेन्द्र 84, 208, 350
भक्ति योग 52, 65, 152-53, 171, 283, 307, 326, 351, 357-59, 369-90
भक्ति-ज्ञान-कर्म 375-378
भंवर गुफा 120, 207-220, 240, 260, 267, 269, 282, 352-53, 384
महासुन्न 179, 199-206, 240, 258-59, 266, 281
मातृ-शक्ति 150
मानसरोवर 199, 269
मीमांस दर्शन 23-25
मुक्ति/मोक्ष 29, 34, 36, 79, 82, 99, 104, 146, 175, 189, 194, 208, 223, 241, 269, 309-10, 357, 362, 379-80
मूर्ति पूजा 192, 212, 304, 325, 346-49
मृत्यु का अनुभव 244-45, 268, 272
योग दर्शन 19-20, 122, 127-28 312, 331, 358, 361-62
राधास्वामी शब्द-धुन 263-67, 272-76, 278, 283, 353-54
रिद्धि-सिद्धि 30, 34, 188, 282, 330-336, 359, 385
रूपांतरण 51, 55, 63-65, 146, 153, 167-68, 194, 200, 209, 211-19, 226, 246, 252, 260, 262, 309, 333, 386
लब्धि/उपयोग 34, 35, 42, 129, 137, 139
विरह/वियोग 142, 157, 184, 302, 365-67, 383-87
विराट/विश्व स्वरूप 12, 13, 48, 63, 147, 150, 158, 259, 297, 326, 345, 350-51, 359
विरोधी शक्तियां 142, 157, 184, 302, 365-67, 383-87
विवेकख्याति प्राप्ति 20, 28, 122, 139 175, 290, 293, 362
विशिष्ट अद्वैत दर्शन 39, 53
वैदिक दर्शन 11-13

शब्द-धुन 57, 58, 63, 80, 98, 118-19, 125-26, 147, 152, 156, 164-65, 168, 186, 192, 201, 209-10, 228, 230, 241-43, 247, 249, 260, 262-69, 271-76, 278, 282-83
शब्द-भेदी/शब्द-स्वरूपी सतगुरू 64-65, 81-82, 100, 155, 192, 205, 208-09, 212, 217, 233, 253, 267, 352, 367, 378
शरीर के चक्र/मण्डल 8-9, 62-63, 76-77, 82-84, 101, 112-116, 171, 208, 224-25, 240-41, 281, 287
शिव नेत्र/तीसरा नेत्र 28, 35, 83, 118, 120, 128, 175-76, 223, 281, 291, 333, 338, 350
शुद्ध अन्न का प्रभाव 314-16
शुद्ध विचार 316-22, 324
शून्य की आवाज 58, 67, 280, 282 312
शून्यावस्था/लय मण्डल 99, 129, 139 151, 155, 160, 162, 172-73, 175-76, 179, 185, 201, 234-35, 238, 241-42, 249, 251-52, 260-61, 266-68, 270, 281, 291, 308, 350-51, 383
श्री अरविन्द योग/ समग्र योग 51-57, 63-64, 139, 143, 146, 148-54, 156, 167-68, 218, 223, 282, 291, 326, 351-52, 377, 388
अतिमन 51, 55, 150, 151-52, 154, 167, 223, 309, 352
अतिमानसिक चेतना 28, 51
अतिमानसिक शब्द/लोगोस 55-56, 58, 168
अतिमानसीकरण 51, 55, 152, 167, 388
अन्तर्मन 51, 55, 138, 338
अन्तर्मानसिक चेतना 51, 167, 326
अक्षर पुरूष 47-49, 57, 151, 301, 307, 345, 361
उर्ध्वमन 52, 55, 138, 143, 146, 149, 163, 309, 351
क्षर पुरूष 47-49, 54, 149

चैत्य पुरूष 52, 127, 138-39, 149, 153, 176, 187, 307, 350, 358, 388
पुरूषोतम 47, 49, 51, 55, 151-52, 154, 171, 307, 352, 377
रूपांतरण 51-55, 63-65, 146, 153, 167-68, 194, 200, 209, 211-19, 226, 246, 252, 260, 262, 309, 333, 386
सगुण ब्रह्म 26, 27
सच्चिदानंद 55, 104, 119,131-36 146, 208, 301
सतगुरू प्रेम 141-42, 174, 186, 191, 200, 209, 238, 244-45, 260, 271, 311-13, 326-31, 337-42, 350, 357-59, 364-67, 369, 374-90
सतगुरू में अभाव 328-30, 336
सतलोक/सच्चखण्ड 63, 65, 71, 100, 120, 125, 131, 162, 171, 173, 179-80, 192, 201-02, 205, 208, 213, 219, 221-39, 240, 251-53, 256, 258, 260-61, 266-70, 275, 283, 308, 353, 371, 377
सबल ब्रह्म 26, 27
समपर्ण 326-27, 333, 336, 385
समाधि 19, 82, 139, 208, 215, 219, 224, 249, 253, 259-66, 291, 293, 312, 338, 354, 358, 370
असम्प्रज्ञात समाधि 20, 22, 27, 35, 42, 63, 67, 100, 122, 127-28, 137, 139, 162, 173, 175, 224, 278, 293, 350-51, 354, 362
धर्ममेघ समाधि 122, 358
निर्बीज समाधि 20, 35, 63, 100, 122, 137, 173, 175, 224, 293, 350, 362
निर्विकल्प समाधि 27, 28, 35, 42, 63, 100, 128, 137, 162, 173, 175, 224, 278, 291, 293, 350-51, 354, 362
सबीज समाधि 20, 121, 175, 290, 293, 350, 362
सम्प्रज्ञात समाधि 20, 22, 27, 35, 41, 67, 121, 127-28,

139, 175, 350, 362
सम्यक (पूर्ण) समाधि247-51, 259-73, 276-78, 282-84, 290, 353-55
सविकल्प समाधि 27, 35, 41, 128 175, 293
षड्दर्शन समाधि 118-29, 137-39, 350
सतगुरू के भिन्न-2 रूप 349-56, 365-68
सहस्रार/सहस्रदलकंवल 28, 49, 55, 63, 83-84, 123, 137, 140-59, 162,175-76 188, 201, 208, 210, 223-24, 240, 243, 245, 258-59,281-82 290-91, 350-52, 356, 359, 361, 377
साकार दर्शन 190-94, 219, 227, 235-36, 330-336, 343-68
सुन्न/सुन्न मण्डल 175-98, 200, 209-10, 240,268-69 282, 352
सुरत-शब्द योग 1, 9, 10, 32, 57-67, 77, 84, 89, 91, 101, 104, 112, 118, 120, 124, 128, 137, 147, 162, 164, 175, 179, 212, 223, 234, 240, 242, 262-63, 265, 272, 282, 284, 291, 299, 301, 325-26, 330, 350, 352, 354, 359, 363, 376, 377, 381
सुषुप्ति 27, 35, 48, 71, 124, 129, 136, 155, 200, 205, 214-15, 221-22 259, 285-86, 294, 318
सोहम् 210, 229, 243, 352
संबोधि प्राप्ति 32
सवंर 36, 290
स्मरण 75-81, 155, 191, 238, 254, 330, 337
सांख्य दर्शन 16-19, 123, 127-28, 161, 290, 350, 362-63
मूल प्रकृति 42, 63, 121, 123, 136, 139, 161, 308, 351
हठयोग 16, 121, 123, 283
हिरणयगर्भ 12, 259, 345, 351